॥ श्रीः ॥

हठयोगप्रदीपिका

संस्कृतटीकया, भाषाटीकया च समेता ।

मुद्रक व प्रकाशक—

खेमराज श्रीकृष्णदास,

अध्यक्षः-"श्रीवेंकटेश्वर" स्टीम्-प्रेस, बम्बई.

संवत् २००९.

T

॥ श्रीः ॥

हठयोगप्रदीपिका ।

सहजानन्दसंतानचिन्तामणि-
स्वात्मारामयोगीन्द्रविरचिता ।

श्रीयुतब्रह्मानन्दविरचितज्योत्स्नाभिध-
संस्कृतटीकया,
लाँखग्रामनिवासिपंडितमिहिरचन्द्रकृत-
भाषाटीकया च समेता ।

सेयं
क्षेमराज-श्रीकृष्णदासश्रेष्ठिना
मुम्बय्यां
स्वकीये 'श्रीवेङ्कटेश्वर' (स्टीम्) मुद्रणयन्त्रालये
मुद्रयित्वा प्रकाशिता ।

संवत् २००९ शके १८७४.

प्रस्तावना.

देखो ! इस असारसंसारसे मोक्षके अर्थ तथा सर्व मनोगत अभीष्ट सिद्धिद योगविषयमें हठविद्या है जो प्राणियोंके हितार्थ योगिराज शिवजीने पार्वतीके प्रति महाकाल योगशास्त्रमें वर्णन की है, उसी हठविद्याका सेवन करके ब्रह्माजी ब्रह्मपदको प्राप्त हुए हैं, श्रीकृष्णचन्द्रजीने गीतामें अर्जुनको और श्रीमद्भागवतमें उद्धवको उपदेश किया है। प्रायः ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नारद, याज्ञवल्क्य इन सभीने इसका सेवन किया है. मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथजीने प्रथम शिवजीसे हठयोग श्रवण किया, इन्हीं गोरखनाथजीकी कृपासे स्वात्मारामयोगीन्द्रने सर्व मुमुक्षुओंके मोक्षप्राप्त्यर्थ "हठयोगप्रदीपिका" नामक ग्रन्थ चार उपदेशोंमें रचित किया, प्रथमोपदेशमें यम, नियम सहित हठका प्रथमभाग आसन, द्वितीयोपदेशमें प्राणायामप्रकरण, तृतीयोपदेशमें मुद्राप्रकरण, चतुर्थोपदेशमें प्रत्याहारादिरूप समाधिक्रम वर्णन किये हैं, उक्त ग्रन्थ "ज्योत्स्ना" नामक संस्कृतटीका सहित तथा सर्व मुमुक्षुओंके लाभार्थ हमने पं. मिहिरचन्द्रजीके द्वारा याथातथ्य भाषाटीका भी कराकर स्वच्छतापूर्वक छापके प्रकाशित किया है।

आशा है कि, सर्वसज्जन इसके द्वारा हठयोगका रहस्य जानकर लाभ उठावेंगे और हमारे परिश्रमको सफल करेंगे।

आपका कृपाकांक्षी—

खेमराज श्रीकृष्णदास,

अध्यक्ष "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम-प्रेस-मुम्बई.

T

अथ हठयोगप्रदीपिकाविषयानुक्रमणिका।

द्वितीयोपदेशः २.

विषय.	श्लोक.	पृष्ठ.

चतुर्थोपदेशः ४.

रेण सर्वथानादृतत्वाच्च लाघवातिशय इति सुधियो विभावयंतु । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु । प्रार्थनायां लोट् । तस्मै कस्मै इत्यपेक्षायामाह—येनेति । येन आदिनाथेन उपदिष्टा गिरिजायै हठयोगविद्या हश्च ठश्च हठौ सूर्यचंद्रौ तयोर्योगो हठयोगः । एतेन हठशब्दवाच्ययोः सूर्यचंद्राख्ययोः प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामो हठयोग इति हठयोगस्य लक्षणं सिद्धम् । तथा चोक्तं गोरक्षनाथेन सिद्धसिद्धांतपद्धतौ— "हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चंद्र उच्यते । सूर्याचंद्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते॥" इति । तत्प्रतिपादिका विद्या हठयोगविद्या हठयोगशास्त्रमिति यावत् । गिरिजायै आदिनाथकृतो हठविद्योपदेशो महाकालयोगशास्त्रादौ प्रसिद्धः । प्रकर्षेण उन्नतःप्रोन्नतःमंत्रयोगहठयोगादीनामधरभूमीनामुत्तरभूमित्वाद्राजयोगस्य प्रोन्नतत्वम् । राजयोगश्च सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणोऽसंप्रज्ञातयोगः । तमिच्छोर्मुमुक्षोरधिरोहिणीव अविरुद्धतेऽनयेत्यधिरोहिणी निःश्रेणीव विभ्राजते विशेषेण भ्राजते शोभते । यथा प्रोन्नतसौधमारोढुमिच्छोरधिरोहिण्यनायासेन सौधप्रापिका भवति एवं हठदीपिकापि प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरनायासेन राजयोगप्रापिका भवतीति । उपमालंकारः । इंद्रवज्राख्यं वृत्तम् ॥ १ ॥

नत्वा साम्बं ब्रह्मरूपं भाषायां योगबोधिका ॥
मया मिहिरचंद्रेण तन्यते हठदीपिका ॥ १ ॥

मोक्षके अभिलाषी जनोंके हितार्थ राजयोगकेद्वारा मोक्ष है फल जिसका ऐसी हठयोगप्रदीपिकाको रचतेहुए परमदयालु स्वात्माराम योगीन्द्र ग्रंथमें विघ्ननिवृत्तिके लिये हठयोगकी प्रवृत्तिके कर्ता जो श्रीमान् आदिनाथ (शिव) जी हैं उनके नमस्काररूप मंगलको ग्रंथके प्रारंभमें करते हैं कि, श्रीमान् जो आदिनाथ अर्थात् सनातन स्वामी शिवजी हैं उनको नमस्कार हो अथवा श्रीशब्द है आदिमें जिसके ऐसा जो नाथ (विष्णु) वा श्री लक्ष्मीसे युक्त जो नाथ विष्णु हैं उनके अर्थ नमस्कार हो । कदाचित् कहो कि, श्रीआदिनाथाय इस पदमें श्रीशब्दके ईकारको यणूविधायक सूत्रसे यकार क्यों नहीं होता सो ठीक नहीं, क्योंकि छंदके ज्ञाताओंका यह संप्रदाय है कि, चाहे माषके स्थानमें भी मषपदको लिखे परंतु छंदका भंग न करै और उच्चारण करनेमें भी सुगमता है इससे सूत्रसे प्राप्त भी यकार ग्रंथकारने नहीं किया सिद्धांत तो यह है कि, श्रीआदिनाथाय इसपाठकी अपेक्षा श्यादिनाथाय यह पाठ लाघवसे युक्त है क्योंकि आदिनाथाय इस पाठमें व्याकरणके किसी सूत्रकी प्राप्ति नहीं है इससे यह परिनिश्चित (सिद्ध हुआ) है और श्रीआदिनाथाय इस पाठमें 'इकोयणचि' इस सूत्रकी प्राप्तिकी शंका बनी रहती है—और जो दो दृष्टान्त

दिये हैं (साथ मध-उच्चारणमें सुगमता) वे भी ऐसे विषयसे विषम हैं अर्थात् सूत्रकी भ्रान्तिको नहीं हटा सकते और व्याकरणशास्त्रके ज्ञाता साहित्य (छंद) के भंगका जो दोष उसको नहीं मानते-और असंसृष्ट (शास्त्रसे अशुद्ध) विधानरूप दोष यद्यपि साहित्यके रचनेवालोंने कहा है तथापि कहीं २ उन्होंने भी मानाहै-और व्याकरणशास्त्रके आचार्योंने (एकोज्) इस पाठके स्थानमें कर्मधारय समास करके (एकाज्) असंसृष्ट विधानको नहीं माना है-इससे श्रीआदिनाथाय इस पाठमेंही लाघव है इस बातका बुद्धिमान् मनुष्य विचार करें-तात्पर्य यह है कि, उस आदिनाथको नमस्कारहै जिसने पार्वतीके प्रति हठयोगविद्याका उपदेश किया और जिसप्रकार शिवजीने पार्वतीके प्रति हठयोगका उपदेश किया है वह प्रकार महाकाल योगशास्त्रमें प्रसिद्ध है और हठयोगविद्या शब्दका यह अर्थ है कि, ह (सूर्य) ठ (चंद्रमा) इन दोनोंका जो योग (एकता) अर्थात् सूर्य-चंद्रनामक जो प्राण अपान हैं उनकी एकतासे जो प्राणायाम वह हठयोग कहाताहै सोई सिद्धसिद्धांतपद्धतिमें गोरक्षनाथ आचार्यने इस वचनसे कहाहै कि, हकारसे सूर्य और ठकारसे चंद्रमा कहा जाता है सूर्य और चंद्रमाके योगसे हठयोग कहाता है-उस हठयोगका जिससे प्रतिपादन हो उस विद्याको हठयोगविद्या कहते हैं अर्थात् हठयोगशास्त्रका नाम हठयोगविद्या है-और वह हठयोगविद्या सबसे उत्तम जो राजयोग अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका निरोधरूप जो असंप्रज्ञातलक्षण समाधि है उसके अभिलाषी मुमुक्षुको अधिरोहिणी (नसैनी) के समान विराजती है जैसे ऊँचे महलपर विना परिश्रमही नसैनी पहुँचा देती है. इसीप्रकार यह हठयोगविद्याभी सर्वोत्तम राजयोगपर चढनेके लिये मुमुक्षुको अनायाससे राजयोगमें प्राप्त कर देतीहै इस श्लोकमें उपमा अलंकार और इंद्रवज्राछंद है-भावार्थ यह है कि, जिस श्रीआदिनाथ (शिवजी) ने पार्वतीके प्रति वह हठयोगविद्या कही है जो सर्वोत्तम राजयोगपर चढनेके लिये अधिरोहिणीके समान है उस श्रीआदिनाथको नमस्कार हो अर्थात् उसको नपस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना ॥
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥ २ ॥

एवं परमगुरुनमस्कारलक्षणं मंगलं कृत्वा विघ्नबाहुल्ये मंगलबाहुल्यस्यापेक्षितत्वात्स्वगुरुनमस्कारात्मकं मंगलमाचरन्नस्य ग्रन्थस्य विषयप्रयोजनादीन्प्रदर्शयति-प्रणम्येति ॥ श्रीमंतं गुरुं श्रीगुरुं नाथं श्रीगुरुनाथं स्वगुरुमिति यावत् । प्रणम्य प्रकर्षेण भक्तिपूर्वकं नत्वा स्वात्मारामेण योगिना योगोऽस्यास्तीति तेन । केवलं राजयोगाय केवलं राजयोगार्थं हठविद्योपदिश्यत इत्यन्वयः । हठविद्याया राजयोग एव मुख्यं फलं न

सिद्धयें इति कैवल्यपदस्याभिप्रायः । सिद्धयरत्वानुषंगिकयः । एतेन राजयोगफलसहितो हठयोगोऽस्य ग्रंथस्य विषयः । राजयोगद्वारा कैवल्यं चास्य फलम् । तत्कामश्चाधिकारी । ग्रन्थविषययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादक भावः सम्बंधः । ग्रन्थस्य कैवल्यस्य च प्रयोज्यप्रयोजकभावः सम्बंधः । ग्रन्थाभिधेयस्य सफलयोगस्य कैवल्यस्य च साध्यसाधनभावः सम्बंध इत्युक्तम् ॥ २ ॥

भाषार्थ–इसप्रकार परमगुरुको नमस्कार करके अधिक विघ्नोंकी आशंकामें अधिकही मंगलकी अपेक्षा होती है इस अभिप्रायसे अपने गुरुके नमस्काररूप मंगलको करते हुए ग्रंथकार ग्रंथके विषय , संबन्ध, प्रयोजन, अधिकारियोंको दिखाते हैं कि, श्रीमान् जो अपने गुरुनाथ (स्वामी) हैं उनको भक्तिपूर्वक नमस्कार करके स्वात्माराम नामका जो मैं योगी हूँ वह केवल राजयोगकी प्राप्तिके लिये हठविद्याका उपदेश (कथन) करता हूं–अर्थात् हठविद्याका मुख्य फल केवल राजयोगही है सिद्धि नहीं है । क्योंकि सिद्धि तो यत्नके विना प्रसंगसेही होजाती है । इससे यह सूचित किया कि, राजयोगरूप फलसहित हठयोग इस ग्रंथका विषय है और राजयोगद्वारा मोक्ष फल (प्रयोजन) है और फलका अभिलाषी अधिकारी है और ग्रन्थ और विषयका प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध है अर्थात् ग्रंथ विषयका प्रतिपादक है और विषय प्रतिपाद्य है और ग्रंथ और मोक्षका प्रयोज्य प्रयोजकभाव संबंध है क्योंकि ग्रन्थभी हठयोगकेद्वारा मोक्षका कारण है, और ग्रन्थ और अभिधेय (विषय) फल योग और मोक्ष इनका साध्यसाधनभाव संबंध है ये सब बात इस श्लोकमें कही है ।·भावार्थ–यह है कि, मैं स्वात्माराम योगी अपने श्रीगुरुनाथको भलीप्रकार नमस्कार करके केवल राजयोगके लिये हठविद्याका उपदेश करता हूँ ॥ २ ॥

भ्रांत्या बहुमतध्वांते राजयोगमजानताम् ॥
हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ॥ ३ ॥

ननु मंत्रयोगसगुणध्याननिर्गुणध्यानमुद्रादिभिरेव राजयोगसिद्धौ किं हठविद्योपदेशेनेत्याशंक्य व्युत्थितचित्तानां मंत्रयोगादिभी राजयोगासिद्धेर्हठयोगादेव राजयोगसिद्धिं वदन् ग्रंथं प्रतिजानीते–भ्रांत्येति ॥ मंत्रयोगादिबहुमतरूपे ध्वांते गाढांधकारे या भ्रांतिर्भ्रमस्तया । तैस्तैरुपायैराजयोगार्थं प्रवृत्तस्य तत्रतत्र तदलाभात् वक्ष्यति च ' विना राजयोगम्' इत्यादिना । तथा राजयोगम् अजानतां न जानंतीत्यजानंतः तेषाम्

अजानतां पुंसां राजयोगज्ञानमिति शेषः। करोतीति करः कृपायाः करः कृपाकरः। कृपाया आकर इति वा। तादृशः। अनेक हठप्रदीपिकाकरणे अज्ञानुकंपैव हेतुरित्युक्तम्। स्वात्मन्यारमते इति स्वात्मारामः हठस्य हठयोगस्य प्रदीपिकेव प्रकाशकत्वात् हठप्रदीपिका ताम्। अथवा हठ एव प्रदीपिका राजयोगप्रकाशकत्वात्। तां धत्ते विधत्ते करोतीति यावत्। स्वात्माराम इत्यनेन ज्ञानस्य सप्तमभूमिकां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युक्तम्। तथा च श्रुतिः-'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति। सप्त भूमयश्चोक्ता योगवासिष्ठे-'ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता। विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा॥ सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका। पदार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥' इति। अस्यार्थः। शुभेच्छा इत्याख्या यस्याः सा शुभेच्छाख्या। विवेकवैराग्ययुता शमादिपूर्विका तीव्रमुमुक्षा प्रथमा ज्ञानस्य भूमिः भूमिका उदाहृता कथिता योगिभिरिति शेषः १। विचारणा श्रवणमननात्मिका द्वितीया ज्ञानभूमिः स्यात् २। अनेकार्थग्राहकं मनो यदाऽनेकार्थान्परित्यज्य सदेकार्थवृत्तिप्रवाहवद्भवति तदा तनुमानसे यस्यां सा तनुमानसा निदिध्यासनरूपा तृतीया ज्ञानभूमिः स्यादिति शेषः ३। इमास्तिस्रः साधनभूमिकाः। आसु भूमिषु साधक इत्युच्यते। तिसृभिर्भूमिकाभिः शुद्धसत्त्वेऽन्तःकरणेऽहं ब्रह्मास्मीत्याकारिकाऽपरोक्षवृत्तिरूपा सत्त्वापत्तिनामिका चतुर्थी ज्ञानभूमिः स्यात्। चतुर्थीयं फलभूमिः। अस्यां योगी ब्रह्मविदित्युच्यते। इयं संप्रज्ञातयोगभूमिका ४। वक्ष्यमाणास्तिस्रोऽसंप्रज्ञातयोगभूमयः। सत्त्वापत्तेरनंतरा सत्त्वापत्तिसंज्ञिकायां भूमावुपस्थितासु सिद्धिषु असंसक्तस्यासंसक्तिनामिका पंचमी ज्ञानभूमिः स्यात्। अस्यां योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते। एतां भूमिं प्राप्तो ब्रह्मविद्वर इत्युच्यते ५। परब्रह्मातिरिक्तमर्थं न भावयति यस्यां सा पदार्थाभाविनी षष्ठी ज्ञानभूमिःस्यात्। अस्यां योगी परप्रबोधित एव व्युत्थितो भवति। एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरीयानित्युच्यते ६। तुर्यगा नाम सप्तमी भूमिः स्मृता। अस्यां योगी स्वतः परतो वा न व्युत्थानं प्राप्नोति। एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्यु-

च्यते। तत्र प्रमाणभूता श्रुतिरत्रैवोक्ता।'पूर्वमयमेव जीवन्मुक्त इत्युच्यते स एवाऽत्र स्वात्मारामपदेनोक्तः' इत्यलं बहूक्तेन ॥ ३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि, मंत्रयोग सगुणध्यान–निर्गुणध्यान- मुद्रा आदिसेही राजयोग सिद्ध होजायगा हठयोगविद्याके उपदेशका क्या फल है सो ठीक नहीं, क्योंकि जिनका चित्त व्युत्थित (चंचल) है उनको मंत्रयोग आदिसे राजयोगकी सिद्धि नहीं होसकती इससे हठयोगके द्वाराही राजयोगकी सिद्धिको कहते हुये ग्रंथकार ग्रंथके आरंभकी प्रतिज्ञा करते है कि, मंत्रयोग आदि अनेक मतोंका जो गाढ अंधकार उसके विषे भ्रमसे राजयोगको जो नहीं जानते हैं उनको भी राजयोगका ज्ञान जिससे हो ऐसी हठयोगप्रदीपिकाको कृपाके कर्ता (दयालु) स्वात्माराम योगी अर्थात् अपने आत्मामें रमणकर्ता स्वात्माराम करते है अर्थात् हठयोगके प्रकाशक ग्रंथको रचते हैं। अथवा राजयोगके प्रकाशक जो हठ (सूर्य चन्द्र) उनके प्रकाशक ग्रंथको रचते हैं–स्वात्माराम इस पदसे यह सूचित किया है कि, ज्ञानकी सातवी भूमिकाको प्राप्त ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ है सोई इस श्रुतिमें लिखा है कि, आत्मामे है क्रीडा और रमण जिसका ऐसा जो क्रियावान् है वह ब्रह्मज्ञानिओंमें श्रेष्ठ है और सात भूमि योगवासिष्ठमें कही है कि, शुभेच्छा १, विचारणा, २, तनुमानसा, ३, सत्त्वापत्ति ४, असंसक्ति ५, परार्थाभाविनी ५, तुर्यगा ७ ये सात ज्ञानभूमि योगकी हैं इन सातोंमें शुभेच्छा है नाम जिसका और विवेक और वैराग्यसे युक्त और शमदम आदि हैं पूर्व जिसके और तीव्र (प्रबल) है मोक्षकी इच्छा जिसमें ऐसी ज्ञानकी भूमि प्रथम योगीजनोंने कही है १–और श्रवण मनन आदिरूप विचारणा ज्ञानकी दूसरी भूमि होती है २- अनेक विषयोंका ग्राहक मन अनेक विषयोंको त्यागकर एक (ब्रह्म) विषयमें ही वृत्तिके प्रवाहवाला होजाय तनु (सूक्ष्म) है मन जिसमें ऐसी वह निदिध्यासनरूप तनुमानसा नामकी तीसरी भूमि होती है ३ ये तीन साधनभूमि कहाती है इन भूमियोंमें योगी साधक कहाता है। इन तीन भूमियोंसे शुद्ध हुये अंतःकरणमें मैं ब्रह्म हूं यह जो ब्रह्माकार अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) वृत्ति) है वह सत्त्वापत्ति नामकी चौथी भूमि कहाती है ४ इन चारोंसे अगली जो तीन भूमि हैं ये असंप्रज्ञात योगभूमि कहाती हैं– सत्त्वापत्तिके अनंतर इसी सत्त्वापत्ति भूमिमें उपस्थित (प्राप्त) हुई जो सिद्धि है उनमें असंसक्त योगीको असंसक्ति नामकी पांचवीं ज्ञानभूमि होती है। इस भूमिमें योगी स्वयंही व्युत्थित होता (उठता) है वह ब्रह्मज्ञानिओंमें श्रेष्ठ कहाता है। ५ जिसमें परब्रह्मसे भिन्नकी भावना (विचार) न रहे वह परार्थाभाविनी नामकी छठी भूमि होती है–इसमें योगी दूसरेके उठानेसेही उठाता है और ब्रह्मज्ञानियोंमें अत्यंत श्रेष्ठ कहाता है ६–और जिसमें तुरीय पदमें योगी पहुँचजाय वह तुर्यगा नामकी सातवीं ज्ञानभूमि है इसमें योगी स्वयं वा अन्य पुरुषसे नहीं उठता है इसमें प्राप्त हुआ योगी ब्रह्मज्ञानियोंमें अत्यंत श्रेष्ठसेभी

उत्तम कहाता है इसमें प्रमाणरूप यह श्रुतिही कही है कि, पहिली भूमियोंमें इसकोही जीवन्मुक्ति कहते हैं और उसकोही इस सातवीं भूमिमें स्वात्माराम कहते हैं–इसप्रकार अधिक कहनेसे पूर्ण हुये अर्थात् अधिक नहीं कहते हैं। भावार्थ यह है कि, अनेक मतोंके किये हुए अंधकारमें राजयोगको जो नहीं जानसकते उनके लिये दयाके समुद्र स्वात्माराम "हठयोगप्रदीपिका" को करते हैं ॥ ३ ॥

हठविद्यां हि मत्स्येंद्रगोरक्षाद्या विजानते ॥
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः ॥ ४ ॥

महत्सेवितत्वाद्धठविद्यां प्रशंसन्स्वस्यापि महत्सकाशाद्धठविद्यालाभाद्गौरवं द्योतयति–हठविद्यां हीति ॥ हीति प्रसिद्धम्। मत्स्येंद्रश्च गोरक्षश्च तौ आद्यौ येषां ते मत्स्येंद्रगोरक्षाद्याः आद्यशब्देन जालंधरनाथभर्तृहरिगोपीचंद्रप्रभृतयो ग्राह्याः। ते हठविद्यां हठयोगविद्यां विजानते विशेषण साधनलक्षणभेदफलैर्जानंतीत्यर्थः। स्वात्मारामः स्वात्मारामनामा। अथवा शब्दः समुच्चये। योगी योगवान् तत्प्रसादतः गोरक्षप्रसादाज्जानी इत्यन्वयः। परममहता ब्रह्मणापीयं विद्या सेवितेत्यत्र योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिः–'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः। 'इति वक्तृत्वं च मानसव्यापारपूर्वकं भवतीति मानसो व्यापारोऽर्थादागमः। तथा च श्रुतिः–'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' इति। भगवतेयं विद्या भागवतानुद्धवादीन् प्रत्युक्ता। शिवस्तु योगी प्रसिद्ध एव। एवं च सर्वोत्तमैर्ब्रह्मविष्णुशिवैः सेवितेयं विद्या। न च ब्रह्मसूत्रकृता व्यासेन योगी निराकृत इति शंकनीयम्। प्रकृतिस्वातंत्र्यविद्धिभेदांशमात्रस्य निराकरणात्। न तु भावनाविशेषरूपयोगस्य। भावनायाश्च सर्वसंमतत्वात्तां विना सुखस्याप्यसंभवात्। यथोक्तं भगवद्गीतासु 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना। न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥' इति। नारायणतीर्थैरप्युक्तम्– 'स्वातंत्र्यसत्यत्वमुखं प्रधाने सत्यं च चिद्भेदगतं च वाक्यैः। व्यासो निराचष्ट न भावनाख्यं योगं स्वयं निर्मितब्रह्मसूत्रैः ॥ अपि चात्मप्रदं योगं व्याकरोन्मतिमान्स्वयम्। भाष्यादिषु ततस्तत्र आचार्यप्रमुखैर्मतः ॥ मतो

योगो भगवता गीतायामधिकोऽन्यतः । कृतः शुकादिभिस्तस्माद्त्र संतोऽतिसादराः ॥' इति । 'वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् । अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ इति भगवदुक्तेः । किं बहुना 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।' इति वदता भगवता योगजिज्ञासोरप्यौत्कृष्ट्यं वर्णितं किमुत योगिनः । नारदादिभक्तश्रेष्ठैयाज्ञवल्क्यादिज्ञानिमुख्यैश्चास्याः सेवनाद्भक्तज्ञानि-नामप्यविरुद्धेत्युपरम्यते ॥ ४ ॥

भाषार्थ–महान् पुरुषोंके माननेसे हठविद्याकी प्रशंसा करतेहुये ग्रंथकार अपनेकोभी महत्पुरुषोंसेही हठविद्याका लाभ हुआ है इससे अपनाभी गौरव (बडाई) द्योतन करते कि, मत्स्येंद्र और गोरक्ष आदि हठविद्याको निश्चयसे विशेषकर जानते हैं यहां आद्य-शब्दके पढनेसे जालंधरनाथ, भर्तृहरि, गोपीचंद आदि भी जानते हैं यह सूचित किया–अर्थात् साधन, लक्षणभेद, फल इनको भी जानते हैं अथवा स्वात्माराम योगी भी गोरक्ष-आदिके प्रसादसे हठविद्याको जानता है--और सबके परम महान् ब्रह्मानेभी इस विद्याका सेवन किया है इसमें यह योगीयाज्ञवल्क्यकी स्मृति प्रमाण है कि, सबसे पुराने योगके वक्ता हिरण्यगर्भ हैं अन्य नहीं हैं–और कहना तभी होता है जब मानसव्यापार (मनसे विचार) पहिले होचुका हो वह मानसव्यापार आगम (वेद) लेना सोई इस श्रुतिमें लिखा है कि, जिसका मनसे ध्यान करता है उसकोही वाणीसे कहता है–भगवान्ने भी यह विद्या उद्धवआदिभागवतोंके प्रति कही है और शिवजी तो योगी प्रसिद्धही हैं–इससे ब्रह्मा विष्णु शिव इन्होंनेभी इस हठयोग विद्याका सेवन किया है–कदाचित् कहो कि, ब्रह्म-सूत्रोंके कर्ता व्यासने योगका खंडन किया है सो ठीक नहीं. क्योंकि प्रकृतिको स्वतन्त्र मानते हुए उन्होंने भेदरूप आशंकाका ही खंडन किया है कुछ भावना विशेषरूप योगका खंडन नहीं किया है–और भावना तो व्यासको भी इससे संमत है कि, भावनाके विना सुख नहीं हो सकता सोई भगवद्गीतामें कहा जो योगी नहीं है उसको बुद्धि नहीं है और न उसको भावना होती है–और भावनाके विना शांति नहीं होती और शांतिसे योग जिसको नहीं उसको सुख कहांसे होसकता है । नारायणतीर्थोंने भी कहा है कि, स्वतंत्र सत्यता है मुख्य जिसमें ऐसा सत्य जो चेतनाके भेदसे प्रधान (प्रकृति) में प्रतीत होताहै उसका खण्डन वाक्योंसे व्यासजीने किया है कुछ अपने रचेहुए ब्रह्मसूत्रोंसे वर्णन किये भावना नामके योगका खण्डन व्यासजीने नहीं कियाहै। और आत्माके प्रापकयोगका कथन बुद्धिमान् व्यासजीने स्वयं किया है और तिसीसे भाष्य आदिमें आचार्य आदिकोंने माना है और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने गीतामें अधिक योग माना है–और शुकदेव आदिकोंमें भी योगको रचाहै–तिससे इस योगमें बहुत सन्तोंका अत्यन्त आदरहै–और भगवान्ने गीतामेंभी कहाहै कि, वेद-यज्ञ-तप-और दान इनमें जो पुण्य फल कहाहै-उस सबको योगी इस योगको

जानकर लंघन-करताहै-और उत्तम जो सनातनका स्थान (ब्रह्म) है उसको प्राप्त होताहै-और योगकोजाननेका अभिलाषी भी शब्दब्रह्मसे अधिक होताहै यह कहते हुए भगवान्ने योगके जिज्ञासुको भी उत्तम वर्णन किया है-योगी तो उत्तम क्यों न होगा और भक्तोंमें श्रेष्ठनारद आदि मुनियोंमें मुख्य याज्ञवल्क्य आदिकोंने भी इस हठविद्याका सेवन कियाहै इससे भक्त और ज्ञानियोंकाभी इस विद्याके संग कुछ विरोध नहीं-इससे अधिक वर्णन करनेसे उपरामको प्राप्त होते हैं। भावार्थ-यह है कि, मत्स्येन्द्र और गोरक्षनाथ आदि हठविद्याको जानतेहैं और उनकी कृपासे स्वात्माराम योगी (मैं) जानताहूँ ॥ ४ ॥

श्रीआदिनाथमत्स्येंद्रशाबरानंदभैरवाः ॥
चौरंगीमीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ॥ ५ ॥

हठयोगे प्रवृत्तिं जनयितुं हठविद्यया प्राप्तैश्वर्यान्सिद्धानाह-श्रीआदिनाथेत्यादिना ॥ आदिनाथः शिवः सर्वेषां नाथानां प्रथमो नाथः। ततो नाथसंप्रदायः प्रवृत्त इति नाथसंप्रदायिनो वदंति। मत्स्येंद्राख्यश्च आदिनाथशिष्यः। अत्रैवं किंवदंती। कदाचिदादिनाथः कस्मिंश्चिद्द्वीपे स्थितः तत्र विजनमिति मत्वा गिरिजायै योगमुपदिष्टवान्। तीरसमीपनीरस्थः कश्चन मत्स्यः तं योगोपदेशं श्रुत्वा एकाग्रचित्तो निश्चलकायोऽवतस्थे। तं तादृशं दृष्ट्वानेन योगः श्रुत इति तं मत्वा कृपालुरादिनाथो जलेन प्रोक्षितवान्। स च प्रोक्षणमात्राद्दिव्यकायो मत्स्येंद्रः सिद्धोऽभूत्। तमेव मत्स्येंद्रनाथ इति वदंति। शाबरनामा कश्चित्सिद्धः। आनंदभैरवनामान्यः। एतेषामितरेतरद्वंद्वः। छिन्नहस्तपादं पुरुषं हिंदुस्थानभाषायां चौरंगीति वदंति। कदाचिदादिनाथाल्लब्धयोगस्य भुवं पर्यटतो मत्स्येंद्रनाथस्य कृपावलोकनमात्रात्कुत्रचिदरण्ये स्थितश्चौरंग्यंकुरितहस्तपादो बभूव। स च तत्कृपया संजातहस्तपादोऽहमिति मत्वा तत्पादयोः प्रणिपत्य ममानुग्रहं कुर्विति प्रार्थितवान्। मत्स्येंद्रोपि तमनुगृहीतवान् तस्यानुग्रहाच्चौरंगीति प्रसिद्धः सिद्धः सोऽभूत्। मीनो मीननाथः गोरक्षो गोरक्षनाथः विरूपाक्षनामा बिलेशयनामा च चौरंगीप्रभृतीनां द्वंद्वसमासः ॥ ५ ॥

भाषार्थ-अब हठयोगमें श्रोताओंकी प्रवृत्तिके हेतु उन सिद्धोंका वर्णन करते हैं कि, जिनको हठविद्यासे ऐश्वर्य मिलाहै और श्रीआदिनाथ अर्थात् सब नाथोंमें प्रथम शिवजी, शिवजीसेही नाथसंप्रदाय चलाहै। यह नाथसंप्रदायी लोग कहतेहैं-और उनके शिष्य मत्स्येन्द्र-यहां यह इतिहास है किसी समयमें आदिनाथ किसी द्वीपमें स्थित थे वहां

जनरहित देश समझकर पार्वतीके प्रतियोगका उपदेश करतेथे तीरके समीर जलमें टिका हुआ कोई मत्स्य उस योगोपदेशको सुनकर एकाग्रचित्त होकर निश्चल देह टिकताभया। निश्चलकाय उस मत्स्यको देखकर और इसने योगका श्रवण किया यह मानकर कृपालु आदिनाथजीने उसके ऊपर जलका सिंचन किया प्रोक्षण करनेसेही वह मत्स्येन्द्र सिद्ध होगया उसकोही मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं और शाबर नामका सिद्ध और आनंदभैरव और चौरंगी सिद्ध किसी समय आदिनाथसे मिलाहै योग जिनको ऐसे योगेन्द्रनाथ भूमिमें रटतेथे उन्होंने कृपासे किसी वनमें टिकेहुए चौरंगीको देखा उनके देखनेसेही चौरंगीके हाथ और पाद जम आये क्योंकि हिंदुस्थानकी भाषामें जिसके हाथ पैर कटजांय उसे चौरंगी कहते हैं वह चौरंगी इन्हींकी कृपासे मेरे हाथ पैर हुए यह मानकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके यह प्रार्थना करता भया कि, मेरे ऊपर अनुग्रह करो। मत्स्येन्द्रने भी उसके ऊपर अनुग्रह किया उससे वह चौरंगी नामका सिद्ध प्रसिद्ध भया। और मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्षनाथ, विलेशयनाथ ये सिद्ध हठयोगविद्याके हुए और ॥ ५ ॥

मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कंथडिः ॥
कोरंटकः सुरानंदः सिद्धिपादश्च चर्पटिः ॥६॥
कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरंजनः ॥
कपाली बिंदुनाथश्च काकचंडीश्वराह्वयः ॥७॥
अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडा चोली च टिंटिणिः ॥
भानुकी नारदेवश्च खंडः कापालिकस्तथा ॥८॥
इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ॥
खंडयित्वा कालदंडं ब्रह्मांडे विचरंति ते ॥९॥

मन्थान इति ॥ मंथानः भैरवः योगीति मंथानप्रभृतीनां सर्वेषां विशेषणम् ॥६॥ कानेरीति ॥ काकचंडीश्वर इत्याह्वयो नाम यस्य स तथा अन्ये स्पष्टाः ॥ ७ ॥ अल्लाम इति ॥ तथाशब्दः समुच्चये ॥८॥ इत्यादय इति पूर्वोक्ता आदयो येषां ते तथा। आदिशब्देन तारानाथादयो ग्राह्याः। महांतश्च ते सिद्धाश्च अप्रतिहतैश्वर्या इत्यर्थः। हठयोगस्य प्रभावात्सामर्थ्यादिति हठयोगप्रभावतः। पंचम्यास्तसिल्। कालो मृत्युः तस्य दंडनं

दंडःदेहप्राणवियोगानुकूलो व्यापारःतं खंडयित्वा छित्वा। मृत्युं जित्वेत्यर्थः। ब्रह्मांडमध्ये विचरंति विशेषेणाव्याहतगत्या चरंतीत्यर्थः। तदुक्तं भागवते-'योगेश्वराणां गतिमाहुरंतर्बहिस्त्रिलोक्याःपवनांतरात्मनाम्'इति९

भाषार्थ--मन्थान-भैरव-सिद्धि-बुद्ध-कन्थडि-कोरंटक सुरानन्द-सिद्ध-पाद-चर्पटी-कानेरी-पूज्यपाद-नित्यनाथ-निरंजन-कपालि,विन्दुनाथ--काकचण्डीश्वर--अल्लाम--प्रभु--देव- घोडा-चोली-टिटिणि-भानुकी,नारदेव-खण्ड-कापालिक ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ इत्यादि पूर्वोक्त महासिद्ध यहां आदिपदसे तारानाथ आदि लेने हठयोगके प्रभावसे कालके दण्डको खण्डन करके अर्थात् देह और प्राण वियोगके जनक मृत्युको जीतकर ब्रह्मांडके मध्यमें विचरते हैं अर्थात् अपनी इच्छाके अनुसार ब्रह्मांडमें चाहे जहां जा सकते हैं सोई भागवतमें इस वचनसे कहाहै कि, पवनके मध्यमें हैं मन जिनका ऐसे योगीश्वरोंकी गति त्रिलोकीके भीतर और बाहर होती है ॥ ९ ॥

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः ॥
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ॥ १० ॥

हठस्याशेषतापनाशकत्वमशेषयोगसाधकत्वं च मठकमठरूपकेणाह अशेषेति ॥ अशेषाः आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन त्रिविधाः। तत्राध्यात्मिकं द्विविधम्। शारीरं मानसं च। तत्र शारीरं दुःखं व्याधिजं मानसं दुःखं कामादिजम्। आधिभौतिकं व्याघ्रसर्पादिजनितम् आधिदैविकं ग्रहादिजनितम्। ते च ते तापाश्च तैस्तप्तानां संतप्तानां पुंसां हठो हठयोगः सम्यगाश्रीयत इति समाश्रयः आश्रयः आश्रयभूतो मठः मठ एव। तथा हठः अशेषयोगयुक्तानां अशेषयोगयुक्ताः मंत्रयोगकर्मयोगादियुक्तास्तेषामाधारभूतः कमठः एवम्। त्रिविधतापतप्तानां पुंसाम् आश्रयो हठः। यथा च विश्वाधारः कमठः एवं निखिलयोगिनामाधारो हठ इत्यर्थः ॥ १० ॥

भाषार्थ--अब हठयोगको संपूर्ण तापोंका नाशक और संपूर्ण योगोंका साधक मठ कमठ-रूपसे वर्णन करते हैं कि, सम्पूर्ण आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक तीन प्रकारके ताप उनसे तपायमान मनुष्योंको हठयोग समाश्रय मठ (रहनेका घर) रूप है । उन तापोंमें आध्यात्मिक ताप दोप्रकारका है-शारीर और मानस । उनमें शरीरका दुःख व्याधिसे होताहै और मनका दुःख काम आदिसे होताहै और व्याघ्र सर्प आदिसे उत्पन्न हुये दुःखको आधिभौतिक कहतेहै और सूर्य आदि ग्रहोंसे उत्पन्न हुये दुःखको आधिदैविक कहते हैं

इन तीन प्रकारके तापोंसे तप्त मनुष्योंको हठयोग इसप्रकार सुखदायी है। जैसे सूर्यसे तपायमान मनुष्योंको घर होताहै और अशेष (सम्पूर्ण) योगोंसे युक्त जो पुरुष है उनका आधार इसप्रकार हठयोग है जैसे सम्पूर्ण जगत्का आधार कमठ है अर्थात् कच्छपरूप भगवान्रूप है। भावार्थ यह है कि, सम्पूर्ण तापोंसे तपायमान मनुष्योंका आश्रय मठरूप और सम्पूर्ण योगियोंका आधार (आश्रय) कमठरूप हठयोग है ॥ १० ॥

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ॥
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ॥ ११ ॥

अथाखिलविद्यापेक्षया हठविद्याया अतिगोप्यत्वमाह—हठविद्येति ॥ सिद्धिमणिमाद्यैश्वर्यमिच्छता यद्वा सिद्धिं कैवल्यसिद्धिमिच्छता वाञ्छता योगिना हठयोगविद्या परमत्यंतं गोप्या गोपनीया गोपनार्हास्तीति । तत्र हेतुमाह—यतो गुप्ता हठविद्या वीर्यवत्यप्रतिहतैश्वर्यजननसमर्था स्यात् । कैवल्यजननसमर्था कैवल्यसिद्धिजननसमर्था वा स्यात् । अथ योगाधिकारी । 'जिताक्षाय शांताय सक्ताय मुक्तौ विहीनाय दोषैरसक्ताय मुक्तौ । अहीनाय दोषेतरैरुक्तकर्त्रे प्रदेयो न देयो हठश्चेतरस्मै ॥ याज्ञवल्क्यः—'विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः । यमैश्च नियमैर्युक्तः सर्वसंगविवर्जितः ॥ कृतविद्यो जितक्रोधः सत्यधर्मपरायणः । गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपरायणः॥ स्वाश्रमस्थः—सदाचारो विद्वद्भिश्च सुशिक्षितः ॥' इति । 'शिश्नोदररतायैव न देयं वेषधारिणे' इति कुत्रचित् । अत्र योगचिंतामणिकाराः यद्यपि 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनम् । शांतये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये ॥' इत्यादि पुराणवाक्येषु प्राणिमात्रस्य योगेऽधिकार उपलभ्यते । तथापि मोक्षरूपं फलं योगे विरक्तस्यैव भवति । अतस्तस्यैव योगाधिकार उचितः । तथा च वायुसंहितायाम्—"दृष्टे तथानुश्रविके विरक्तं विषये मनः । यस्य तस्याधिकारोऽस्मिन्योगे नान्यस्य कस्यचित् ॥" सुरेश्वराचार्याः—'इहामुत्र विरक्तस्य संसारं प्रजिहासतः । जिज्ञासोरेव कस्यापि योगेऽस्मिन्नधिकारिता ॥' इत्याहुः । वृद्धैरप्युक्तम्—"नैतद्देयं दुर्विनीताय जातु ज्ञानं गुप्तं तद्धि सम्यक्फलाय । अस्थाने हि स्थाप्यमानैव वाचां देवी कोपान्निर्दहेन्नो चिराय ॥' इति ॥ ११ ॥

भाषार्थ-अब संपूर्ण विद्याओंकी अपेक्षा हठयोग विद्याको अत्यंत गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं-सिद्धि अर्थात् अणिमा आदि ऐश्वर्य वा मोक्षके अभिलाषी योगीको हठविद्या अत्यंत गुप्त करने योग्यहै क्योंकि, गुप्त कीहुई हठविद्या वीर्यवाली होती है अर्थात् ऐसे ऐश्वर्यको पैदा करती है कि, जो कदाचित् न डिगसके और प्रकाश करनेसे वीर्यसे रहित हो जाती है अब प्रसंगसे योगके अधिकारीका वर्णन करते हैं कि जितेन्द्रिय शान्त भोगोंमें आसक्त न हो और दोषोंसे रहितहो और मुक्तिका अभिलाषी हो और दोषोंसे अन्य जो संसारके धर्म हैं उनसे हीन न हो और आज्ञाकारी हो उसको ही हठयोगविद्या देनी अन्यको नहीं। याज्ञवल्क्यने भी कहाहै कि, शास्त्रोक्त कर्मोंसे युक्त कामना और संकल्पसे रहित यम और नियमसे युक्त और सम्पूर्ण संगोंसे वर्जित और विद्यासे युक्त क्रोधरहित सत्य और धर्ममें परायण गुरुकी सेवामें रत पिता और माताका भक्त अपने गृहस्थ आदि आश्रममें स्थित श्रेष्ठ आचारी और विद्वानोंने जिसको भलीप्रकार शिक्षा दी हो ऐसा पुरुष योगका अधिकारी होताहै और यह भी कहीं लिखा है कि, जो योगीका वेषधारी कामदेव और उदरके वशीभूत हो उसको योगका उपदेश न करै ? इस विषयमें योगचिंतामणिके कर्ता तो यह कहतेहैं कि, यद्यपि इत्यादि पुराणवचनोंसे प्राणिमात्रको योगमें अधिकार मिलता है कि, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र स्त्री इनको पवित्र करनेवाला कर्मोंकी शांतिके लिये और मुक्तिके अर्थ योगसे अन्य नहीं है तो भी मोक्षरूप जो फलहै वह योगसे विरक्तकोही होताहै इससे विरक्तकोही योगका अधिकार उचितहै सोही वायुसंहितामें लिखाहै कि, लौकिक और वेदोक्त विषयोंमें जिसका मन विरक्त है उसकाही इस योगमें अधिकार है अन्य किसीका नहीं है। सुरेश्वराचार्यने भी कहाहै कि इस लोक और परलोकके विषयोंमें जो विरक्त मनुष्य संसारके त्यागका अभिलाषी है ऐसे किसीही जिज्ञासु पुरुषका योगमें अधिकारहै-इति। वृद्धोंने भी कहा है कि, यह योग दुर्विनीत (क्रोधी) को कदाचित् न देना क्योंकि गुप्त रक्खाहुआ योग भली प्रकारके फलको देताहै और अस्थान (कुपात्र) में स्थापन करतेही क्रोधहुयी वाणी उसी समय दग्ध करती है कुछ चिरकालमें नहीं, भावार्थ यह है कि, सिद्धिका अभिलाषी योगी हठविद्याको भलीप्रकार गुप्त रक्खै क्योंकि गुप्त रखनेसे वीर्यवाली और प्रकाश करनेसे वीर्यरहित होती है ॥ ११ ॥

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ॥
धनुः प्रमाणपर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते ॥
एकांते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥१२॥

अथ हठाभ्यासयोग्यं देशमाह सार्धेन -सुराज्य इति ॥ राज्ञः कर्म भावो वा राज्यं तच्छोभनं यस्मिन्स सुराज्यस्तस्मिन्सुराज्ये। 'यथा राजा

पुराणे त्वेवं मठलक्षणमुक्तम्–'मंदिरं रम्यविन्यासं मनोज्ञं गंधवासितम् । धूपामोदादिसुरभि कुसुमोत्करमंडितम् ॥ मुनितीर्थनदीवृक्षपद्मिनीशैल-शोभितम् । चित्रकर्मनिबद्धं च चित्रभेदविचित्रितम् ॥ कुर्याद्योगगृहं धीमान्सुरम्यं शुभवर्त्मना । दृष्ट्वा चित्रगताञ्छांतान्मुनीन्याति मनःशमम् ॥ सिद्धान्दृष्ट्वा चित्रगतान्मतिरभ्युद्यते भवेत् । मध्ये योगगृहस्याथ लिखेत्संसारमंडलम् ॥ श्मशानं च महाघोरं नरकांश्च लिखेत्क्वचित् । तान्दृष्ट्वा भीषणाकारान्संसारे सारवर्जिते ॥ अनवसादो भवति योगी सिद्ध्यभिलाषुकः । पश्यंश्च व्याधितान् जंतून्नतान्मत्तांश्चलद्व्रणान्' ॥ १३ ॥

भाषार्थ–अब मठके लक्षणका वर्णन करतेहैं कि, जिसका छोटा द्वार हो और जिसमें गवाक्ष आदि रंध्र (छिद्र) न हों और गर्त (गढा) न हो और जिसमें मूसे आदिका विवर (बिल) न हो और न अत्यन्त ऊँचाहो और न अत्यन्त नीचाहो और न अत्यन्त विस्तारसे युक्त हो–क्योंकि अत्यंत ऊंचेपर चढनेमें और अत्यन्त नीचेसे उतरनेमें श्रम होताहै और अत्यन्त विस्तार संयुक्तमें दूर दृष्टि जातीहै इससे इन सब आसनोंका निषेध किया है । कदाचित् कहो कि अत्युच्च नीच आयत इन तीनों शब्दोंका अर्थ भिन्न २ है इससे इनका कर्मधारय समास कैसे होगा क्योंकि कर्म धारय समास उन पदोंका हुआ करै है जिनका अर्थ एक हुआ करताहै सोई इस सूत्रमें लिखा है कि, समानाधिकरण तत्पुरुषको कर्मधारय कहते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि मठमें तीनों पदोंका सामानाधिकरण्य है अर्थात् अत्युच्च नीच आयतरूप जो मठ उससे भिन्न मठ हो क्योंकि अत्युच्चनीचआयत शब्दके संग नशब्दको समास होताहै और न लोप नहीं होता अथवा न यह पृथक्ही पद है–इससे यह विशेषण विशेष्यके संग समासको प्राप्त होताहै इस सूत्रसे कर्मधारय समास करनेमें कोई भी शंका नहीं है । और जो मठ भलीप्रकार चिकने गोवरसे लिपा हो और निर्मल (स्वच्छ) हो और जो मशक मत्कुण आदि जंतुओंसे रहित हो–और जो मठके बाहर देशमें मंडप वेदी कूप इनसे शोभित हो और जो भलीप्रकार प्राकार (परकोटा) से वेष्टित (भीतसे युक्त) हो यह पूर्वोक्त योगमठका लक्षण हठयोगके अभ्यास करनेवाले सिद्धोंने कहाहै । नंदिकेश्वर पुराणमें तो यह मठका लक्षण कहाहै कि, जिस मंदिरकी रचना रमणीय हो, जो मनको प्रिय हो, सुगंधितहो, धूपकी अत्यन्त गंधसे सुगंधितहो, पुष्पोंके समूहसे मंडित हो और जो मुनि तीर्थ नदी वृक्ष कमलिनी पर्वत इनसे शोभित हो और जिसमें चित्राम निकसेहों और जो चित्रोंके भेदसे विचित्र हो बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे रमणीय योगघरको शुभ मार्गसे करै क्योंकि चित्रामोंमें लिखे शांत मुनियोंको

देखकर मन शांत होताहै और चित्रासोंके सिद्धोंको देखकर बुद्धिमें उद्यम बढता है। योगघरके मध्यमें संसारके मंडलको लिखै और कहीं २ श्मशान और घोर नरकोंको लिखै क्योंकि उन भयानक नरकोंको देखकर सिद्धिके अभिलाषी योगीको असार संसारमें अनवसाद (अनिश्चय) होताहै क्योंकि नरकोंमें रोगी उन्मत्त व्रणी (घाववाले) जंतु दीखते हैं-अर्थात् योगमें प्रवृत्ति न होगी तो ऐसेही नरक मुझे भी मिलैंगे। भावार्थ यह है कि, जिसका छोटासा द्वारहो जिसमें छिद्र गढे विल न हों और जो अत्यन्त ऊंचा विस्तृत न हो और जो भलीप्रकार चिकने गोमयसे लिपाहो और जो स्वच्छ हो और जिसमें कोई जीव न हो और जिसके बाहर मंडपवेदी कूप हो और शोभित हो और जिसके चारों तर्फ प्राकार (भीत) हो यह योगमठका लक्षण हठयोगके अभ्यास कर्ता सिद्धोंने कहाहै ॥१३॥

एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिंताविवर्जितः ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत् ॥१४॥

मठलक्षणमुक्त्वा मठे यत्कर्तव्यं तदाह-एवंविध इति ॥ एवं पूर्वोक्ता विधा प्रकारो यस्य तथा पूर्वोक्तलक्षण इत्यर्थः। तस्मिन्स्थित्वा स्थितिं कृत्वा सर्वा याश्चितास्ताभिर्विशेषेण वर्जितो रहितोऽशेषचिन्तारहितः। गुरुणोपदिष्टो यो मार्गः हठाभ्यासप्रकाररूपस्तेन सदा नित्यं योगमेवाभ्यसेत् एवंशब्देनाभ्यासांतरस्य योगे विघ्नकरत्वं सूचितम्। तदुक्तं योगबीजे-'मरुज्जयो यस्य सिद्धस्तं सेवेत गुरुं सदा। गुरुवक्त्रप्रसादेन कुर्यात्प्राणजयं बुधः॥' राजयोगे-'वेदांततर्कोक्तिभिरागमैश्च नानाविधैः शास्त्रकदंबकैश्च। ध्यानादिभिः सत्करणैर्न गम्यश्चिंतामणिर्ह्येकगुरुं विहाय॥' स्कंदपुराणे- 'आचार्याद्योगसर्वस्वमवाप्य स्थिरधीः स्वयम्। यथोक्तं लभते तेन प्राप्नोत्यपि च निर्वृतिम्॥ सुरेश्वराचार्यः-'गुरुप्रसादाल्लभते योगमष्टांगसंयुतम्। शिवप्रसादाल्लभते योगसिद्धिं च शाश्वतिम्॥ यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशंते महात्मनः॥ इति श्रुतिश्च 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इति च॥ १४॥

भाषार्थ-मठके लक्षण कहकर मठमें करने योग्य कर्मको कहते हैं कि, सम्पूर्ण चिंताओंसे रहित मनुष्य इसप्रकारके मठमें स्थित होकर गुरुने उपदेश किया जो मार्ग उससे सदैव योगका अभ्यास करै। और यहां एवं पदसे यह सूचित किया कि, अन्य कर्मका अभ्यास विघ्नकारी होता है सोई योगबीजमें कहाहै कि, जिसने वायुको जीत रक्खाहै

उस गुरुकी सदैव सेवा करै और बुद्धिमान् मनुष्य गुरुके मुखारविंदके प्रसादसे प्राणोंका जय करै । राजयोगमें भी लिखाहै कि, वेदांत और तर्कोंके वचन वेद और नाना प्रकारके शास्त्रोंके समूह और ध्यान आदि और वशीभूत इन्द्रियें इनसे चिन्तामणि (योग) की प्राप्ति एक गुरुको छोडकर नहीं होती अर्थात् गुरुके द्वारा ही योगकी प्राप्ति होती है । स्कंद-पुराणमें भी लिखा है कि, स्थिर बुद्धि मनुष्य आचार्य गुरुसे योगके सर्वस्व (पूर्ण) को जानकर यथोक्त (शास्त्रोक्त फलको) प्राप्त होताहै और निर्वृति (आनंद) कोभी प्राप्त होताहै सुरेश्वराचार्यने भी कहाहै कि, गुरुके प्रसादसे अष्टांगसहित योगको प्राप्त होताहै और शिवजीके प्रसादसे सनातनकी जो योगसिद्धि उसको प्राप्त होताहै जिसकी देवतामें परम भक्ति है और जैसी देवतामें है वैसी ही भक्ति गुरुमें है उस महात्माको शास्त्रमें कहे ये सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं और श्रुतिमें भी कहा है कि, वही पुरुष जानताहै जो आचार्यवाला है । भावार्थ यह है कि, इस पूर्वोक्त प्रकारके मठमें स्थित होकर संपूर्ण चिंता-ओंसे रहित मनुष्य गुरुके उपदेश किये मार्गसे सदैव योगका अभ्यास करै ॥ १४ ॥

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ॥
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति॥ १५॥

अथ योगाभ्यासप्रतिबंधकानाह—अत्याहार इति ॥ अतिशयित आहारोऽत्याहारः । क्षुधापेक्षयाधिकभोजनम् । प्रयासः श्रमजननानु-कूलो व्यापारः । प्रकृष्टो जल्पः प्रजल्पो बहुभाषणं शीतोदकेन प्रातः स्नाननक्तभोजनफलाहारादिरूपनियमस्य ग्रहणं नियमग्रहः । जनानां संगो जनसंगः कामादिजनकत्वात् । लोलस्य भावः लौल्यं चांचल्यम् । षड्भिरत्याहारादिभिरभ्यासप्रतिबंधकैः । योगो विनश्यति विशेषेण नश्यति ॥ १५ ॥

भाषार्थ—अब योगाभ्यासके प्रतिबंधकोंको कहते हैं कि, अत्याहार अर्थात् क्षुधासे अधिक भोजन प्रयास अर्थात् परिश्रम जिसमें हो ऐसा व्यापार प्रजल्प (बहुत बोलना) नियमोंका ग्रहण अर्थात् शीतल जलसे प्रातःकालस्नान, रात्रिमें ही भोजन फलाहार आदिका नियम करना और जनोंका संग क्योंकि वहभी काम आदिको पैदा करताहै और चंचलता इन अत्याहार आदि छः इसे योग विशेषकर नष्ट होताहैं ॥ १५ ॥

उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ॥
जनसंगपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥१६॥

T

अथ योगसिद्धिकरानाह–उत्साहादिति ॥ विषयप्रवणं चित्तं निरोत्स्याम्येवेत्युद्यमम् उत्साहः। साध्यत्वासाध्यत्वे परिभाव्य सहसा प्रवृत्तिः साहसम्। यावज्जीवनं सेत्स्यत्येवेत्यखेदो धैर्यम्। विषया मृगतृष्णाजलवदसंतः, ब्रह्मैव सत्यमिति वास्तविकं ज्ञानं तत्त्वज्ञानं योगानां वास्तविकं ज्ञानं वा। शास्त्रगुरुवाक्येषु विश्वासो निश्चयः श्रद्धेति यावत्। जनानां योगाभ्यासप्रतिकूलानां यः संगस्तस्य परित्यागात्। षड्भिरेभिर्योगः प्रकर्षेणाविलंबेन सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

भावार्थ–अब योगके साधकोंको कहते हैं कि, विषयोंमें लगे चित्तकोभी रोकलूंगा यह उद्यमरूप उत्साह और साध्य असाध्य हो विचार कर शीघ्र प्रवृत्तिरूप साहस और धैर्य जीवन पर्यंतमें तो सिद्ध होहीगा इस खेदके अभावको धैर्य कहते हैं और मृगतृष्णाके जलकी तुल्य विषय मिथ्या है और ब्रह्मही सत्य है यह वास्तविक (सत्य) ज्ञानरूप तत्त्वज्ञान और निश्चय अर्थात् शास्त्र और गुरुके वाक्योंमें विश्वास श्रद्धा और योगाभ्यासके विरोधी जनोंका जो समागम परित्याग इन छः वस्तुओंसे योग शीघ्र सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

अथ यमनियमाः।

"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ॥
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥ १ ॥
तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ॥
सिद्धांतवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम् ॥ २ ॥
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः" ॥

भावार्थ–हिंसाका त्याग, सत्य, चोरीका त्याग, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धीरता, दया, नम्रता, प्रमितभोजन और शुचिता ये दश यम कहाते हैं–और तप, संतोष, आस्तिकता, (परलोकको मानना)–दान, ईश्वरका पूजन, सिद्धांतवाक्योंका श्रवण, लज्जा, बुद्धि, तप और होम ये दश नियम योगशास्त्रके पंडितोंने कहे हैं ॥ १ ॥ २ ॥ ये अढाई श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

हठस्य प्रथमांगत्वादासनं पूर्वमुच्यते ॥
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाघवम् ॥ १७ ॥

आदावासनकथने संगतिं सामान्यतस्तत्फलं चाह–हठस्येति ॥ हठस्य 'आसनं कुंभकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा। अथ नादानुसंधानम्'

इति वक्ष्यमाणानि चत्वार्यंगानि । प्रत्याहारादिसमाध्यंतानां नादानुसंधानेऽतर्भावः । तन्मध्ये आसनस्य प्रथमांगत्वात्पूर्वमासनमुच्यत इति संबंधः । तदासनस्थैर्यं देहस्य मनसश्चाञ्चल्यरूपरजोधर्मनाशकत्वेन स्थिरतां कुर्यात् । 'आसनेन रजो हंति' इति वाक्यात् । आरोग्यं चित्तविक्षेपकरोगाभावः । रोगस्य चित्तविक्षेपकत्वमुक्तं पातंजलसूत्रे-'व्याधिरुत्थानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रांतिदर्शनालब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽतरायाः इति । अंगानां लाघवं लघुत्वं गौरवरूपतमोधर्मनाशकत्वमप्येतेनोक्तम् । चकारात्क्षुद्वृद्ध्यादिकमपि बोध्यम् ॥ १७ ॥

भाषार्थ-प्रथम आसनके कथनमें संगतिको और आसनके फलको कहतेहैं कि, हठयोगका प्रथम अंग होनेसे आसनको प्रथम कहते हैं कि, ये योगके चार अंग कहेंगे कि, आसन कुंभक (प्राणायाम) विचित्र मुद्राओंको करना और नादका अनुसंधान और प्रत्याहारसे समाधिपर्यंतोंका अंतर्भाव नादमें है उन चारोंमें आसन प्रथम अंग है इससे उसकाही पहिले वर्णन करते हैं कि, तिस आसनकी स्थिरता इसलिये करे कि, देह और मनकी चंचलतारूप जो रजोगुणका धर्म उसका नाशक आसनहै क्योंकि इस वचनमें यह लिखाहै कि, योगी आसनसे रजोगुणको नष्ट करताहै और आरोग्यकारकहै अर्थात् चित्तको विक्षेपक रोग नहीं होताहै क्योंकि पतंजलिके इस सूत्रमें रोगकोभी चित्तका विक्षेपक कहाहै कि, व्याधि-उत्थान-संशय-प्रमाद-आलस्य-अविरति-भ्रांति-दर्शन-अलब्धभूमि (पूर्वोक्त भूमियोंका न मिलना) अनवस्थित (चञ्चलता) ये चित्तके विक्षेपरूप विघ्न हैं और अंगोंका लाघव क्योंकि वह लाघव गौरवरूप तमोगुणके धर्मका नाशक है और चकारके पढनेसे क्षुधाकी वृद्धि आदिभी समझने अर्थात् ऐसा आसन हो जो स्थिर नीरोग अंगोंका लाघव उत्पन्न करे और जिससे क्षुधा न बढै ॥ १७ ॥

वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः ॥
अंगीकृतान्यासनानि कथ्यंते कानिचिन्मया ॥ १८ ॥

वसिष्ठादिसंमतासनमध्ये श्रेष्ठानि मयोच्यंत इत्याह-वसिष्ठाद्यैरिति । वसिष्ठ आद्यो येषां याज्ञवल्क्यादीनां तैर्मुनिभिर्मननशीलैः चकारान्मंत्रादिपरैः । मत्स्येंद्र आद्यो येषां जालंधरनाथादीनां तैः । योगिभिः हठाभ्या-

तिभिः । चकारान्मुद्रादिपरैः । अंगीकृतानि चतुरशीत्यासनानि तन्मध्ये कानिचित् श्रेष्ठानि मया कथ्यंते । यद्यप्युभयोरपि मननहठाभ्यासौ स्तस्तथापि वसिष्ठादीनां मननं मुख्यं मत्स्येंद्रादीनां हठाभ्यासो मुख्य इति पृथग्ग्रहणम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ-वसिष्ठ आदिकोंके समेत जो आसन हैं उनमें श्रेष्ठ २ आसनोंके वर्णनकी प्रतिज्ञा करतेहैं कि, वसिष्ठ है आदिमें जिनके ऐसे मननके कर्ता मुनियोंने और चकारके पढनेसे मन्त्रके ज्ञाताओंने और मत्स्येंद्रहै आदिमें जिनके ऐसे योगियों (जालंधरनाथ आदि) ने अर्थात् हठयोगके अभ्यासियोंने और चकारके पढनेसे मुद्रा आदिके ज्ञाताओंने अंगीकार किये जो चौराशी ८४ आसन हैं उनमें कितनेक श्रेष्ठ आसनोंको मैं कहताहूँ यद्यपि दोनोंको मनन और हठयोगका अभ्यास था तथापि वसिष्ठ आदिकोंका तो मनन मुख्य रहा और मत्स्येंद्र आदिकोंका हठयोगका अभ्यास मुख्य रहा इससे दोनोंको पृथक् पृथक् पढा है ॥ १८ ॥

जानूर्वोरंतरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ॥
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ १९ ॥

तत्र सुकरत्वात्प्रथमं स्वस्तिकासनमाह-जानूर्वोरिति ॥ जानु च ऊरुश्च । अत्र जानुशब्देन जानुसंनिहितो जंघाप्रदेशो ग्राह्यः। जंघोर्वोरिति पाठस्तु साधीयान् । तयोरंतरे मध्ये उभे पादयोस्तले तलप्रदेशौ कृत्वा ऋजुकायः समकायः यत्र समासीनो भवेत्तदासनं स्वस्तिकं स्वस्तिकाख्यं प्रचक्षते वदंति । योगिन इति शेषः । श्रीधरेणोक्तम्-'ऊरुजंघांतरा धाय प्रपदे जानुमध्यगे। योगिनो यदवस्थानं स्वस्तिकं तद्विदुर्बुधाः॥' इति १९॥

भाषार्थ-स्वस्तिक आसनको कहते हैं कि, जानु (गोडे) और जंघाओंके बीचमें चरणतल अर्थात् दोनों तस्वाओंको लगाकर जो सावधानीपूर्वक बैठना उसे स्वस्तिक आसन कहते हैं ॥ १९ ॥

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ॥
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति ॥ २० ॥

गोमुखासनमाह-'सव्य इति॥' सव्ये वामे पृष्ठस्य पार्श्वे संप्रदायात्कटेरधोभागे दक्षिणं गुल्फं नितरां योजयेत् । गोमुखस्याकृतिर्यस्य तत्तादृशं गोमुखसंज्ञकमासनं भवेत् ॥ २० ॥

भाषार्थ-गोमुख आसनको कहते हैं कि, वटिके वामभागमें दहना गुल्फ टकना और दक्षिणभागमें वामटकनेको लगाकर जो गोमुखके समान आकार होजाता है उसे गोमुख-आसन कहते हैं ॥ २० ॥

एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदुरुणि स्थितम् ॥
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम् ॥ २१ ॥

वीरासनमाह-एकमिति ॥ एकं दक्षिणं पादम् । तथा पादपूरणे । एकस्मिन्वामोरुणि स्थितं विन्यसेत् । इतरस्मिन्वामे पादे ऊरुं दक्षिणं विन्यसेत् । तद्वीरासनमितीरितं कथितम् ॥ २१ ॥

भाषार्थ-वीरासनको कहते हैं कि, एकचरणको वाम जंघापर और दूसरेको दक्षिण जंघापर रखकर वीरासन होता है ॥ २१ ॥

गुदं निरुध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ॥
कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥ २२ ॥

कूर्मासनमाह-गुदमिति ॥ गुल्फाभ्यां गुदं निरुध्य निरुध्य व्युत्क्रमेण यत्र समाहितः स्थितो भवेत् । एतत्कूर्मासनं भवेत् । इति योगविदो विदुरित्यन्वयः ॥ २२ ॥

भाषार्थ-कूर्मासनको कहते हैं दोनों टकनोंसे गुदाको विपरीत क्रमसे अर्थात् दक्षिससे वामभाग वामसे दक्षिण भागको रोककर जो सावधानीसे बैठजाय उसे कूर्मासन कहते हैं ॥ २२ ॥

पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरंतरे करौ ॥
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ॥ २३ ॥

कुक्कुटासनमाह-पद्मासनं त्विति ॥ पद्मासनं तु ऊर्वोरुपरि उत्तान-चरणस्थापनरूपं सम्यक् स्थापयित्वा । जानुपदेन जानुसंनिहितो जंघा-प्रदेशः । तच्च ऊरुश्च जानूरू तयोरंतरे मध्ये करौ निवेश्य भूमौ संस्था-प्य । करावित्यत्रापि संबध्यते । व्योमस्थं खस्थं पद्मासनसदृशं यत्तत्कु-क्कुटासनम् ॥ २३ ॥

भाषार्थ-अब कुक्कुटासनको कहते हैं कि, पद्मासनको लगाकर अर्थात् जंघाओंके ऊपर उत्तान (खडे) दोनों चरणोंको स्थापन करके और जानु (गोडे) और जंघाओंके मध्यभागमें दोनों हाथोंको लगाकर और उन दोनों हाथोंको भूमिमें स्थापन करके

आकाशमें स्थित रहे पद्मासनके समान जो यह आसन है सो कुक्कुटासन कहाता है अर्थात् मुरगेके समान स्थिति करनी ॥ २३ ॥

कुक्कुटासनबंधस्थो दोर्भ्यां संबध्य कंधराम् ॥
भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ २४ ॥

उत्तानकूर्मकासनमाह-कुक्कुटासनेति ॥ कुक्कुटासनस्य यो बंधः पूर्वश्लोकोक्तस्तस्मिन् स्थितः दोर्भ्यां बाहुभ्यां कंधरां ग्रीवां संबध्य कूर्मवदुत्तानो यस्मिन्भवेदेतदासनमुत्तानकूर्मकं नाम ॥२४॥

भावार्थ-अब कूर्मासनको कहते हैं कि, कुक्कुटासनके बंधनमें स्थित होकर [अर्थात् कुक्कुटासनको लगाकर और दोनों भुजाओंसे कन्धरा (ग्रीवा) को भली प्रकार बांधकर कूर्म (कच्छप) के समान उत्तान (सीधा) हो जाय तो वह उत्तानकूर्मासन कहाता है ॥ २४ ॥

पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ॥
धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

धनुरासनमाह-पादांगुष्ठौ त्विति ॥ पाणिभ्यां पादयोरंगुष्ठौ गृहीत्वा श्रवणावधि कर्णपर्यंतं धनुष आकर्षणं यथा भवति तथा कुर्यात्। गृहीतांगुष्ठमेकं पाणिं प्रसारितं कृत्वा गृहीतांगुष्ठमितरं पाणिं कर्णपर्यंतमाकुंचितं कुर्यादित्यर्थः। एतद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

भावार्थ-अब धनुरासनको कहते हैं कि, दोनों पादोंके अंगूठोंको हाथोंसे पकडकर श्रवण (कान) पर्यंत धनुषके समान आकर्षण करे (खींचे) उसको धनुरासन कहते हैं ॥ २५ ॥

वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टित-
वामपादम् ॥ प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तितांगः
श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ॥ २६ ॥

मत्स्येंद्रासनमाह-वामोर्विति ॥ वामोरुमूलेऽर्पितः स्थापितो यो दक्षपादः तं संप्रदायात्पृष्ठतोगतवामपाणिना गुल्फस्योपरिभागे परिगृह्य जानोर्दक्षिणपादजानोर्बहिःप्रदेशे वेष्टितो यो वामपादस्तं वामपादजानोर्बहिर्वेष्टितदक्षिणपाणिनांगुष्ठे प्रगृह्य। परिवर्तितांगः वामभागेन पृष्ठतो

मुखं यथा स्यादेवं परिवर्तितं परावर्तितमंगं येन स तथा तादृशो यत्र तिष्ठेत् स्थितिं कुर्यात्तदासनं मत्स्येंद्रनाथेनोदितं कथितं स्यात् । तदुदितत्वात्तन्नामकमेववदंति । एवं दक्षोरुमूलार्पितवामपादं पृष्ठतोगतदक्षिणपाणिना प्रगृह्य वामजानोर्बहिर्वेष्टितदक्षपादं दक्षिणपाद्जानोर्बाहिर्वेष्टितवामपाणिना प्रगृह्य । दक्षभागेन पृष्ठतो मुखं यथा स्यादेवं परिवर्तितांगश्चाभ्यसेत् ॥ २६ ॥

भाषार्थ-अत्र मत्स्येंद्रासनको कहते हैं कि, वामजंघाके मूलमें दक्षिण पादको रखकर और जानुसे बाहर वाम पादको हाथसे लपेटकर और पकडकर और परिवर्तित अंग होकर अर्थात् वाम भागसे पीठकी तर्फ मुखको करके जिस आसनमें टिके वह मत्स्येन्द्रनाथका कहा मत्स्येन्द्रासन होता है । इसीप्रकार दक्षिणजंघाके मूलमें वामपादको रखकर और पीठपर गये दक्षिण हाथसे उसको ग्रहण करके और वामजानुसे बाहर हाथसे लपेटे दक्षिण पादको दक्षिण पादकी जानुसे बाहर लपेटे फिर उसको वाम हाथसे ग्रहण करके और दक्षिणभागसे पीठकी तरफ मुखको करके भी हठयोगका अभ्यास करै अर्थात् यह भी एक मत्स्येन्द्रासन है ॥ २६ ॥

मत्स्येंद्रपीठं जठरप्रदीप्तिं प्रचंडरुग्मंडलखंडनास्त्रम् ॥
अभ्यासतः कुंडलिनीप्रबोधं चंद्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम् २७

मत्स्येंद्रासनस्य फलमाह-मत्स्येंद्रेति ॥ प्रचंडं दुःसहं रुजां रोगाणां मंडलं समूहः तस्य खंडने छेदनेऽस्त्रमस्त्रमिव तादृशं मत्स्येंद्रपीठं मत्स्येंद्रासनम् अभ्यासतः प्रत्यहमावर्तनरूपादभ्यासात् पुंसां जठरस्य जठराग्नेः प्रकृष्टां दीप्तिं वृद्धिं ददाति । तथा कुंडलिन्या आधारशक्तेः प्रबोधं निद्राभावं तथा चन्द्रस्य तालुन उपरिभागे स्थितस्य नित्यं क्षरतः स्थिरत्वं क्षरणाभावं च ददातीत्यर्थः ॥ २७ ॥

भाषार्थ-अत्र मत्स्येन्द्रासनके फलको कहते हैं कि, यह मत्स्येंद्रासन जठराग्निको दीपन (अधिक) करता है क्योंकि यह आसन प्रचंडरोगोंका जो समूह उसके नाशके लिये अस्त्रके समान है और कुण्डलिनी जो आधारशक्ति है उसके प्रबोध (जागरण) अर्थात् निद्राके अभावको और तालुके ऊपरके भागमें स्थित जो चन्द्र (नित्यझरै है) उसकी स्थिरताको अर्थात् झरनेके अभावको पुरुषोंको देता है अर्थात् करता है ॥ २७ ॥

प्रसार्य पादौ भुवि दंडरूपौ दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा ॥
जानूपरिन्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः ॥२८॥

पश्चिमतानासनमाह-प्रसार्येति ॥ भुवि भूमौ दंडस्य रूपमिव रूपं ययोस्तौ दंडाकारौ श्लिष्टगुल्फौ प्रसार्य प्रसारितौ कृत्वा । दोर्भ्यामाकुंचिततर्जनीभ्यां भुजाभ्यां पदोः पदयोश्चाग्रे अग्रभागौ तयोर्द्वितयं द्वयमंगुष्ठप्रदेशयुग्मं बलादाकर्षणपूर्वकं यथा जान्वधोभागस्य भूमेरुत्थानं न स्यात्तथा गृहीत्वा । जानोरुपरिन्यस्तो ललाटदेशो येन तादृशो यत्र वसेत् । इदं पश्चिमताननामकमासनमाहुः ॥ २८ ॥

भावार्थ-अब पश्चिमतानासनको कहते हैं कि, दंडके समान है रूप जिनका ऐसे और मिले हैं गुल्फ जिनके ऐसे दोनों चरणोंको भूमिपर फैलाकर और आकुंचित (मुकडी) है तर्जनी जिनकी ऐसी भुजाओंसे दोनों पादोंके दोनों अग्रभागोंको ग्रहण करके अर्थात् अँगूठोंको इसप्रकार पकडकर जैसे जानुओंके अधोभाग भूमिसे ऊपर न उठें और जानुओंके ऊपर रक्खा है ललाट (मस्तक) भाग जिसने ऐसा होकर जहां पुरुष वसै उस आसनको पश्चिमतान आसन कहते हैं ॥ २८ ॥

इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं पवनं पश्चिमवाहिनं करोति ॥
उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम् २९॥

अथ तत्फलम्-इतीति ॥ इति पूर्वोक्तमासनेष्वग्र्यं मुख्यं पश्चिमतानं पवनं प्राणं पश्चिमवाहिनं पश्चिमेन पश्चिममार्गेण सुषुम्नामार्गेण वहतीति पश्चिमवाही तं तादृशं करोति । जठरानलस्य जठरे योऽनलोऽग्निस्तस्योदयं वृद्धिं कुर्यात् । उदरे मध्यप्रदेशे कार्श्यं कृशत्वं कुर्यात् । अरोगतामारोग्यं चकारान्नाडीवलनादिसाम्यं कुर्यात् ॥ २९ ॥

भावार्थ-अब इस आसनके फलको कहते हैं कि, संपूर्ण आसनोंमें मुख्य यह पश्चिमताननामका आसन प्राणरूप पवनको पश्चिमवाही करता है अर्थात् सुषुम्ना नाडीके मार्गसे प्राण बहने लगता है और जठराग्निको उत्पन्न करता है अर्थात् बढाताहै और उदरके मध्यमें कृशताको करता है और पुरुषोंकी अरोगता (रोगका अभाव) करता है और चकारसे नाडियोंके वलन आदिकी समताको करता है ॥ २९ ॥

धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः ॥
उच्चासनो दंडवदुत्थितःस्यान्मायूरमेतत्प्रवदंति पीठम्॥३०॥

अथ मयूरासनमाह-धरामिति ॥ करद्वयेन करयोर्द्वयं युग्मं तेन धरां भूमिमवष्टभ्यावलंब्य प्रसारितांगुली भूमिसंलग्नतलौ सन्निहितौ करौ

कृत्वेत्यर्थः । तस्य करद्वयस्य कूर्परयोर्भुजमध्यसंधिभागयोः स्थापिते धृते नाभेः पार्श्वे पार्श्वभागौ येन स उच्चासन उच्चमुन्नतमासनं यस्यैतादृशः । खे शून्ये दंडवद्दंडेन तुल्यमुत्थित ऊर्ध्वं स्थितो यत्र भवति तन्मायूरं मयूरस्येतत्संबंधित्वात्तन्नामकं प्रवदंति । योगिन इति शेषः ॥३०॥

भाषार्थ-अब मयूरासनको कहते हैं कि, दोनों हाथोंसे भूमिका अवलंबन करके अर्थात् फलाये हुये हाथोंसे भूमिका स्पर्श करके और उन हाथोंका जो कूर्पर (भुजा, करका संधि-भाग) जिसको मणिवन्ध वा गट्टा कहते हैं उसके ऊपर नाभिके दोनों पार्श्वभागोंको स्थापित करके वह दंडके समान उठा हुआ उच्चासन होता है इस आसनको योगीजन मायूर कहते हैं अर्थात् मयूरके समान इसमें स्थिति होती है ॥ ३० ॥

हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादी—
नभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम् ॥
बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं
जनयति जठराग्निं जारयेत्कालकूटम् ॥३१॥

मयूरासनगुणानाह-हरतीति ॥ गुल्मो रोगविशेषः उदरं जलोदरं ते आदिनी येषां प्लीहादीनां ते तथा तान्सकलरोगान् सकला ये रोगास्ता-नाशु झटिति हरति नाशयति । श्रीमयूरमासनमिति सर्वत्र संबध्यते । दोषान्वातपित्तकफानालस्यदींश्चभिभवति तिरस्करोति । बह्वातिशयितं कदशनं कदन्नं यद्भुक्तं तदशेषं समस्तं भस्म कुर्यात्पाचयेदित्यर्थः । जठराग्निं जठरानलं जनयति प्रादुर्भावयति । कालकूटं विषं कालकूट-वदपकारकान्नं समस्तं जारयेज्जीर्णं कुर्यात्पाचयेदित्यर्थः ॥ ३१ ॥

भाषार्थ-अब मयूरासनके गुणोंको कहते हैं कि, गुल्म और जलोदर आदि और जो प्लीहा तिल्ली आदि सब रोग हैं उनको शीघ्र हरता है और संपूर्ण जो वात पित्त कफ आलस्य आदि दोष हैं उनका तिरस्कार करता है। और अधिक वा कुत्सित अन्न जो भक्षण करलिया होय तो उस संपूर्णको भस्म करता है और जठराग्निको बढाता है और कालकूट (विष) को भी जीर्ण करता है अर्थात् विषके समान अपकार करनेवाला जो अन्न है उसकोभी पचाता है ॥ ३१ ॥

उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तच्छवासनम् ॥
शवासनं श्रांतिहरं चित्तविश्रांतिकारकम् ॥ ३२ ॥

शवासनमाहार्धेन-उत्तानमिति॥शवेन मृतशरीरेण तुल्यं शववदुत्तानं भूमिसंलग्नं पृष्ठं यथा स्यात्तथा शयनं निद्रायामिव सन्निवेशो यत्तच्छवासनं शवाख्यमासनम् । शवासनप्रयोजनमाह-उत्तरार्धेन । शवासनं श्रांतिहरं श्रांतिं हठाभ्यासश्रमं हरतीति श्रांतिहरं चित्तस्य विश्रांतिर्विश्रामस्तस्याः कारकम् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ-अब शवासन और उसके फलको कहते हैं कि, शव (मृतके समान) भूमिपर पीठको लगाकर उत्तान (सीधा) शयन निद्राके तुल्य जिसमें हो वह शवासन होता है । और यह शवासन हठयोगके परिश्रमको हरता है और चित्तकी विश्रांति (विश्राम) को करता है अर्थात् इसके करनेसे चित्त स्थिर होजाता है ॥ ३२ ॥

चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च ॥
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ॥ ३३ ॥

वक्ष्यमाणासनचतुष्टयस्य श्रेष्ठत्वं वदन्नाह-चतुरशीतीति ॥शिवेनेश्वरेण चतुरधिकाशीतिसंख्याकान्यासनानि कथितानि चकाराच्चतुरशीतिलक्षाणि च । तदुक्तं गोरक्षनाथेन-'आसनानि च तावंति यावंत्यो जीवजातयः।एतेषामखिलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः।चतुरशीतिलक्षाणि एकैकं समुदाहृतम् । ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम् ॥' इति तेभ्यः शिवोक्तचतुरशीतिलक्षासनानां मध्ये प्रशस्तानि यानि चतुरशीत्यासनानि तेभ्य आदाय गृहीत्वा । सारभूतं श्रेष्ठभूतं चतुष्कमहं ब्रवीमीत्यन्वयः३३॥

भाषार्थ-अब चार आसनोंकी श्रेष्ठताका वर्णन करते हैं कि शिवजीने चौरासी आसन कहे हैं और चकारके पढनेसे उनके चौरासी लाख लक्षण कहे हैं सोई गोरक्षनाथने कहाहै कि, जितनी जीवोंकी जाति हैं उतनेही आसन हैं इनके संपूर्ण भेदोंको शिवजी जानते हैं उनमेंभी एक २ चौरासी लक्ष कहा है तिससे शिवजीने चौरासी आसनही किये हैं, उनमें श्रेष्ठ जो चौरासी आसन हैं उनमेंसे लेकर श्रेष्ठ जो चार आसन हैं उनको मैं कहता हूँ ॥ ३३ ॥

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥
तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ॥ ३४ ॥

तदेव चतुष्कं नाम्ना निर्दिशति-"सिद्धमिति॥" सिद्धं सिद्धासनम् । पद्मं पद्मासनम्, सिंहं सिंहासनम्, भद्रं भद्रासनम् इति चतुष्टयं श्रेष्ठमिति-

शेयेन प्रशस्यं तत्रापि चतुष्टये सुखे सुखकरे सिद्धासने सदा तिष्ठेत् एतेन सिद्धासनं चतुष्टयेऽप्युत्कृष्टमिति सूचितम् ॥ ३४ ॥

भाषार्थ–उन चारोंकेही नामोंको दिखाते हैं कि, सिद्धासन-पद्मासन-सिंहासन और भद्रासन ये चार आसन अत्यंत श्रेष्ठ हैं। उन चारोंमें सुखका कर्ता जो सिद्धासन है उसमें सदैव योगी टिकै–इससे यह सूचित किया कि, इन चारोंमेंभी सिद्धासन उत्तम है ॥ ३४ ॥

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ॥
स्थाणुः संयमितेंद्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरंतरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ ३५ ॥

आसनचतुष्टयेप्युत्कृष्टत्वात्प्रथमं सिद्धासनमाह–योनिस्थानकमिति ॥ योनिस्थानमेव योनिस्थानकम् । स्वार्थे कप्रत्ययः । गुदोपस्थयोर्मध्यम-प्रदेशे पदं योनिस्थानं तत् अंघ्रिर्वामश्चरणस्तस्य मूलेन पार्ष्णिभागेन घटितं संलग्नं कृत्वा । स्थानांतरं एकं पादं दक्षिणं पादं मेढ्रेंद्रियस्योपरिभागे दृढं यथास्यात्तथा विन्यसेत् । हृदये हृदयसमीपे हनुं चिबुकं सुस्थिरं सम्यक्स्थिरं कृत्वा हनुहृदययोश्चतुरंगुलमंतरं यथा भवति तथा कृत्वेति रहस्यम् । संयमितानि विषयेभ्यः परावृत्तानींद्रियाणि येन स तथा । अचला या दृक् दृष्टिस्तथा भ्रुवोरंतरं मध्यं पश्येत् । हि प्रसिद्धं मोक्षस्य यत्कपाटं प्रतिबंधकं तस्य भेदं नाशं जनयतीति तादृशं सिद्धानां योगिनाम् । आस्तेऽत्रास्यतेऽनेनेति वा आसनं सिद्धासननामकमिदं भवेदित्यर्थः ॥ ३५ ॥

भाषार्थ–अब चारों आसनोंमें उत्तम जो सिद्धासन उसके स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, गुदा और लिंग इन्द्रियका मध्यभाग जो योनिस्थान है उससे वाम चरणके मूल (ऐडी) को मिलाकर और दक्षिण दूसरे पादको दृढ रीतिसे लिंग इन्द्रियके ऊपर रक्खे और हृदयके समीपभागमें हनु चिबुक वा (ठोडी) को भलीप्रकार स्थिर करके अर्थात् हनु और हृदयका चार अंगुलका अन्तर रखकर भलीप्रकार विषयोंसे रोकी हैं इंद्रियें जिसने ऐसा स्थाणु (निश्चल) योगी अपनी अचल (एकरस) दृष्टिसे भृकुटीके मध्यभागको देखता रहे । यह मोक्षके कपाट (अवरोध वा रोक) का जो भेदन (नाश) उसका करनेवाला योगिजनोंने सिद्धासन कहाहै–अर्थात् सिद्धयोगी इस आसनसे बैठते हैं ॥ ३५ ॥

मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि ॥
गुल्फांतरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥ ३६ ॥

मत्स्येंद्रसंमतं सिद्धासनमुक्त्वाऽन्यसंमतं वक्तुमाह-मतांतरे त्विति ॥ तदेव दर्शयति-मेढ्रादिति ॥ मेढ्रादुपस्थादुपर्यूर्ध्वभागे सव्यं वामगुल्फं विन्यस्य तथा सव्यवदुपरि मुख्यपादस्योपरि न तु सव्यगुल्फस्य । गुल्फांतरं दक्षिणगुल्फं च निक्षिप्य वसेदिति शेषः । इदं सिद्धासनं मतांतराभिमतमित्यभेद इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ-अब मत्स्येन्द्रके संमत सिद्धासनको कहकर अन्य योगियोंके संमत सिद्धासनको कहते हैं कि, मतांतरमें तो यह लिखा है कि, लिंग इंद्रियके ऊपरके भागमें वामगुल्फको रखकर और तैसेही सव्य (वाम) पादके ऊपर दक्षिण गुल्फको रखकर बसै तो यह भी किसी २ ने सिद्धासन कहा है ॥ ३६ ॥

एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः ॥
मुक्तासनं वदंत्येके प्राहुर्गुप्तासनं परे ॥ ३७ ॥

तत्र प्रथमं महासिद्धसंमतमिति स्पष्टीकर्तुमस्यैव मतभेदान्नामभेदानाहएतदिति ॥ एतत्पूर्वोक्तं सिद्धासनं सिद्धासननामकं प्राहुः । केचिदित्यध्याहारः । अन्ये वज्रासनं वज्रासनसंज्ञकं विदुः जानंति । एके मुक्तासनं मुक्तासनाभिधं वदंति । परे गुप्तासनं गुप्तासनाख्यं प्राहुः । अत्रासनाभिज्ञाः । यत्र वामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने नियोज्यदक्षिणपादपार्ष्णिमेंढ्रादुपरि स्थाप्यते तत्सिद्धासनम् । यत्र वामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणपादपार्ष्णिमेंढ्रादुपरि स्थाप्यते तद्वज्रासनम् । यत्र तु दक्षिणसव्यपार्ष्णिद्वयमुपर्यधोभागेन संयोज्य योनिस्थानेन संयोज्यते तन्मुक्तासनम् । यत्र च पूर्ववत्संयुक्तं पार्ष्णिद्वयं मेढ्रादुपरि निधीयते तद्गुप्तासनमिति ॥ ३७ ॥

भाषार्थ-इसकोही कोई सिद्धासन कहते हैं और कोई वज्रासन कहते हैं और कोई मुक्तासन और कोई गुप्तासन कहते हैं अर्थात् इस सिद्धासनके ही ये भी नाम हैं और आसनके जो भलीप्रकार ज्ञाता हैं वे इन चारों आसनोंमें यह भेद (फरक) कहते हैं कि जिसमें वाम पादकी पार्ष्णिको लिंगके स्थानपर लगाकर और दक्षिणपादकी पार्ष्णि (एडी)को लिंगके ऊपर रखकर स्थित हो वह सिद्धासन कहाताहै और जहां वाम पार्ष्णिको लिंगके

स्थानमें और दक्षिण पादकी पार्ष्णिको लिंगके ऊपर लगाकर स्थिति करै वह वज्रासनभी कहाता है अर्थात् इन दोमें भेद नहीं है और जहां दक्षिण और वाम पादकी दोनों पार्ष्णियोंको ऊपर नीचे मिलाकर योनिके स्थानमें लगाकर स्थित है वह मुक्तासन कहाता है और जहां पूर्वोक्त रीतिसे मिलाई दोनों पार्ष्णियोंको लिंगसे ऊपर रखकर स्थितहो वह गुप्तासन कहाता है ॥ ३७ ॥

यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव ॥
मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ॥ ३८ ॥

अथ सप्तभिः श्लोकैः सिद्धासनं प्रशंसति—यमेष्वित्यादिभिः ॥ यमेषु मिताहारमिव । मिताहारो वक्ष्यमाणः 'सुस्निग्धमधुराहारः' इत्यादिना । नियमेषु अहिंसामिव सर्वाणि यान्यासनानि तेषु सिद्धाः एकं सिद्धासनं मुख्यं विदुरिति संबंधः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—अब सात श्लोकोंसे सिद्धासनकी प्रशंसा करते हैं कि, जैसे दश प्रकारके यमोंमें प्रमित भोजन मुख्य है और नियमोंमें अहिंसा मुख्य है इसीप्रकार संपूर्ण आसनोंमें सिद्धासन सिद्धोंने मुख्य कहा है । और प्रमित भोजन इस वचनसे कहेंगे कि, भली प्रकार स्निग्ध (चिकना) और मधुर आदि जो भोजन वह मिताहार कहाता है ॥ ३८ ॥

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत् ॥
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥ ३९ ॥

चतुरशीतीति॥ चतुरधिकाशीतिसंख्याकानि यानि पीठानि तेषु सिद्धमेव सिद्धासनमेव सदा सर्वदाभ्यसेत् । सिद्धासनस्य सदाभ्यासे हेतुगर्भं विशेषणम् । द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनं शोधकम् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—चौरासी जो आसन हैं उनमें सदैव सिद्धासनका अभ्यास करै क्योंकि यह आसन बहत्तर हजार नाडियोंके मलोंका शोधक है ॥ ३९ ॥

आत्मध्यायी मिताहारी यावद्द्वादशवत्सरम् ॥
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ॥ ४० ॥

आत्मध्यायीति॥ आत्मानं ध्यायतीत्यात्मध्यायी मित आहारोऽस्यास्तीति मिताहारी यावंतो द्वादश वत्सराः यावद्द्वादशवत्सरम् । 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभावः समासः । द्वादशवत्सरपर्यंतमित्यर्थः । सदा सर्वदा सिद्धासनस्याभ्यासाद्योगी योगाभ्यासी निष्पत्तिं योगसिद्धिमा—

प्नुयात्प्राप्नुयात्। योगांतराभ्यासमंतरेण सिद्धासनाभ्यासमात्रेण सिद्धिं प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ४० ॥

भाषार्थ–आत्माके ध्यानका कर्ता और मिताहारी होकर द्वादशवर्ष पर्यंत सदैव सिद्धासनके अभ्यास करनेसे योगी योगकी सिद्धिको प्राप्त होता है अर्थात् अन्ययोगोंके अभ्यासके विनाही केवल सिद्धासनकेही अभ्याससे सिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

किमन्यैर्बहुभि पीठैः सिद्धे सिद्धासने सति ॥
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुंभके ॥ ४१ ॥

किमन्यैरिति ॥ सिद्धासने सिद्धे सत्यन्यैर्बहुभिः पीठैरासनैः किम्। न किमपीत्यर्थः। सावधाने प्राणानिले प्राणवायौ केवलकुंभके बद्धे सति ॥ ४१ ॥

भाषार्थ–सिद्धासनके सिद्ध होनेपर अन्य बहुतसे आसनोंसे क्या फल है अर्थात् कुछ नहीं है और इस सिद्धासनसे सावधान प्राणवायुके केवल कुम्भक प्राणायाम बँधनेपर अन्य सब आसन वृथा समझने ॥ ४१ ॥

उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला ॥
तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति ॥
बंधत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥ ४२ ॥

उत्पद्यत इति ॥ उन्मनी उन्मन्यवस्था सा कलेवाह्लादकत्वाच्चंद्रलेखेव निरायासादनायासात्स्वयमेवोत्पद्यत उदेति–तथेति। तथोक्तप्रकारेणैकस्मिन्नेव सिद्धे दृढे बद्धे सति बंधत्रयं मूलबंधोड्डीयानबंधजालंधरबंधरूपमनायासात् 'पार्ष्णिभागेण संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम्' इत्यादिवक्ष्यमाणमूलबंधादिष्वायासस्तं विनैव स्वयमेवोपजायते स्वत एवोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

भाषार्थ–और इस सिद्धासनके प्रतापसेही चंद्रमाकी कलाके समान उन्मनी कला विनापरिश्रम उत्पन्न होजाती है और तिसीप्रकार एक दृढ सिद्धासनके सिद्ध होनेपर मूलवन्ध उड्डीयानवन्ध जालंधरबंधरूप तीनों बंध विनाश्रम स्वयंही होजाते हैं अर्थात् पार्ष्णिके मार्गसे योनि (लिंग) को भली प्रकार दवाकर गुदाका संकोच करै इत्यादि वचनोंसे जो मूलबंध आदिमें परिश्रम कहा है उसके किये बिनाही तीनों बंध सिद्ध होजाते हैं ॥ ४२ ॥

नासनं सिद्धसदृशं न कुंभः केवलोपमः ॥
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥ ४३ ॥

नासनमिति ॥ सिद्धेन सिद्धासनेन सदृशमासनम् । नास्तीति शेषः । केवलेन केवलकुंभकेनोपमीयत इति केवलोपमः कुंभः कुंभको नास्ति । खेचरीमुद्रासमा मुद्रा नास्ति । नादसदृशो लयो लयहेतुर्नास्ति ॥ ४३ ॥

भाषार्थ–सिद्धासनके समान अन्य आसन नहीं है और केवल कुम्भकके समान कुम्भक नहीं है और खेचरी मुद्राके समान मुद्रा नहीं है और नादके समान अन्य ब्रह्ममें लयका हेतु नहीं है ॥ ४३ ॥

अथ पद्मासनम् ।

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ॥
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥४४॥

पद्मासनं वक्तुमुपक्रमते–अथेति ॥ पद्मासनमाह–वामोरूपरीति ॥ वामो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणम् । चकारः पादपूरणे । संस्थाप्य सम्यगुत्तानं स्थापयित्वा वामं सव्यं चरणं तथा दाक्षिणचरणवद्दक्षो दाक्षिणो य ऊरुस्तस्योपरि संस्थाप्य पश्चिमेन भागेन पृष्ठभागेनेति । विधिर्विधानं करयोरित्यर्थात् । तेन कराभ्यां हस्ताभ्यां दृढं यथा स्यात्तथा पादांगुष्ठौ धृत्वा गृहीत्वा । दक्षिणं करं पृष्ठतः कृत्वा । वामोरुस्थितदक्षिणचरणांगुष्ठं गृहीत्वा वामकरं पृष्ठतः कृत्वा । दक्षिणोरुस्थितवामचरणांगुष्ठं गृहीत्वेत्यर्थः । हृदये हृदयसमीपे । सामीपिकाधारे सप्तमी । चिबुकं हनुं निधायोरसश्चतुरंगुलांतरे चिबुकं निधायेति रहस्यम् । नासाग्रं नासिकाग्रमालोकयेत्पश्येद्यत्रैतद्यमिनां योगिनां व्याधेर्विनाशं करोतीति व्याधिविनाशकारि पद्मासनमेतन्नामकं प्रोच्यते सिद्धैरिति शेषः ॥ ४४ ॥

भाषार्थ–अब पद्मासनको कहते हैं कि, वाम जंघाके ऊपर सीधे दक्षिण चरणको भलीप्रकार स्थापन करके और तिसीप्रकार सीधे वाम चरणको दक्षिण जंघाके ऊपर भलीप्रकार स्थापन करके और पृष्ठभागसे जो विधि उससे दोनों हाथोंसे दृढ रीति चरणोंके अँगूठोंको ग्रहण (पकड) कर अर्थात् पृष्ठपर किये दक्षिणहाथसे वाम

जंघापर स्थित दक्षिण चरणके अँगूठेको ग्रहण करके और पृष्ठपर किये वाम हाथसे दक्षिण जंघापर स्थित वाम चरणके अँगूठेको ग्रहण करके और हृदयके समीप चार अंगुलके अंतर चिबुक (हनु वा टोडी) रखकर अपनी नासिकाके अग्रभागको देखता रहे अर्थात् ऐसी स्थिति जिसमें हो यह योगियोंकी संपूर्ण व्याधियोंका विनाशकारक पद्मासन सिद्धोंने कहा है अर्थात् इस आसनके लगानेसे संपूर्ण व्याधि नष्ट होती है ॥ ४४ ॥

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ॥
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥ ४५ ॥

मत्स्येंद्रनाथाभिमतं पद्मासनमाह-उत्तानाविति ॥ उत्तानौ ऊरुसंलग्नपृष्ठभागौ चरणौ पादौ प्रयत्नतः प्रकृष्टाद्यत्नादूरुसंस्थावूर्वोः सम्यक् तिष्ठत इत्यूरुसंस्थौ तादृशौ कृत्वा। ऊर्वोर्मध्ये ऊरुमध्ये। तथा चार्थे। पाणी करावुत्तानौ कृत्वा। ऊरुसंस्थोत्तानपादोभयपार्ष्णिसंलग्नपृष्ठं सव्यं पाणिमुत्तानं कृत्वा। तदुपरि दक्षिणं पाणिं चोत्तानं कुर्वेत्यर्थः, ततस्तदनंतरं। दृशौ दृष्टी ॥ ४५ ॥

भाषार्थ-अब मत्स्येंद्रनाथके कहे पद्मासनको कहते हैं कि, उत्तान चरणोंको बडे यत्नसे जंघाओंपर स्थित करके अर्थात् जंघाओंपर लगा है पृष्ठभाग जिनका ऐसे चरणोंको उत्तम यत्नसे जंघाओंपर स्थित करके और जंघाओंके मध्यमें उत्तान (सीधे) हाथोंको रखकर तात्पर्य यह है कि, जंघाओंपर स्थित जो चरणोंकी दोनों पार्ष्णि उसमें लगा है पृष्ठभाग जिसका ऐसे वामहाथको उत्तान करके और उसके ऊपर दक्षिण पार्ष्णिको उत्तान करके और फिर दृष्टि (नेत्रों) को ॥ ४५ ॥

नासाग्रे विन्यसेद्राजदंतमूले तु जिह्वया ॥
उत्तंभ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥ ४६ ॥

नासाग्र इति। नासाग्रे नासिकाग्रे विन्यसेद्विशेषेण निश्चलतया न्यसेदित्यर्थः ॥ राजादंतानां दंष्ट्राणां सव्यदक्षिणभागे स्थितानां मूले उभे मूलस्थाने जिह्वया उत्तंभ्य ऊर्ध्वं स्तंभयित्वा। गुरुमुखादवगंतव्योऽयं जिह्वाबंधः चिबुकं वक्षसि निधायेति शेषः। शनैर्मंदंमंदं पवनं वायुमुत्थाप्य। अनेन मूलबंधः प्रोक्तः। मूलबंधोऽपि गुरुमुखादेवावगंतव्यः वस्तुतस्तु जिह्वाबंधेनैवायं चरितार्थ इति हठरहस्यविदः ॥ ४६ ॥

भाषार्थ-अपनी नासिकाके अग्रभागमें नित्यरूपसे लगा दे और राजदन्तों (दाड) के मूलोंको जिह्वासे ऊपर स्तंभन (थांबना) करके और चिबुकको वक्षस्थलपर रखकर यह जिह्वाका बन्धन गुरुके मुखसे जानने योग्य है-और शनैः २ पवनको उठाकर इससे मूलबन्ध कहा है यह भी गुरुके मुखसेही जानने योग्य है हठरहस्य (सिद्धांत वा तत्त्व) के ज्ञाता तो यह कहते हैं कि, जिह्वाके बन्धसेही मूलबन्ध हो सकता है ॥ ४६ ॥

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ॥४७॥

इदमिति ॥ एवं यत्रास्यते तदिदं पद्मासनं पद्मासनाभिधानं प्रोक्तम् । आसनज्ञैरिति शेषः । कीदृशं सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनं येन-केनापि भाग्यहीनेन दुर्लभम् । धीमता भुवि भूमौ लभ्यते प्राप्यते ॥४७॥

भाषार्थ-इस पूर्वोक्त प्रकारसे आसन लगाकर जहां बैठे वह संपूर्ण व्याधियोंका नाशक योगिजनोंने पद्मासन कहा है और दुर्लभ आसन जिसकिसी बुद्धिमान् मनुष्योंको पृथिवीमें मिलता है अर्थात् विरलाही कोई इसको जानता है । अथवा जिस किसी मूर्खको दुर्लभ है और बुद्धिमानको तो भूमिके विषे मिलसकता है ॥ ४७ ॥

कृत्वासंपुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि ॥
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं
न्यंचन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥४८॥

एतच्च महायोगिसंमतमिति स्पष्टयितुमन्यदपि पद्मासने कृत्यविशेष-माह-कृत्वेति ॥ संपुटितौ संपुटीकृतौ करावुत्संगस्थाविति शेषः । दृढ-तरमतिशयेन दृढं सुस्थिरं पद्मासनं बद्ध्वा कृत्वेत्यर्थः । चिबुकं हनुं गाढं दृढं यथा स्यात्तथा वक्षसि वक्षःसमीपे संनिधाय सानाहितं कृत्वा चतुरंगुलांतरेणेति योगिसंप्रदायाज्ज्ञेयम् । जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः । तस्त्वस्वेष्टदेवतारूपं ब्रह्म वा । ओंतत्पदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' इति भगवदुक्तेः । चेतसि चित्ते ध्यायन् चिंतयन् । अपान-मनिलम् अपानवायुं ऊर्ध्वं प्रोत्सारयन्मूलबंधं कृत्वा सुषुम्नामार्गेण प्राणमूर्ध्वं नयन् पूरितं पूरकेण अंतर्धारितं प्राणं न्यंचन्नीचैर-ञ्चयन् गमयन् । अंतर्भावितण्यर्थोऽञ्चतिः । प्राणापानयोरैक्य-

कृत्वेत्यर्थः । नरः पुमानतुलं बोधं निरुपमज्ञानं शक्तिप्रभावाच्छक्तिराधारशक्तिः कुंडलिनी तस्याः प्रभावात्सामर्थ्यादुपैति प्राप्नोति । प्राणापानयोरैक्ये कुंडलीनीबोधो भवति । कुंडलिनीबोधे सुषुम्नमार्गेण प्राणो ब्रह्मरध्रं गच्छति । तत्र गते चित्तस्थैर्यं भवति चित्तस्थैर्ये संयमादात्मसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

भावार्थ-यह पद्मासन बडे २ योगियोंको संमत है इस बातको स्पष्ट करते हुऐ ग्रंथकार पद्मासनके विषे अन्य भी कृत्यको कहते हैं कि, दोनों हाथोंको संपुटित करके उत्संग (गोदी) में स्थित करके और दृढरीतिसे पद्मासनको बांधकर और चिबुकको दृढरीतिसे वक्षःस्थलके समीप करके-यह चार अंगुलका अंतर योगियोंकी संप्रदायसे जानना-अर्थात् इस पूर्वोक्त प्रकारसे जालंधर बन्धको करके उस २ अपने इष्टदेव वा ब्रह्मका चित्तके विषे वारंवार ध्यान करता हुआ योगी ओं तत् सत् यह तीन प्रकारका ब्रह्मनिर्देश (रूप) कहा है क्योंकि यह भगवान्ने गीतामें कहा है। अपानवायुको ऊपरको प्रोत्सारित (चढाता) करता और मूल बंधको करके सुषुम्नाके मार्गसे प्राणवायुको ऊपरको चढाता हुआ और पूरित कियेअर्थात् पूरक प्राणायामसे अंतर्धारण किये प्राणवायुको नीचे गमन करता हुआ-अर्थात् प्राण और अपानकी एकताको करके मनुष्य शक्ति (आधारशक्ति कुन्डलिनी) के प्रभावसे सर्वोत्तम ज्ञानको प्राप्त होता है-अर्थात् प्राण अपानकी एकताके होनेसे कुन्डलिनीका बोध (प्रकाश) होता है कुन्डलिनीका बोध होनेपर सुषुम्नाके मार्गसे प्राण ब्रह्मरंध्रमें प्राप्त होजाता है और उसमें जानेसे चित्तकी स्थिरता होजाती है-चित्तकी स्थिरता होनेपर संयमसे आत्माका साक्षात्कार होता है अर्थात् आत्मज्ञान होजाता है। भावार्थ यह है कि, दोनों हाथ संपुटित-और भलीप्रकार दृढ पद्मासन लगाय और अपने वक्षःस्थलपर चिबुकको लगाकर और उसमें वारंवार इष्टदेवका ध्यान करता हुआ और अपान वायुको ऊपरको पहुँचाता और पूरित किये प्राण वायुको नीचेको करता हुआ मनुष्य शक्तिके प्रभावसे उत्तम ज्ञानको प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम् ॥
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ४९ ॥

पद्मासन इति-पद्मासने स्थितो योगी योगाभ्यासी पूरितं पूरकेणांतर्नीतं मारुतं वायुं सुषुम्नामार्गेण मूर्धानम् । नीत्वेति शेषः । धारयेत्स्थिरीकुर्यात्स मुक्तः । अत्र संशयो नास्तीत्यन्वयः ॥ ४९ ॥

भाषार्थ-पद्मासनमें स्थित योगका अभ्यासी नाडीवेद्वारा पूरित अर्थात् पूरकसे अंतर्गत (मध्यमें) किये वायुको सुषुम्नाके मार्गसे मस्तक पर्यंत पहुँचाकर जो स्थिर करै वह मुक्त है इसमें संशय नहीं है ॥ ४९ ॥

अथ सिंहासनम् ।

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्या पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ॥५०॥

सिंहासनमाह-गुल्फौ चेति ॥ वृषणस्याधः अधोभागे सीवन्याः पार्श्वयोः सीवन्या उभयभागयोः क्षिपेत्प्रेरयेत्स्थापयेदिति यावत् । गुल्फस्थापनप्रकारमेवाह-दक्षिण इति । सीवन्या दक्षिणे भागे सव्यगुल्फं स्थापयेत् सव्यके सीवन्याः सव्यभागे दक्षिणगुल्फं स्थापयेत् ॥ ५० ॥

भाषार्थ-अब सिंहासनका वर्णन करते हैं कि, वृषणों (अंडकोष) के नीचे सीवनी नाडीके दोनों पार्श्वभागोंमें गुल्फोंको लगावे और दक्षिण पार्श्वमें वाम गुल्फको और वाम पार्श्वमें दक्षिणगुल्फको लगावें ॥ ५० ॥

हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीः संप्रसार्य च ॥
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥ ५१ ॥

हस्ताविति ॥ जान्वोरुपरि हस्तौ तु संस्थाप्य सम्यक् जानुसंलग्नतलौ यथा स्यातां तथा स्थापयित्वा । स्वांगुलीः हस्तांगुलीः संप्रसार्य सम्यक् प्रसारयित्वा । व्यात्तवक्त्रः संप्रसारितललज्जिह्वमुखः सुसमाहितः एकाग्रचित्तः नासाग्रं नासिकाग्रं यस्मिन्निरीक्षेत ॥ ५१ ॥

भाषार्थ-और जानुओंके ऊपर हाथोंके तलोंको भलीप्रकार लगाकर और अपने हाथोंकी अंगुलियोंको प्रसारित करके अर्थात् फैलाकर-चंचल है जिह्वा जिसमें ऐसे मुखको वा (खोल) कर भलीप्रकार सावधान हुआ मनुष्य अपनी नासिकाके अग्रभागको देखे ॥ ५१ ॥

सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुंगवैः ॥
बन्धत्रितयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥ ५२ ॥

सिंहासनमिति । एतत्सिंहासनं भवेत् । कीदृशं योगिपुंगवैः योगिश्रेष्ठैः पूजितं प्रस्तुतमासनेषूत्तमं सिंहासनं बंधानां मूलबंधादीनां त्रितयं तस्य संधानं संनिधानं कुरुते ॥ ५२ ॥

भाषार्थ–योगियोंमें जो श्रेष्ठ उनका पूजित यह सिंहासन होता है और संपूर्ण आसनोंमें उत्तम यह आसन मूलबंध आदि तीनों बंधोंके संधान (संनिधान वा प्रकट) को करता है ॥ ५२ ॥

अथ भद्रासनम्।

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥ ५३ ॥

भद्रासनमाह–गुल्फाविति ॥ वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः सीवन्या उभयतः । गुल्फौ पादग्रंथी क्षिपेत । क्षेपणप्रकारमेवाह–सव्यगुल्फमिति । सव्ये सीवन्याः पार्श्वे सव्यगुल्फं क्षिपेत् । तथा पादपूरणे । दक्षगुल्फं तु दक्षिणे सीवन्याः पार्श्वे क्षिपेत् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ–अब भद्रासनका वर्णन करते हैं कि, वृषणोंके नीचे सीवनीके दोनों पार्श्वभागोंमें इसप्रकार गुल्फोंको रक्खे कि, वामगुल्फको सीवनीके वामपार्श्वमें और दक्षिणगुल्फको दक्षिणपार्श्वमें लगाकर स्थित करे ॥ ५३ ॥

पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां बद्ध्वा सुनिश्चलम् ॥
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ ५४ ॥

पार्श्वपादाविति ॥ पार्श्वपादौ च पार्श्वसमीपगतौ पादौ पाणिभ्यां भुजाभ्यां दृढं बद्ध्वा । परस्परसंलग्नांगुलिभ्यामुरस्संलग्नतलाभ्यां पाणिभ्यां बद्ध्वेत्यर्थः । एतद्भद्रासनं भवेत् । कीदृशं सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनम् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ–और सीवनीके पार्श्वभागोंके समीपमें गये पादोंको भुजाओंसे दृढ बांधकर अर्थात् परस्पर मिलीहुई जिनकी अंगुलि हों और जिनका तल हृदयपर लगा हो ऐसे हाथोंसे निश्चल रीतिसे थामकर जिसमें स्थित हो संपूर्ण व्याधियोंका नाशक वह भद्रासन होता है ॥ ५४ ॥

गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः ॥
एवमासनबंधेषु योगींद्रो विगतश्रमः ॥ ५५ ॥

गोरक्षेति ॥ सिद्धाश्च ते योगिनश्च सिद्धयोगिनः इदं भद्रासनं गोरक्षासनमित्याहुः । गोरक्षेण प्रायशोऽभ्यस्तत्वाद्गोरक्षासनमिति वदंति। आसनान्युक्तानि । तेषु यत्कर्तव्यं तदाह । एवमिति । एवमुक्तेष्वासन-

बंधेषु बंधनप्रकारेषु विगतः श्रमो यस्य स विगतश्रम आसनानां बंधेषु श्रमरहितः। योगिनामिंद्रो योगींद्रः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ-और सिद्ध जो योगी हैं वे इसकोही गोरक्षासन कहते हैं अर्थात् पूर्वोक्त गोरक्षनाथने प्रायः इसका अभ्यास किया है इससे इसको गोरक्षासन कहते हैं आसनोंको कहकर उनके कर्तव्यको कहते हैं कि, इसप्रकार आसनोंके बांधनेसे विगत (नष्ट) है श्रम जिसका ऐसा योगीन्द्र (श्रेष्ठयोगी)-॥ ५५ ॥

अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रियाम् ॥
आसनं कुंभकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा ॥५६॥

अभ्यसेदिति ॥ नाडिकानां नाडीनां शुद्धिम्। 'प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितम्' इति वक्ष्यमाणरूपा मुद्रा आदिर्यस्याः सूर्यभेदादेस्तादृशीम्। पवनस्य प्राणवायोः क्रियां प्राणायामरूपां चाभ्यसेत्। अथ हठाभ्यसनक्रममाह-आसनमिति ॥ आसनमुक्तलक्षणं चित्रं नानाविधं कुंभकं 'सूर्यभेदनमुज्जायी' इत्यादिवक्ष्यमाणम्। मुद्रा इत्याख्या तस्य तन्मुद्राख्यं महामुद्रादिरूपकरणं हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकम्। तथा चार्थे ॥ ५६ ॥

भाषार्थ-नाडियोंकी शुद्धिका अभिलाषी और नियमित (रुके) प्राणको इडा नामकी नाडीसे पीवै आगे कही हुई यह मुद्रा है आदिमें जिसके ऐसी प्राणवायुकी क्रिया (प्राणायाम) का अभ्यास करै। अब हठाभ्यासके क्रमको कहते हैं कि, पूर्वोक्त आसन और चित्र (नानाप्रकारका) कुम्भक प्राणायाम और मुद्रा है नाम जिसका ऐसा करण ये हठ सिद्धिमें प्रकृष्ट (उत्तम) उपकारी हैं इस श्लोकमें तथाशब्द च शब्दके अर्थमें है ॥ ५६ ॥

अथ नादानुसंधानमभ्यासानुक्रमो हठे ॥
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ॥
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्रकार्या विचारणा ॥५७॥

अथेति ॥ अथैतत्त्रयानुष्ठानानंतरं नादस्यानाहतध्वनेरनुसंधानमनुचिंतनं हठे हठयोगेऽभ्यासोऽभ्यसनं तस्यानुक्रमः पौर्वापर्यक्रमः। हठसिद्धेरवधिमाह-ब्रह्मचारीति। ब्रह्मचर्यवान् मिताहारो वक्ष्यमाणः सोऽस्यास्तीति मिताहारी त्यागी दानशीलो विषयपरित्यागी वा योगपरायणः योगाभ्यासनपरः। अब्दाद्वर्षादूर्ध्वं सिद्धः सिद्धहठो

भवेत् । अत्रोक्तेऽर्थे विचारणा स्यान्न वेति संशयप्रयुक्ता न कार्या । एतन्निश्चितमेवेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ-इन पूर्वोक्त आसन आदि तीनोके करनेके अनंतर नादका अनुसंधान (चिंतन) अर्थात् कानोंको दबाकर जो अनाहत ताडनाके विना ध्वनि सदैव अन्तः होती रहती हैं उसका विचार यह सम्पूर्ण हठयोगमें अभ्यासका क्रम है अर्थात् इस क्रमसे हठयोगका अभ्यास करे । अब हठयोगकी सिद्धिकी अवधिको कहते हैं कि ब्रह्मचारी और प्रमित भोजी त्यागी (दानी वा विषयोंका त्यागी) योगमें परायण (योगका अभ्यासी) मनुष्य एक वर्षके अनंतर सिद्ध होजाता है इसमें यह विचार नहीं करना कि होगा वा न होगा अर्थात् निश्चयसे सिद्ध होजाता है ॥ ५७ ॥

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ॥

भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥ ५८ ॥

पूर्वश्लोके मिताहारीत्युक्तं तत्र योगिनां कीदृशो मिताहार इत्यपेक्षायामाह-'सुस्निग्धेति॥' सुस्निग्धोऽतिस्निग्धः स चासौ मधुरश्च तादृश आहारश्चतुर्थांशविवर्जितश्चतुर्थभागरहितः । तदुक्तमभियुक्तैः-'द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् । वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्' इति । शिवो जीव ईश्वरो वा । 'भोक्ता देवो महेश्वरः' इति वचनात् । तस्य संप्रीत्यै सम्यक् प्रीत्यर्थं यो भुज्यते स मिताहार इत्युच्यते ।५८।

भाषार्थ-पूर्व श्लोकमें जो मिताहारी कहाहै उसके लिये योगियोंके मिताहारको कहते हैं कि, भलीप्रकार स्निग्ध (चिकना) और मधुर जो आहार वह चतुर्थांशसे रहित जिस भोजनमें शिवजी (जीव वा ईश्वर) के प्रीतिके अर्थ भक्षण किया जाय वह मिताहार कहाता है सोई इस वचनसे पंडितोंने कहाहै कि, उदरके दो भाग अन्नसे पूर्ण करै (भरै) और एक भागको जलसे पूर्ण करै और चौथे भागको प्राण वायुके चलनेके लिये शेष रक्खे और देव जो महेश्वर वह भोक्ता है देह नहीं ॥ ५८ ॥

कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाकसौवीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्यान् ॥ आजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोलपिण्याकहिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥ ५९ ॥

अथ योगिनामपथ्यमाह द्वाभ्याम्-कट्विति ॥ कटु कारवेल्ल इत्यादि अम्लं चिंचाफलादि तीक्ष्णं मरीचादि लवणं प्रसिद्धम् उष्णं गुडादि

हरितशाकं पत्रशाकं सौवीरं कांजिकं तैलं तिलसर्षपादिस्नेहः तिलाः प्रसिद्धाः सर्षपाः सिद्धार्थाः मद्यं सुरा मत्स्यो झषः। एषामितरेतरद्वंद्वः। एतानपथ्यानाहुः। अजस्येदमाजं तदादिर्यस्य सौकरादेस्तदाजादि तच्च तन्मांसं चाजादिमांसं दधि दुग्धपरिणामविशेषः तक्रं गृहीतसारं दधि कुलत्थादिर्द्विदलविशेषः कोलं कोल्याः फलं बदरम्। 'कर्कन्धूर्बदरी कोलिः' इत्यमरः। पिण्याकं तिलपिंडं हिंगु रामठं लशुनम्। एषामितरेतरद्वंद्वः। एतान्याद्यानि यस्य तत्तथा। आद्यशब्देन पलांडुगृंजनमादकद्रव्यमाषान्नादिकं ग्राह्यम्। अपथ्यमहितम्। योगिनामिति शेषः। आहुर्योगिन इत्यध्याहारः ॥ ५९ ॥

भाषार्थ–अब दो श्लोकोंसे योगियोंके अपथ्यको कहते हैं कि, करेला आदि कटु और इमली आदि अम्ल (खट्टा) और मिर्च आदि तीक्ष्ण लवण और गुड आदि उष्ण और हरित शाक (पत्तोंका शाक) सौवीर (कांजी) तैल तिल मदिरा मत्स्य इनको अपथ्य कहते हैं और अजा (बकरी) आदिका मांस दही तक्र (मठा) कुलथी कोल (बेर) पिण्याक (खल) हींग लहसन ये सब हैं आद्य (पूर्व) जिनके ऐसे पलांडु (सलगम) गाजर मादक द्रव्य उडद ये सब योगीजनोंने योगियोंके अपथ्य कहे हैं ॥ ५९ ॥

भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रूक्षम् ॥
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम् ॥ ६० ॥

भोजनमिति ॥ पश्चादग्निसंयोगेनोष्णीकृतं यद्भोजनं सूपौदनरोटिकादि रूक्षं घृतादिहीनम् अतिशयितं लवणं यस्मिंस्तदतिलवणं यद्वा लवणमतिक्रांतमतिलवणं चाक्रूवा इति लोके प्रसिद्धं शाकं यवक्षारादिकं च। लवणस्य सर्वथा वर्जनीयत्वादुत्तरपक्षः साधुः। तथा दत्तात्रेयः–'अथ वर्ज्यानि वक्ष्यामि योगविघ्नकराणि च लवणं सर्षपं चाम्लमुग्रं तीक्ष्णं च रूक्षकम् ॥ अतीव भोजनं त्याज्यमतिनिद्रातिभाषणम्।' इति स्कंदपुराणेऽपि–'त्यजेत्कट्वम्ललवणं क्षीरभोजी सदा भवेत्' इति। अम्लयुक्तमम्लद्रव्येण युक्तम्। अम्लद्रव्येण युक्तमपि त्याज्यं किमुत साक्षादम्लम्। अत्र तृतीयपादं पललं वा तिलपिण्डमिति केचित्पठंति तस्यायमर्थः। पललं मांसं तिलपिण्डं पिण्याकं कदशनं कदन्नं यावनालकोद्रवादि शाकं विहितेतरशाकमात्रम्। उत्कटं विदाहि मिरचोति लोके प्रसिद्धम्। मिरचा इति हिंदुस्थानभाषायाम्। कदशनादीनां समाहारद्वंद्वः। अतिलवणादिकं वर्ज्यं वर्जनार्हम्। दुष्टमिति

पाठे दुष्टं पूतिपर्युषितादि। अहितमिति योजनीयम् ॥ ६० ॥

भावार्थ-और इस योगीको ये भोजन अहित है कि, अग्निके संयोगसे पुनः (दुबारा) उष्ण किया जो दाल चावल आदि और रूखा अर्थात् घृत आदिसे रहित जिसमें अधिक लवण हो वा जो लवणका भी अरुंतुदकारी हो जैसे चाकूका नामका शाक वा जौंका खार न दोनों पक्षोंमें इससे उत्तरपक्ष श्रेष्ठ है कि, लवण सर्वथा वर्जित है सोई दत्तात्रेयने कहा है कि, इसके अनंतर वर्जितोंको और इस योगमें विघ्नकारियोंको कहताहूँ कि लवण सरसों आम्ल उग्र (सौहांजना) तीक्ष्ण रूखा अत्यन्त भोजन ये भोजन और अत्यन्त निद्रा और अत्यंत भाषण ये त्याज्य हैं। स्कंदपुराणमें भी लिखा है कि, कटु, अम्ल, लवण इनको त्यागदे और सदैव दूधका भोजन करे। अम्लसे युक्त भी पदार्थ त्यागने योग्य है तो साक्षात् अम्ल क्यों न होगा। इसमें तीसरा पद कोई यह पढते हैं कि, पललं वा तिलपिंड यह अर्थ है कि मांस और खलको वर्जदे और कुत्सित अन्न (यावनाल कोदूआदि) और शास्त्रोक्तसे अन्य शाक और उत्कट (विदाहि) जिससे उदरमें जलन हो ऐसे मिर्च आदि ये सब अति लवण आदि वर्जित हैं। और वर्ज्य इसके स्थानमें दुष्ट यह पाठ होय तो वह दुष्ट पूति (दुर्गंधि) और पर्युषित (बासी) आदिभी अहित है ॥ ६० ॥

वह्निस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ॥६१॥
तथाहि गोरक्षवचनम्-
"वर्जयेद्दुर्जनप्रांतं वह्निस्त्रीपथिसेवनम्।
प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा" ॥

एवं योगिना सदा वर्ज्यान्युक्त्वाभ्यासकाले वर्ज्यान्याहार्धेन-वह्नीति ॥ वह्निश्च स्त्री च पंथाश्च तेषां सेवा वह्निसेवनस्त्रीसंगतीर्थयात्रा-गमनादिरूपास्तासां वर्जनमादावभ्यासकाल आचरेत्। सिद्धेऽभ्यासे तु कदाचित्। शीते वह्निसेवनं गृहस्थस्य ऋतौ स्वभार्यागमनं तीर्थयात्रादौ मार्गगमनं च न निषिद्धमित्याद्विपदेन सूच्यते। तत्र प्रमाणं गोरक्षवचनमवतारयति-तथाहीति तत्पठति-वर्जयेति। दुर्जन-प्रांतं दुर्जनसमीपवासम्। दुर्जनप्रीतिमिति क्वचित्पाठः। वह्निस्त्रीपथि सेवनं व्याख्यातं प्रातःस्नानं उपवासश्चादिर्यस्य फलाहारादेः तच्च तथोः रामाहारद्वंद्वः। प्रयत्नभ्यासिनः प्रातःस्नाने शीतविकारोत्पत्तेः। उपवा-

सादिना पित्ताद्युत्पत्तेः । कायक्लेशविधिं कायक्लेशकरं विधिं क्रियां बहुसूर्यनमस्कारादिरूपां बहुभारोद्वहनादिरूपां च । तथा समुच्चये । अत्र प्रतिपदं वर्जयेदिति क्रियासंबंधः ॥ ६१ ॥

भावार्थ–इसप्रकार योगियोंको जो सदैव कालमें वर्जित हैं उनको कहकर योगके समयमें जो वार्जित हैं उनको कहते हैं कि, वह्नि स्त्री मार्ग इनकी सेवा अर्थात् अग्निकी सेवा स्त्रीसंग तीर्थयात्रागमन इनका वर्जन अभ्यासके समयमें करै और अभ्यासके सिद्ध होनेपर कदाचित्ही वर्जदे। शीतकालमें अग्निका सेवन गृहस्थको ऋतुके समय स्वभार्यागमन और तीर्थयात्रा आदिमें मार्ग गमन निषिद्ध नहीं है यह आदि पदसे सूचित किया। उसमें प्रमाणरूप गोरक्षका वचन कहते हैं कि, दुर्जनके समीपका वास और कहीं यह पाठ है कि, दुर्जनके संग प्रीति और अग्नि स्त्री मार्ग इनका सेवन और प्रातःकालस्नान और उपवास आदि। यहां आदि पदसे फलाहार और कायाके क्लेशकी विधिको अर्थात् अनेकवार सूर्यनमस्कार आदिको और अधिक भारका लेजाना आदिको वर्जदे। इस श्लोकमें तथा पद समुच्चयका बोधक है ॥ ६१ ॥

गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नंक्षीराज्यखंडनवनीत-
सितामधूनि ॥ शुंठीपटोलकफलादिकपंचशाकंमुद्गादि-
दिव्यमुदकंच यमींद्रपथ्यम् ॥ ६२ ॥

अथ योगिपथ्यमाह–गोधूमेत्यादिना ॥ गोधूमाश्च शालयश्च यवाश्च षाष्टिकाः षष्ट्या दिनैर्ये पच्यंते तंदुलविशेषास्ते शोभनमन्नं पवित्रान्नं श्यामाकनीवारादि तच्चैतेषां समाहारद्वंद्वः । क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं खंडः शर्करा नवनीतं मथितदधिसारं । सिता तीव्रपदी खंडशर्करेति लोके प्रसिद्धा मिसरीति हिंदुस्थानभाषायाम् । मधु क्षौद्रमेषामितरेतरद्वंद्वः । शुंठी प्रसिद्धा पटोलफलं परवर इति भाषायां प्रसिद्धं शाकं तदादिर्यस्य कौशातक्यादेस्तत्पटोलकफलादिकं "शेषाद्विभाषा" इति कप्प्रत्ययः । पंचानां शाकानां समाहारः पंचशाकम् । तदुक्तं वैद्यके–'सर्वशाकमचाक्षुष्यं चाक्षुष्यं शाकपंचकम् । जीवंतीवास्तुमूल्याक्षी मेघनादपुनर्नवा' ॥ इति । मुद्गा द्विदलविशेषा आदिर्यस्य तन्मुद्गादि आदिपदेन आढकी ग्राह्या । दिव्यं निर्दोषमुदकं जलम् । यम एषामस्तीति यमिनः तेष्विंद्रः देवश्रेष्ठो योगींद्रस्तस्य पथ्यं हितम् ॥ ६२ ॥

सिता (मिसरी) मधुर (सहत) सूँठ पटोल फल (परवल) आदि, पांच शाक मूंग आदि, पदसे आढकी और दिव्य जल अर्थात् निर्दोष जल ये योगियोंमें जो इंद्र हैं उनके पथ्य हैं वैद्यकमें भी ये पांच शाक पथ्य कहे हैं कि, संपूर्ण शाक आचाक्षुष्य हैं अर्थात् नेत्रोंको हितकारी नहीं हैं किंतु ये पांच शाकही चाक्षुष्य हैं कि, जीवन्ती वास्तु (वथुवा) मूल्याक्षी मेघनाद और पुनर्नवा ॥ ६२ ॥

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ॥
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥ ६३ ॥

अथ योगिनो भोजननियममाह—पुष्टमिति ॥ पुष्टं देहपुष्टिकरमोदनादि सुमधुरं शर्करादिसहितं स्निग्धं सघृतं गव्यं गोदुग्धघृतादियुक्तं गव्यालाभे माहिषं दुग्धादि ग्राह्यम्। धातुप्रपोषणं लड्डुकापूपादि मनोभिलषितं पुष्टादिषु यन्मनोऽभिलषितं तदेव योगिना भोक्तव्यम्। मनोभिलषितमपि किमविहितं भोक्तव्यं नेत्याह—योग्यमिति। विहितमेवेत्यर्थः। योगी भोजनं पूर्वोक्तविशेषेण विशिष्टमाचरेत्कुर्यादित्यर्थः। न तु सक्तुभर्जितान्नादिना निर्वाहं कुर्यादिति भावः ॥ ६३ ॥

भावार्थ—अब योगिके भोजनोंका नियम कहते हैं कि ओदन आदि देह पुष्टिकारक और शर्करा आदि मधुर और घृतसहित भोजन और दुग्ध आदि गव्य यदि गौके घृत आदि न मिले भैंसके ग्रहण करने और धातुपोषक (लड्डू पूआ आदि) इनमें जो अपने मनको वाञ्छित हो उस योग्य अर्थात् शास्त्रविहित भोजनको योगी करै और सत्तु भुने अन्न आदिसे निर्वाह न करै ॥ ६३ ॥

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोपि वा ॥
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतंद्रितः ॥ ६४ ॥

योगाभ्यासिनो वयोविशेषारोग्याद्यपेक्षा नास्तीत्याह—युवेति ॥ युवा तरुणः वृद्धो वृद्धावस्थां प्राप्तः अतिवृद्धोऽतिवार्द्धकं गतो वा। अभ्यासादासनकुंभकादीनामभ्यसनात्सिद्धिं समाधितत्फलरूपामाप्नोति अभ्यासप्रकारमेवे वदन्विशिनष्टि—सर्वयोगेष्विति सर्वेषु योगेषु योगांगेष्वतंद्रितोऽनलसः योगांगाभ्यासात्सिद्धिमाप्नोतीत्यर्थः। जीवनसाधने कृषिवाणिज्यादौ जीवनशब्दप्रयोगवत्साक्षात्परंपरया वा योगसाधनेषु योगांगेषु योगशब्दप्रयोगः ॥ ६४ ॥

भावार्थ—अब इस बातका वर्णन करते हैं कि, योगके अभ्यासीको अवस्था विशेष और दुर्बल आरोग्य आदिकी अपेक्षा नहीं है कि, युवा हो वृद्ध वा अतिवृद्ध हो रोगी हो वा

अभ्याससे आसन कुम्भक आदिके करनेसे समाधि और उसके फलको प्राप्त होता है। अभ्यासके स्वरूपको कहते हैं कि, सम्पूर्ण जो योगके अंग उनमें आलस्य न करै यहां योगके साधन योगांगोंमें इसप्रकार योग शब्दका प्रयोग है जैसे जीवनके साधन कृषि वाणिज्य आदिमें जीवनशब्दका प्रयोग होता है ॥ ६४ ॥

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ॥
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥ ६५ ॥

अभ्यासादेव सिद्धिर्भवतीति द्रढयन्नाह द्वाभ्याम् - क्रियायुक्तस्येति ॥ क्रिया योगांगानुष्ठानरूपा तया युक्तस्य सिद्धियोंगसिद्धिः स्यात् । अक्रियस्य योगांगानुष्ठानरहितस्य कथं भवेन्न कथमपीत्यर्थः । ननु योगशास्त्राध्ययनेन योगसिद्धिः स्यान्नेत्याह—नेति ॥ शास्त्रस्य योगशास्त्रस्य पाठमात्रेण केवलेन पाठेन योगस्य सिद्धिर्न प्रजायते नैव जायत इत्यर्थः ॥६६॥

भाषार्थ--अब अभ्याससे सिद्धि होती है इस बातको दृढ करनेके लिये दो २ श्लोकोंको कहते हैं कि, योगांगोंके करनेमें जो युक्त उस पुरुषको योगसिद्धि होती है और जो योगांगोंको नहीं करता उसको योगकी सिद्धि नहीं होती कदाचित् कहो कि, योगशास्त्रके पढनेसे सिद्धि होजायगी सो ठीक नहीं क्योंकि योगशास्त्रके केवल पढनेसे योगसिद्धि नहीं होती ॥ ६५ ॥

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा ॥
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ॥ ६६ ॥

नेति ॥ वेषस्य काषायवस्त्रादेः धारणं सिद्धेर्योगसिद्धेः कारणं न । तस्य योगस्य कथा वा कारणं न । किं तर्हि सिद्धेः कारणमित्यत आह क्रियैवेति ॥ ६६ ॥

भाषार्थ--गेरूसे रंगे वस्त्र आदिका धारण सिद्धिका कारण नहीं और योगशास्त्रकी कथा भी सिद्धिका कारण नहीं यह सत्य है इसमें संशय नहीं ॥ ६६ ॥

पीठानि कुंभकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ॥
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ॥ ६७ ॥

इति श्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयोगीन्द्र-
विरचितायां हठयोगप्रदीपिकायामासनविधिकथनं
नाम प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

योगांगानुष्ठानस्यावधिमाह–पीठानीति ॥ पीठान्यासनानि चित्रा अनेकविधाः कुंभकाः सूर्यभेदादयः दिव्यान्युत्कृष्टानि करणानि महामुद्रादीनि हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकत्वं कारणत्वं हठाभ्यासे सर्वाणि पीठकुंभककरणानि राजयोगफलावधि राजयोग एव फलं तदवधि तत्पर्यंतं कर्तव्यानीति शेषः ॥ ६७ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां टीकायां प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

भाषार्थ–अब योगांगोंके करनेकी अवधिको कहते हैं कि, पूर्वोक्त आसन और अनेक प्रकारके कुम्भक आदि प्राणायाम महामुद्रा आदि दिव्य करण ये संपूर्ण हठयोगके अभ्यासमें राजयोगके फलपर्यंत करने योग्य हैं अर्थात् ये राजयोगमें प्रकृष्ट उपकारक हैं क्योंकि प्रकृष्ट जो उपकारक वही करण होता है ॥ ६७ ॥

इति श्रीसहजानंदसंतानचिन्तामणिस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितहठयोगप्रदीपिकायां लॉखग्रामनिवासि पं. मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृतिसहितायामासनविधिकथनं नाम प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोपदेशः २.

अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥ १ ॥

अथासनोपदेशानंतरं प्राणायामान्वक्तुमुपक्रमते–अथेति ॥ अथेति मंगलार्थः । आसने दृढे सति वशी जिताक्षः हितं पथ्यं च तन्मितं च पूर्वोपदेशोक्तलक्षणं तत्तादृशमशनं यस्य स हितमिताशनः गुरुणोपदिष्टो यो मार्गः प्राणायामाभ्यासप्रकारस्तेन प्राणायामान् वक्ष्यमाणान्सम्यगुत्साह साहसधैर्यादिभिरभ्यसेत् । दृढे स्थिरे कुक्कुटादिविवर्जिते सिद्धासनादाविति वा योजना ॥ १ ॥

भाषार्थ-- आसनों के उपदेशको कहकर प्राणायामोंके कहनेका प्रारंभ करते हैं । इस श्लोकमें अथ शब्द मंगलके लिये है वा अनंतरका वाचक कहे इसके अनंतर आसनोंकी दृढता होनेपर जीती है इंद्रियें जिसने हित (पथ्य) और पूर्वोक्त प्रमित है भोजन जिसका ऐसा योगी गुरुके उपदेश किये मार्गसे आगे वर्णन किये प्राणायामोंका भलीप्रकार अभ्यास करै--अर्थात् उत्साह--साहस--धीरता आदिसे प्राणायामोंके करनेमें मनको लगावै ॥ १ ॥

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥ २ ॥

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते' इति महदुक्तेः प्रयोजनाभावेन प्रवृत्त्यभावात्प्राणायामप्रयोजनमाह—चले वात इति ॥ वाते चले सति चित्तं चलं भवेत् । निश्चले वाते निश्चलं भवेच्चित्तमित्यत्रापि संबध्यते वाते चित्ते च निश्चले योगी स्थाणुत्वं स्थिरदीर्घजीवित्वमिति यावत् । ईशत्वं वाप्नोति । ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निरोधयेत्कुंभयेत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि, प्रयोजनके विना मंद भी प्रवृत्त नहीं होता--इस महापुरुषोंके वचनसे प्रयोजनके अभावसे प्राणायामोंमें योगीकी प्रवृत्ति नहीं होगी--इसलिये प्राणायामोंका प्रयोजन कहते हैं कि, प्राणवायुके चलायमान होनेसे चित्तभी चलायमान होता है--और प्राणवायुके निश्चल होनेपर चित्त भी निश्चल होता है--और प्राणवायु और चित्त इन दोनोंके निश्चल होनेपर योगी स्थाणुरूपको प्राप्त होता है अर्थात् स्थिर और दीर्घ कालतक जीता है तिससे योगी प्राणवायुका निरोध करे अर्थात् कुम्भक प्राणायामोंको करे ॥ २ ॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ॥
मरणं तस्यनिष्क्रांतिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ३ ॥

यावदिति ॥ देहे शरीरे यावत्कालं वायुः प्राणः स्थितः तावत्कालपर्यंतं जीवनमुच्यते लोकैः । देहप्राणसंयोगस्यैव जीवनपदार्थत्वात् । तस्य प्राणस्य निष्क्रांतिर्देहाद्वियोगे मरणमुच्यते । ततस्तस्माद्वायुं निरोधयेत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जबतक शरीरमें प्राणवायु स्थित है तबतकही जगत् जीवनको कहता है क्योंकि देह और प्राणका जो संयोग है वही जीवन कहाता है और उस प्राणवायुका जो देहसे वियोग (निकसना) उसकोही मरण कहते हैं तिससे जीवनके लिये प्राणवायुके निरोध (रोकना) रूप प्राणायामको करै ॥ ३ ॥

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ॥
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥ ४ ॥

मलशुद्धेर्हठसिद्धिजनकत्वं व्यतिरेकेणाह—मलाकुलास्विति ॥ नाडीषु मलैराकुलासु व्याप्तासु सतीषु मारुतः प्राणो मध्यगः सुषुम्नामार्गवाही स्यात् । अपि तु शुद्धमलास्वेव मध्यगो भवतीत्यर्थः । उन्मनीभाव उन्मन्या

भावो भवनं कथं स्यान्न कथमपीत्यर्थः । कार्यस्य कैवल्यरूपस्य सिद्धि निष्पत्तिः कथं भवेन्न कथंचिदपीत्यर्थः ॥ ४ ॥

भाषार्थ-अब मलकी शुद्धि हठयोगसिद्धिका जनक है इस बातको निषेधमुखसे वर्णन करते हैं कि, जबतक नाडी मलसे व्याकुल (व्याप्त) हैं तबतक प्राण मध्यग नहीं होस-सकता अर्थात् सुषुम्ना नाडीके मार्गसे नहीं चल सकता किंतु मलशुद्धि होनेपर ही मध्यग होसकता है तो मलसेयुक्त नाडियोंके विद्यमान रहते उन्मनीभाव कैसे होसकता है और मोक्षरूप कार्यकी सिद्धि कैसे होसक्ती है अर्थात् नहीं होसक्ती । सुषुम्नानाडीके प्राणसंचार होनेको उन्मनीभाव कहते हैं ॥ ४

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ॥
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ५ ॥

अन्वयेनापि मलशुद्धेर्हठसिद्धिहेतुत्वमाह-शुद्धिमेतीति ॥ यदा यस्मिन्काले मलैराकुलं व्याप्तं सर्वं समस्तं नाडीनांचक्रं समूहः शुद्धिं मलराहित्यमेति प्राप्नोति तदैव तस्मिन्नेव काले योगी योगाभ्यासी प्राणस्य ग्रहणे क्षमः समर्थो जायते ॥ ५ ॥

भाषार्थ-और मलोंसे व्याकुल सम्पूर्ण नाडियोंका समूह जब शुद्धिको प्राप्त होता है उसी कालमें योगी प्राणवायुके संग्रहण (रोकना) में समर्थ होता है, इस श्लोकसे यह बात वर्णनकी कि, अन्वयसेही मलशुद्धि--हठयोग सिद्धिकी हेतु है अर्थात् इन् पूर्वोक्त अन्वयव्यतिरेक कारणोंसे योगी मलशुद्धिकेलिये प्राणायामोंका सदैव अभ्यास करै ॥५॥

प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्त्विकया धिया ॥
यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयांति च ॥६॥

मलशुद्धिः कथं भवतीत्याकांक्षायां तच्छोधकं प्राणायाममाह प्राणायाममिति ॥ यतो मलशुद्धिं विना प्राणसंग्रहणे क्षमो न भवति ततस्तस्मादीश्वरप्रणिधानोत्साहसाहसादिप्रयत्नाभिभूतविक्षेपालस्यादिराजस-तामसधर्मया. सात्त्विकया प्रकाशप्रसादशीलया धिया बुद्ध्या नित्यं प्राणायामं कुर्यात् । यथा येन प्रकारेण सुषुम्नानाड्यां स्थिता मलाः शुद्धिमपगमं प्रयांति नश्यंतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

भाषार्थ-अब मलशुद्धिके हेतु प्राणायामको कहते हैं जिसकारण योगी मलशुद्धिके विना कारणोंके संग्रहणमें समर्थ नहीं होता तिससे सात्त्विक बुद्धिसे प्राणायामको नित्य

करे अर्थात् ईश्वरका प्रणिधान उत्साह साहस आदि यत्नोंसे तिरस्कारको प्राप्त भये हैं विघ्न आलस्य आदि रजोगुणी धर्म जिसके ऐसी सात्विक अर्थात् प्रकाशमान और प्रसन्न बुद्धि सदैव प्राणायाममें उसप्रकार तत्पर रहै जिसप्रकारसे सुषुम्ना नाडीमें स्थित मल मलशुद्धिको प्राप्त होय अर्थात् नष्ट होजाय ॥ ६ ॥

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चंद्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ७ ॥

मलशोधकप्राणायामप्रकारमाह द्वाभ्याम्-बद्धपद्मासन इति ॥ बद्धं पद्मासनं येन तादृशो योगी प्राणं प्राणवायुं चंद्रेण चंद्रनाड्येडया पूरयेत्।शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुंभयित्वा।भूयःपुनःसूर्येण सूर्यनाड्या पिंगलया रेचयेत् । बाह्यवायोः प्रयत्नविशेषादुपादानं पूरकः। जालंधरादिबंधपूर्वकं प्राणनिरोधः कुंभकः । कुंभितस्य वायोः प्रयत्न विशेषाद्गमनं रेचकः । प्राणायामांगरेचकपूरकयोरेवेमे लक्षणे इति 'भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ' इति गौणरेचकपूरकयोर्ना व्याप्तिः । तयोर्लक्ष्यत्वाभावात् ॥ ७ ॥

भाषार्थ-अब मलके शोधक प्राणायामके प्रकारको कहते हैं कि, बांधा है पद्मासन जिसनें ऐसा योगी प्राणवायुको चंद्रनाडी (इडा) से पूर्ण करै अर्थात् चढावे फिर उसको अपनी शक्तिके अनुसार धारण करके अर्थात् कुम्भक प्राणायाम करके फिर सूर्यकी नाडी (पिंगला) से प्राणवायुका रेचन करै अर्थात् छोडदे । बाहरकी वायुका जो प्रयत्न विशेषसे ग्रहण उसे पूरक कहते हैं और जालंधर आदि बंधपूर्वक जो प्राणोंका निरोध उसे कुम्भक कहते हैं और कुंभित प्राणवायुका जो प्रयत्न विशेषसे गमन उसे रेचक कहते हैं रेचक और पूरकके लक्षण उन्हीं रेचक पूरकोंके हैं जो प्राणायामोंके अंग है इससे वचनमें गौण रेचक पूरक कहे हैं उनमें अव्याप्ति नहीं क्योंकि वे लक्ष्यही नहीं कि लोहकारकी भस्त्राके समान रेचक और पूरकको संभ्रमसे करै ॥ ७ ॥

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ॥
विधिवत्कुंभकं कृत्वा पुनश्चंद्रेण रेचयेत् ॥ ८ ॥

प्राणमिति ॥ सूर्येण सूर्यनाड्या पिंगलया प्राणमाकृष्य गृहीत्वा शनैर्मंदंमंदमुदरं जठरं पूरयेत् । विधिवद्बंधपूर्वकं कुंभकं कृत्वा पुनर्भूयश्चंद्रेणेडया रेचयेत् ॥ ८ ॥

भाषार्थ-और सूर्यकी नाडी पिंगलासे प्राणका आकर्षण (खींचना) करके शनैः शनैः उदरको पूरण करे फिर विधिसे कुम्भक (धारण) करके चंद्रमाकी इडा नामकी नाडीसे रेचन करे अर्थात् प्राणवायुको छोडदे ॥ ८ ॥

येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः ॥
रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः ॥ ९ ॥

उक्ते प्राणायामे विशेषमाह-येनेति ॥ येन चंद्रेण सूर्येण वा त्यजे-द्रेचयेत्तेन पीत्वा तेनैव पूरयित्वा । अतिरोधतोऽतिशायितेन रोधेन स्वेदकंपादिजननपर्यंतेन । सार्वविभक्तिकस्तसिल् । येन पूरकस्ततोऽन्येन शनैरेचयेन्न तु वेगतः । वेगाद्रेचने बलहानिः स्यात् । येन पूरकः कृतस्तेन रेचको न कर्तव्यः । येन रेचकः कृतस्तेनैव पूरकः कर्तव्य इति भावः ॥ ९ ॥

भाषार्थ-अब उक्त प्राणायाममें विशेष विधिको कहते हैं कि, जिस चन्द्रमा वा सूर्यकी नाडीसे प्राणवायुका त्याग (रेचन) करे उसी नाडीसे पान (पूरण) करके अत्यंतरोधन (रोकना) से अर्थात् स्वेद और कम्पके पर्यंत धारण करै । फिर जिससे पूरक किया हो उससे अन्य नाडीसे शनैः शनैः रेचन करे वेगसे नहीं क्योंकि वेगसे रेचन करनेमें बलकी हानि होती है अर्थात् जिस नाडीसे पूरक किया हो उससे रेचक न करे और जिससे रेचक किया हो उसीसे पूरकको तो करले ॥ ९ ॥

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचये-
त्पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ॥
सूर्याचंद्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां
शुद्धा नाडिगणा भवंति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥ १० ॥

बद्धपद्मासन इत्याद्युक्तमर्थं पिंडीकृत्यानुवदन्प्राणायामस्यावांतरफल-माहप्राणमिति ॥ चेदिडया वामनाड्या प्राणं पिबेत्पूरयेत्तर्हि नियमितं कुंभितं प्राणं भूयः पुनरन्यया पिंगलया रेचयेत् । पिंगलया दक्षनाड्या समीरणं वायुं पीत्वा पूरयित्वाथो पूरणानंतरं बद्ध्वा. कुंभयित्वा वामयेडया त्यजेद्रेचयेत् । सूर्यश्च चंद्रमाश्च सूर्याचंद्रमसौ तयोः "देवताद्वंद्वे च" इत्यानङ् । अनेनोक्तेन विधिना प्रकारेण सदा नित्यमभ्यासं चंद्रेणापूर्य कुंभयित्वा सूर्येण रेचयेत्सूर्येणापूर्य कुंभयित्वा

च चंद्रेण रेचयेदित्याकारकं तन्वतां विस्तारयतां यमिनां यमवतां नाडीगणा नाडीसमूहा मासत्रयादूर्ध्वंतो मासानां त्रयं तस्मादुपरि शुद्धा मलरहिता भवंति ॥ १० ॥

भाषार्थ-पूर्वोक्त आठ श्लोकोंसे वर्णन किये तात्पर्यको एकत्र करके अनुवाद करते हुए ग्रन्थकार प्राणायामके अनन्तर फलको कहते हैं, यदि योगी इडासे अर्थात् वामनाडीसे प्राणका पान (पूरण) करे तो नियमित कुंभित उस प्राणको फिर दूसरी पिंगला नाडीसे रेचन करै और यदि पिंगलासे प्राणको पीवै अर्थात् दक्षिण नाडीसे वायु पूरण करे तो उस प्राणवायुको बांधकर अर्थात् कुंभित करके इडारूप वामनाडीसे प्राणवायुका रेचन करै । इस पूर्वोक्त सूर्य और चन्द्रमाकी विधिसे अर्थात् चन्द्रमासे पूरण और कुम्भक करके सूर्यसे रेचन करै और सूर्यसे पूरण और कुम्भक करके चन्द्रमासे रेचन करै इस पूर्वोक्त विधिसे सदैव अभ्यास करते हुए योगिजनोंके नाडियोंके गण तीनमासके अनंतर शुद्ध होते हैं अर्थात् निर्मल होजाते हैं ॥ १० ॥

प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुंभकान् ॥
शनैरशीतिपर्यंतं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ ११ ॥

अथ प्राणायामाभ्यासकालं तदवधिं चाह-प्रातरिति ॥ प्रातररुणोदयमारभ्य सूर्योदयाद्घटिकात्रयपर्यंते प्रातःकाले मध्यंदिने मध्याह्ने पंचधा विभक्तस्य दिनस्य मध्यभागे सायंसंध्या त्रिनाडीप्रमितार्कास्तादधस्तादूर्ध्वंचेत्युक्तलक्षणे सन्ध्याकाले रात्रेरर्धमर्धरात्रं तस्मिन्नर्धरात्रे रात्रेर्मध्ये मुहूर्तद्वयेच शनैरशीतिपर्यंतमशीतिसंख्यावधि चतुर्वारं वार-चतुष्टयं 'कालाध्वनोरत्यंतसंयोगे' इति द्वितीया । चतुर्षु कालेष्वेकैकस्मिन्कालेऽशीतिप्राणायामाः कार्याः । अर्धरात्रे कर्तुमशक्तश्चेत्त्रिसंध्यं कर्तव्या इति संप्रदायः । चतुर्वारं कृताश्चेद्दिनेदिने ३२० विंशत्यधिकशतत्रयपरिमिताः प्राणायामा भवंति । वारत्रयं कृताश्चेच्चत्वारिंशदधिकशतद्वय २४० परिमिता भवंति । ॥ ११ ॥

भाषार्थ-अब प्राणायामके अभ्यास काल और उसकी अवधिको कहते हैं--कि, प्रातःकाल अर्थात् अरुणोदयसे लेकर सूर्योदयसे तीन घडी दिनचढे तक और मध्याह्नमें अर्थात् पांच भाग किये दिनके मध्य भागमें और सायंकाल अर्थात् सूर्यास्तसे पूर्व और सूर्यास्तके अनंतर तीन घडीरूप संध्याके समयमें और अर्द्धरात्रमें अर्थात् रात्रिके मध्यभागके दो मुहूर्तोंमें शनैः शनैः इन पूर्वोक्त चारों कालोंमें चारवार अशीति (८०) प्राणायाम करै यदि अर्द्धरात्रमें करनेको असमर्थ होय तो तीन कालमेंही अस्सी २ प्राणायाम करै,

चारवार करे तो (३२०) तीनसौ वीस प्राणायाम होते हैं--तीनवार करे तो (२४०) दो सौ चालीस होते हैं ॥ ११ ॥

कनीयसि भवेत्स्वेदः कंपो भवति मध्यमे ॥
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबंधयेत् ॥ १२ ॥

कनिष्ठमध्यमोत्तमानां प्राणायामानां क्रमेण व्यापकविशेषमाह-कनीयसीति ॥ कनीयसि कनिष्ठे प्राणायामे स्वेदः प्रस्वेदो भवेद्भवति । स्वेदानुमेयः कनिष्ठः । मध्यमे प्राणायामे कंपो भवति । कंपानुमेयो मध्यमः। उत्तमे प्राणायामे स्थानं ब्रह्मरंध्रमाप्नोति।स्थानप्राप्त्यनुमेय उत्तमः। ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निबंधयेन्नितरां बंधयेत् । कनिष्ठादीनां लक्षणमुक्तं लिंगपुराणे-'प्राणायामस्य मानं तु मात्राद्वादशकं स्मृतम् । नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्धात ईरितः । मध्यमस्तु द्विरुद्धातश्चतुर्विंशतिमात्रकः । मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्धातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते ॥ प्रस्वेदकंपनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम् । आनंदो जायते चात्र निद्रा घूर्णस्तथैव च ॥ रोमांचो ध्वनिसंविद्धिरंगमोटनकंपनम् । भ्रमणस्वेदजल्पाद्यं संविन्मूर्छां जयेद्यदा ॥ तदोत्तम इति प्रोक्तः प्राणायामः सुशोभनः । " इति ॥ घूर्णश्चित्तांदोलनम् । गोरक्षोऽपि-'अधमे द्वादश प्रोक्ता मध्यमे द्विगुणाः स्मृताः । उत्तमे त्रिगुणा मात्राः प्राणायामे द्विजोत्तमैः ॥' उद्धातलक्षणं तु-'प्राणेनोत्सर्पमाणेन अपानः पीड्यते यदा । गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्धातलक्षणम् ।' मात्रामाह याज्ञवल्क्यः-'अंगुष्ठांगुलिमोक्षं त्रिस्त्रिर्जानुपरिमार्जनम् । तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञां प्रचक्षते ॥' स्कंदपुराणे-'एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामो निगद्यते ।' एतद्व्याख्यातं योगचिंतामणौ-'निद्रावशंगतस्य पुंसो यावता कालेनैकः श्वासो गच्छत्यागच्छति च तावत्कालः । प्राणायामस्य मात्रेत्युच्यत इति ॥ अर्धश्वासाधिकद्वादशश्वासावच्छिन्नः कालः । प्राणायामकालः । षड्भिः श्वासैरेकं पलं भवति । एवं च सार्धश्वासपलद्वयात्मकः कालः प्राणायामकालः सिद्धः । सार्धद्वादशमात्रामितः प्राणायामो यः स एवोत्तमः प्राणायाम इत्युच्यते' न च पूर्वोदाहृतलिंगपुराणगोरक्षवाक्यविरोधः । तत्र द्वादशमात्रकस्य प्राणायामस्याधमत्वोक्तेरिति शंकनीयं 'जानु प्रदक्षिणीकुर्यान्न द्रुतं न विलंबितम् । प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते ॥' इति स्कंदपुराणात् । 'अंगुष्ठांगुलिमोक्षं च जानोश्च परिमार्जनम् । प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते ॥

इति च स्कंदपुराणात् । 'अंगुष्ठो मात्रा संख्यायते तदा' ॥ इति दत्तात्रेयवचनाच्च । लिंगपुराणगोरक्षादिवाक्येष्वेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षितत्त्वात् । याज्ञवल्क्यादिवाक्येषु छोटिकात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षणात् त्रिगुणस्याधमस्योत्तमत्वं तत्राप्युक्तमित्यविरोधः । सर्वेषु योगसाधनेषु प्राणायामो मुख्यस्तत्सिद्धौ प्रत्याहारादीनां सिद्धेः । तदसिद्धौ प्रत्याहाराद्यासिद्धेश्च । वस्तुतस्तु प्राणायाम एव प्रत्याहारादिशब्दैर्निगद्यते । तथा चोक्तं योगार्चितामणौ-प्राणायाम एवाभ्यासक्रमेण वर्धमानः प्रत्याहारध्यानधारणासमाधिशब्दैरुच्यत इति । तदुक्तं स्कंदपुराणे-"प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः । प्रत्याहारद्विषट्केन धारणा परिकीर्तिता ॥ भवेदीश्वरसंगत्यै ध्यानं द्वादशधारणम् । ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ यत्समाधौ परं ज्योतिरनंतं स्वप्रकाशकम् । तस्मिन्दृष्टे क्रियाकांडयातायातं निवर्तते ॥" इति ॥ तथा-'धारणा पंचनाडी भिर्ध्यानं स्यात्षष्टिनाडिकम् । दिनद्वादशकेनैव समाधिः प्राणसंयमात्' इति च । गोरक्षादिभिरप्येवमेवोक्तम् । अत्रैवं व्यवस्था । किंचिदूनद्विचत्वारिंशद्विपलात्मकः कनिष्ठप्राणायामकालः । अयमेवैकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया द्वादशमात्रकः कालः । किंचिदूनचतुरशीतिविपलात्मको मध्यमप्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया चतुर्विंशतिमात्रकः कालः । पंचविंशत्युत्तरशतविपलात्मक उत्तमः प्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया षट्त्रिंशन्मात्रककालः । छोटिकात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया तु द्वादशमात्रक एव । बंधपूर्वकं पंचविंशत्युत्तरशतविपलपर्यंतं यदा प्राणायामस्थैर्यं भवति तदा प्राणो ब्रह्मरंध्रं गच्छति । ब्रह्मरंध्रं गतः प्राणो यदा पंचविंशतिपलपर्यंतं तिष्ठति तदा प्रत्याहारः । यदा पंचघटिकापर्यंतं तिष्ठति तदा धारणा । यदा षष्टिघटिकापर्यंतं तिष्ठति तदा ध्यानम् । यदा द्वादशदिनपर्यंतं तिष्ठति तदा समाधिर्भवतीति सर्वं रमणीयम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ-अब कनिष्ठ मध्यम उत्तम रूप तीन प्रकारके प्राणायामोंमें क्रमसे व्यापक जो विशेष उसका वर्णन करते हैं-कि कनिष्ठ प्राणायाममें स्वेद होता है अर्थात् प्राणायाम करते पसीना आजाय तो वह प्राणायाम कनिष्ठ (निकृष्ट) जानना और मध्यम प्राणायाममें कम्प होता है अर्थात् देहमें कम्प हो जाय तो वह प्राणायाम मध्यम होता है-

और उत्तम प्राणायाम करनेसे योगी ब्रह्मरंध्ररूप उतम स्थानको प्राप्त होता है-अर्थात् ब्रह्मरंध्रमें वायु पहुँचजाय तो उतम प्राणायाम जानना तिससे प्राणवायुका निरंतर बंधन करै अर्थात् रोकै। कनिष्ठ आदि प्राणायामोंका लक्षण लिंगपुराणमें कहा है कि, प्राणायामका प्रमाण द्वादश १२ मात्राका कहा है. एकवार है प्राणवायुका उद्घात (उठाना) जिसमें ऐसा द्वादशमात्राका प्राणायाम नीच होता है और जिसमें दोवार उद्घात हो वह चौवीस मात्राका प्राणायाम मध्यम होता है और जिसमें तीनवार उद्घात होय वह छत्तीस मात्राका प्राणायाम मुख्य होता है और तीनोंमें क्रमसे प्रस्वेद, कम्पन और उत्थान होते हैं। और प्राणायामोंमें आनंद निद्रा और चित्तका आंदोलन रोमांच ध्वनिका ज्ञान अंगका मोडन और कम्पन होते हैं और जब योगी श्रम स्वेद भाषण संवित् (ज्ञान) मूर्च्छा इनको जीतले तब वह शोभन प्राणायाम उत्तम कहा है। गोरक्षने भी कहाहै कि, अधमप्राणायाम द्वादश, मध्यममें चौवीस, उत्तममें ३६ छत्तीस मात्रा द्विजोत्तमोंने कही है। उद्घातका लक्षण तो यह कहा है कि, ऊपरको चढतेहुए प्राणसे जब अपानवायु पीडित होता है और ऊपरको गया प्राण लौटता है यह उद्घातका लक्षण है, मात्राकी संज्ञा याज्ञवल्क्यने यह कही है कि, अंगुष्ठ और अंगुलीको तीनवार मोक्ष (वजाना वा त्याग) और तीनवार जानुका मार्जन अर्थात् गोडेपर हाथफेरना और तीनताल इनको बुद्धिमान् मनुष्य मात्रा कहते हैं। स्कंदपुराणमें लिखा है कि, एक श्वासकी जो मात्रा उसे प्राणायाम कहते हैं अर्थात् शयन करते हुए मनुष्यका श्वास जितने कालसे आवै वा जाय उतना काल प्राणायामकी मात्रा कहाता है। आधे श्वाससहित द्वादश श्वासके कालको प्राणायामका काल कहते हैं। छः श्वासका एक पल होता है इससे आधेश्वाससहित दो पलका जो काल वही प्राणायामका काल सिद्ध हुआ साढे वारह मात्रा है प्रमाण जिसका वही प्राणायाम उतम प्राणायाम कहाता है, कदाचित् कोई शंका करै कि, जिस पूर्वोक्तलिंगपुराणके वचनमें द्वादशमात्राका अधम प्राणायाम कहा है उसका विरोध होगया सो ठीक नहीं क्योंकि जानुको न शीघ्र न विलम्बसे प्रदक्षिणा करके एक चुटकी वजावे इननेमें जितना काल लगे उतने कालको मात्रा कहते हैं अंगुष्ठ और अंगुलिका मोक्षजानुका मार्जन और चुटकी वजाना जितने कालमें होय उसे मात्रा कहते हैं। अंगुष्ठ जो है सो मात्राका वोधक है। इन स्कंदपुराण और दत्तात्रेयके वचनोंसे एक छोटिका (शिखा) युक्त जो काल वह मात्रा प्रतीत होता है और याज्ञवल्क्य आदिके वचनोंमें तीन छोटिका युक्त कालको मात्रा कहा है इससे त्रिगुणितको त्रिगुणित अधमको उतमता वहां भी कही है इससे कुछ विरोध नहीं। संपूर्ण योगके साधनोंमें प्राणायाम मुख्य है क्योंकि प्राणायामकी सिद्धिमें प्रत्याहार आदि सिद्ध होते हैं और प्राणायामकी असिद्धिमें प्रत्याहार

सिद्ध नहीं होते । सिद्धान्त तो यह है कि प्राणायामही प्रत्याहार शब्दोंसे कहा जाता है। सोई योगचिंतामणिमें कहा है कि, अभ्यासके क्रमसे वढता हुआ प्राणायामही प्रत्याहार ध्यान धारणा समाधि शब्दसे कहा जाता है सोई स्कंदपुराणमें कहा है कि, द्वादशप्राणायामोंका प्रत्याहार और द्वादश प्रत्याहारोंकी धारणा और ईश्वरके संगमके लिये द्वादश धारणाओंका एक ध्यान होता है और द्वादशध्यानोंकी समाधि इसलिये कहाती है कि, समाधिमें अनंत स्वप्रकाशक ज्योति (ब्रह्म) दीखता है जिसके दीखनेसे कर्मकाण्ड और जन्म मरण निवृत्त होजाते हैं। और पांच नाडियोंकी धारणा और ६० नाडि (घडि) योंका ध्यान होता है। और वारहदिन प्राणायाम करनेसे समाधि होती है इस वचनसे गोरक्षआदिनेभी ऐसेही कहा है। यहां यह व्यवस्था है कि जिसमें कुछ कम ४२ विपलहो यह कनिष्ठ प्राणायामका काल है और यही एक छोटिकाके कालको जब मात्रा कहते हैं तब द्वादश पलरूप होता है और कुछ कम चौराशी ८४ विपलका मध्यम प्राणायामका काल है और यही पूर्वोक्त मात्राके प्रमाणसे २४ चौबीसमात्राका होता है और १२५ सवासौ विपलका उत्तम प्राणायामका काल होता है और पूर्वोक्त मात्राके प्रमाणसे छत्तीस ३६ मात्राका होता है और जब तीन छोटिकाके कालको मात्रा मानते हैं तबतो यहभी द्वादश मात्राका होता है। जब बन्धपूर्वक सवासौ विपल पर्यंत प्राणायामकी स्थिरता होजाय तब प्राण ब्रह्मरंध्रमें चला जाता है ब्रह्मरंध्रमें गया प्राण जब २५ पल पर्यंत टिकजाय तब प्रत्याहार होता है और जब पांचघडी पर्यंत टिकजाय तब धारणा होती है और जब ६० घडी पर्यंत टिकजाय तब ध्यान होता है और जब प्राण १२ बारह दिन तक ब्रह्मरंध्रमें टिकजाय तब समाधि होती है इससे सम्पूर्ण रमणीय है अर्थात् पूर्वोक्त कोई दोष नहीं। भावार्थ यह है कि कनिष्ठ प्राणायाममें स्वेद मध्यममें कम्प होता है और उत्तम प्राणायाममें प्राण ब्रह्मरंध्रमें पहुंचता है इससे योगी प्राणायामका बन्धन करै ॥ १२ ॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ॥
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ १३ ॥

प्राणायामानभ्यसतःस्वेदे जाते विशेषमाह—जलेनेति॥ श्रमात्प्राणायामाभ्यासश्रमाज्जातं तेन जलेन प्रस्वेदेन गात्रस्य शरीरस्य मर्दनं तैलाभ्यंगवदाचरेत्कुर्यात्। तेन मर्दनेन गात्रस्य दृढता दार्ढ्यं लघुता जाड्याभावो जायते प्रादुर्भवति ॥ १३ ॥

भाषार्थ-अब प्राणायामके अभ्याससे स्वेद होनेपर विशेष कहते हैं कि, प्राणायामके परिश्रमसे उत्पन्न हुआ जो जल उससे अपने गात्रोंका मर्दन करै उससे शरीरकी दृढता और लघुता होती है अर्थात् जडता नहीं रहती ॥ १३ ॥

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ १४ ॥

अथ प्रथमोत्तराभ्यासयोः क्षीरादिनियमानाह—अभ्यासकाल इति ॥ क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं तद्युक्तं भोजनं क्षीराज्यभोजनम् । शाकपार्थिवादिवत्समासः। केवले कुंभके सिद्धेऽभ्यासो दृढो भवति। स्पष्टमन्यत् ॥१४॥

भाषार्थ-अब पहिले और पिछले अभ्यासोंमें दुग्ध आदिके नियमोंका वर्णन करते हैं कि, पहिले अभ्यासकालमें दुग्ध और घीसहित भोजन श्रेष्ठ कहा है फिर अभ्यासके दृढ होनेपर अर्थात् कुम्भकके सिद्ध होनेपर पूर्वोक्त नियममें आग्रह न करे ॥ १४ ॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः ॥
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हंति साधकम् ॥ १५ ॥

सिंहादिवच्छनैरेव प्राणं वशयेन्न सहसेत्याह—यथेति॥यथा येन प्रकारेण सिंहो मृगेंद्रो गजो वनहस्ती व्याघ्रः शार्दूलः शनैः शनैरेव वश्यः स्वाधीनो भवेन्न सहसा। तथैव तेनैव प्रकारेण सेवितोऽभ्यस्तो वायुःप्राणो वश्यो भवेत् । अन्यथा सहसा गृह्यमाणः साधकमभ्यासिनं हंति सिंहादिवत् ॥ १५ ॥

भाषार्थ-सिंह आदिके समान शनैः २ प्राणको वशमें करै शीघ्र न करे इस बातका वर्णन करते हैं जैसे सिंह गज (वनका हाथी) व्याघ्र (शार्दूल) ये शनैः २ वशमें होसकते हैं शीघ्र नहीं. तिसी प्रकार अभ्यास किया प्राण शनैः २ ही वशमें होता है शीघ्रता करनेसे सिंह आदिके समान साधकको अपने समान नष्ट कर देता है ॥ १५ ॥

प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ॥
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥ १६ ॥

युक्तायुक्तयोः फलमाह—प्राणायामेति ॥ आहारादियुक्तियुपूर्वको जालंधरादिबंधयुक्तिविशिष्टःप्राणायामो युक्त इत्युच्यते।तेन सर्वरोगक्षयः सर्वेषां रोगाणां क्षयो नाशो भवेत् । अयुक्त उक्तयुक्तिरहितो योऽभ्यास-

ऽयुक्तेन प्राणायामेन सर्वरोगसमुद्भवः सर्वेषां रोगाणां समुद्भव उत्पत्तिर्भवेत् ॥ १६ ॥

भाषार्थ-अब युक्त और अयुक्त प्राणायामोंके फल कहते हैं। आहार आदि और जालंधर आदि बंध इनकी युक्तियोंसहित जो प्राणायाम उसे युक्त कहते हैं उस युक्त प्राणायामके करनेसे संपूर्ण रोगोंका क्षय होजाता है और अयुक्त प्राणायामके अभ्याससे अर्थात् पूर्वोक्त युक्तिरहित प्राणायामके करनेसे संपूर्ण रोगोंकी उत्पत्ति होती है ॥ १६ ॥

हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ॥
भवंति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥ १७ ॥

अयुक्तेन प्राणायामेन के रोगा भवंतीत्यपेक्षायामाह-हिक्केति॥हिक्का-श्वासकासा रोगविशेषाः शिरश्च कर्णौ चाक्षिणी च शिरःकर्णाक्षि शिरःकर्णाक्षिणि वेदनाः शिरःकर्णाक्षिवेदना। विविधा नानाविधा रोगा ज्वरादयः पवनस्य वायोः प्रकोपतो भवंति ॥ १७ ॥

भाषार्थ-अब अयुक्त प्राणायाम करनेसे जो रोग होते हैं उनका वर्णन करते हैं कि, हिक्का (हुचकी) श्वास कास और शिर नेत्र कर्ण इनकी पीडा और ज्वर आदि नाना-प्रकारके रोग प्राणवायुके कोपसे होते हैं ॥ १७ ॥

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ॥
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥

यतः पवनस्य प्रकोपतो विविधा रोगा भवंत्यतः किं कर्त्तव्यमत आह-युक्तं युक्तमिति॥वायुं युक्तं त्यजेत्। रेचनकाले शनैःशनैरेव रेचयेन्न वेगत इत्यर्थः। युक्तं युक्तं न चाल्पं नाधिकं च पूरयेत्। युक्तं युक्तं च जालंधरबंधादियुक्तं बध्नीयात्कुंभयेत्। एवमभ्यसेच्चेत्सिद्धिं हठसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥

भाषार्थ-जिससे वायुके कोपसे अनेक रोग होते हैं इससे जो योगीको कर्तव्य है उसका वर्णन करते हैं कि युक्तयुक्त प्राणवायुको त्यागै अर्थात् रेचनके समयमें शनैः २ ही प्राणका रेचन करै शीघ्र न करै और युक्त २ ही वायुको पूर्ण करै अर्थात् न अल्प न अधिक और जालंधर बंध आदि युक्त वायुको युक्त २ ही बांधे अर्थात् कुम्भक करै इस प्रकार योगी अभ्यास करै तो हठयोगकी सिद्धिको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ॥
कायस्य कृशता कांतिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥ १९ ॥

युक्तं प्राणायाममभ्यसतो जायमानाया नाडीशुद्धेर्लक्षणमाह- द्वाभ्याम् ॥ यदा त्विति ॥ यदा तु यस्मिन्काले तु नाडीनां शुद्धिर्मल- राहित्यं स्यात्तदा बाह्यतो बाह्यानि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । चिह्नानि लक्षणानि तथाशब्देनांतराण्यपि चिह्नानि भवंतीत्यर्थः । तान्येवाह- कायस्येति ॥ कायस्य देहस्य कृशता कार्श्यं कांतिः । सुरुचिर्निश्चितं जायते ॥ १९ ॥

भाषार्थ-युक्त प्राणायामके अभ्यासीको जो सिद्धि होती है उसके लक्षण दोश्लोकोंसे कहते हैं कि जिस कालमें नाडियोंकी शुद्धि होती है उस समय बाह्य और भीतरके ये चिह्न होते हैं कि कायाकी कृशता और कांति (तेज) उस समय निश्चयसे होते हैं ॥१९॥

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ॥
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥२०॥

यथेष्टमिति ॥ वायोः प्राणस्य यथेष्टं बहुवारं धारणं कुंभकेषु । अनलस्य जठराग्नेः प्रदीपनं प्रकृष्टा दीप्तिर्नादस्य ध्वनेरभिव्यक्तिः प्राकट्यमारोग्यमरोगता नाडिशोधनान्नाडीनां शोधनान्मलराहित्या- ज्जायते ॥ २० ॥

भाषार्थ-यथेष्ट (अनेकवार) वायुका जो धारण है वह जठराग्निको भली प्रकार दीपन है अर्थात् जठराग्निके दीपनसे यथेष्ट वायुके धारणके अनुमान करना और नादकी जो अभिव्यक्ति अर्थात् अन्तर्ध्वानिकी प्रतीति और रोगोंका अभाव यह नाडियोंके शोधनसे अर्थात् मलरहित करनेसे होता है ॥ २० ॥

मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ॥
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥२१॥

मेदआद्याधिक्ये उपायांतरमाह-मेदःश्लेष्माधिक इति ॥ मेदश्च श्लेष्मा च मेदःश्लेष्माणौ तावधिकौ यस्य स तादृशः पुरुषः । पूर्वं प्राणा- यामाभ्यासात्प्राक्तु प्राणायामाभ्यासकाले । षट् कर्माणि वक्ष्य- माणानि समाचरेत्सम्यगाचरेत् । अन्यस्तु मेदःश्लेष्माधिक्यरहितस्तु तानि षट् कर्माणि नाचरेत् तत्र हेतुमाह-दोषाणां वातपित्तकफानां समस्य भावः समभावः समत्वं तस्माद्दोषाणां समत्वादित्यर्थः ॥ २१ ॥

भाषार्थ-मेदा आदि जिस पुरुषके अधिक हों उसके लिये अन्य उपायका वर्णन करते हैं कि, जिस पुरुषके मेदा और श्लेष्मा अधिक होय वह पुरुष प्राणायामके अभ्याससे

पहिले छः कर्मोंको करै । और मेदा और श्लेष्माकी अधिकतासे जो रहितहो वह उन छः ६ कर्मोंको दोषोंकी समानता होनेसे न करै ॥ २१ ॥

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ॥
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥२२॥

षट् कर्माण्युपदिशति–धौतिरिति ॥ स्पष्टम् ॥ २२ ॥

भाषार्थ–छः कर्मोंको वर्णन करते हैं कि, धौती १ वस्ति २ नेति ३ त्राटक ४ नौलिक ५ और कपालभाति ६ बुद्धिमानोंने ये छः कर्म योगमार्गमें कहे हैं ॥ २२ ॥

कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम् ॥
विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योगिपुंगवैः ॥ २३ ॥

इदं रहस्यमित्याह–कर्मषट्कमिति ॥ घटस्य शरीरस्य शोधनं मलापनयनं करोतीति घटशोधनकारकमिदमुद्दिष्टं कर्मणां षट्कं धौत्यादिकं गोप्यं गोपनीयम् । यतः ॥ विचित्रगुणसंधायीति ॥ विचित्रं विलक्षणं गुणं षट्कर्मरूपं संधातुं कर्तुं शीलमस्येति विचित्रगुणसंधायि योगिपुंगवैर्योगिश्रेष्ठैः पूज्यते सत्क्रियते । गोपनाभावे तु षट्कर्मकमन्यैरपि विदितं स्यादिति योगिनः पूज्यत्वाभावः प्रसज्जेतेति भावः ॥ एतेनेदमेव कर्मषट्कस्य मुख्यं फलमिति सूचितम् । मेदःश्लेष्मादिनाशस्य प्राणायामैरपि संभवात् । तदुक्तम् । 'षट्कर्मयोगमाप्नोति पवनाभ्यासतत्परः ।' इति पूर्वोत्तरग्रंथस्याप्येवमेव स्वारस्याच्च ॥ २३ ॥

भाषार्थ–ये छः कर्म गुप्त करने योग्य हैं और देहको शुद्ध करते हैं और विचित्रगुणके संधानको करतेहैं इससे योगियोंमें श्रेष्ठ इनकी प्रशंसा करते हैं यदि ये गुप्त न रक्खे जाँय तो अन्यभी इनको करसकेंगे तो योगियोंकी पूज्यता न रहैगी–इससे योगियोंको सर्वोत्तम बनानाही षट्कर्मका फल है–क्योंकि मेदा श्लेष्माका नाश तो प्राणायामोंसेभी होसकता है सोई इस वचनमें लिखा है कि प्राणायामके अभ्यासमें तत्पर मनुष्य षट्कर्मके योगको प्राप्त होता है पूर्व और उत्तर ग्रंथकी भी इसी प्रकार संगति होसकती है ॥ २३ ॥

तत्र धौतिः ।

चतुरंगुलविस्तारं हस्तपंचदशायतम् ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौति कर्म तत् ॥२४॥

धौतिकर्माह–चतुरंगुलमिति ॥ चतुर्णामंगुलानां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलं विस्तारो यस्य तादृशं हस्तानां पंचदशैरायतं दीर्घं सिक्तं जलार्द्रं किंचिदुष्णं वस्त्रं पटं तच्च सूक्ष्मं नूतनोष्णीषादेः खंडं ग्राह्यम् । गुरुणोपदिष्टो यो मार्गो वस्त्रग्रसनप्रकारस्तेन शनैर्मंदंमंदं किंचित्किंचिद्ग्रसेत् । द्वितीये दिने हस्तद्वयं तृतीये दिने हस्तत्रयम् । एवं दिनवृद्ध्या हस्तमात्रमधिकं ग्रसेत् । पुनरिति॥ तस्य प्रांतं राजदंतमध्ये हठे संलग्नं कृत्वा नौलीकर्मणोदरस्थवस्त्रं सम्यक् चालयित्वा । पुनः शनैः प्रत्याहरेच्च तद्वस्त्रमुद्गिरेन्निष्कासयेच्च । तद्धौतिकर्मोदितं कथितं सिद्धैः ॥ २४ ॥

भाषार्थ–अब क्रमसे धौति कर्मको कहते हैं कि चार अंगुल–जिसका विस्तार हो और १५ पंद्रह हाथ जो आयत (दीर्घ) हो–अर्थात् चार अंगुल चौडा और पंद्रह हाथ लंबा जो वस्त्र उसको उष्ण जलसे सींचकर–गुरुके उपदेश किये मार्गसे शनैः २ ग्रसे अर्थात् प्रथम दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन हाथ, इसप्रकार एक २ हाथकी वृद्धिसे उसके ग्रसनेका अभ्यास करै और वह वस्त्र भी सूक्ष्म लेना उचित है उस वस्त्रके प्रान्त (छोर) को अपनी डाढोंमें भलीप्रकार दाबकर नौली कर्मसे उदरमें टिकै उस वस्त्रको भलीप्रकार चलाकर उस वस्त्रका शनैः २ प्रत्याहरण करै अर्थात् निकाले । यह सिद्धोंने धौतीकर्म कहा है ॥ २४ ॥

कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ॥
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयांत्येव न संशयः ॥ २५ ॥
नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ॥
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं वस्तिकर्म तत् ॥ २६ ॥

धौतिकर्मणः फलमाह–कासश्वासेति॥कासश्च श्वासश्च प्लीहश्च कुष्ठं च समाहारद्वंद्वःकासादयो रोगविशेषाः विंशतिसंख्याकाः कफरोगाश्च।धौतीति । धौतिकर्मणःप्रभावेन गच्छंत्येव न संशयः। निश्चितमेतदित्यर्थः। अथ वस्तिकर्माह । नाभिदघ्नेति॥नाभिपरिमाणं नाभिदघ्नम् । परिमाणे दघ्नच् प्रत्ययः । तस्मिन्नाभिदघ्ने नाभिपरिमाणे जले नद्यादितोये पायुर्गुदं तस्मिन्न्यस्तो नालो वंशनालो येन कनिष्ठिकाप्रवेशयोग्यरंध्रयुक्तं षडंगुलदीर्घं वंशनालं गृहीत्वा चतुरंगुलं पायौ प्रवेशयेत् अंगुलिद्वयमितं बहिः स्थापयेत्। उत्कटमासनं यस्य स उत्कटासनः।पार्ष्णिद्वये स्फिचौ विन्यस्य

पादांगुलिभिः स्थितिरुत्कटासनम् । आधारस्याकुंचनं तथा जलमंतः प्रविशेत्तथा संकोचनं कुर्यात् । अन्तः प्रविष्टं जलं नौलिककर्मणा चालयित्वा त्यजेत् । क्षालनं वस्तिकर्मोच्यते । धौतिवस्तिकर्मद्वयं भोजनात्प्रागेव कर्तव्यम् । तदनंतरं भोजने विलंबोऽपि न कार्यः । केचित्तु । पूर्वं मूलाधारेण वायोराकर्षणमभ्यस्य जले स्थित्वा पायौ नालप्रवेशनमंतरेणैव वस्तिकर्माभ्यसंति तथा करणे सर्वं जलं बाहिर्नायाति । अतो नानारोगधातुक्षयादिसंभवाच्च तथा वस्तिकर्म नैव विधेयम् । किमन्यथा स्वात्मारामः पायौ न्यस्तनाल इति ब्रूयात् ॥ २५ ॥ २६ ॥

भाषार्थ-अब धौतीकर्मके फलको कहते हैं-कास-श्वास प्लीहा-कुष्ठ-और बीस प्रकारके कफरोग धौतीकर्मके प्रभावसे नष्ट होते हैं इसमें संशय नहीं । अर्थात् यह निश्चित है। अब वस्तीकर्मको कहते हैं कि, नाभिप्रमाणका जो नदी आदिका जल उसमें स्थित गुदाके मध्यमें ऐसे बाँसके नालको रक्खे: जिसका छिद्र कनिष्ठिका अंगुलिके प्रवेश योग्य हो और छः अंगुल उस बाँसके नालको लेकर चार अंगुल उसको गुदामें प्रवेश करे और दो अंगुल बाहिर रक्खे और उत्कट आसन रक्खे अर्थात् दोपार्ष्णियोंसे ऊपर अपने स्फिच (चूतड) पादोंकी अंगुलियोंसे बैठनेको उत्कृष्ट आसन कहते हैं । उक्त आसनमें बैठाहुआ मनुष्य आधाराकुंचन करै अर्थात् जैसे वंशनालके द्वारा वंशनालमें जल प्रविष्ट हो तैसें आकुंचन करै भीतर प्रविष्ट हुए जलको नौली कर्मसे चलाकर त्याग दे-इस उदरके क्षालन (धोना) को वस्तिकर्म कहते हैं ये धौति वस्ति दोनों कर्म भोजनसे पूर्वही करने और इनके करनेके अनन्तर भोजनमें विलंबभी न करना । कोई तो पहिले मूलाधारसे प्राणवायुके आकर्षण (खींचना) का अभ्यास करके और जलमें स्थित होकर गुदामें नाल प्रवेशके विनाही वस्तिकर्मका अभ्यास करते हैं-उस प्रकार वस्तिकर्म करनेसे उदरमें प्रविष्टहुआ संपूर्ण जल बाहर नहीं आसक्ता और उसके न आनेसे धातुक्षय आदि नानारोग होते हैं-इससे उसप्रकार वस्तिकर्म न करना क्योंकि अपनी गुदामें रक्खा है नाल जिसने ऐसे स्वात्माराम अन्यथा क्यों कहते ? ॥ २५ ॥ २६ ॥

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ॥
वस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयंते सकलामयाः ॥ २७॥

वस्तिकर्मगुणानाह द्वाभ्याम्-गुल्मप्लीहोदरमिति ॥ गुल्मश्च प्लीहश्च रोगविशेषावुदरं जलोदरं च तेषां समाहारद्वंद्वः। वातश्च पित्तं च कफश्च तेभ्य उद्भवा एकैकस्माद्द्वाभ्यां सर्वेभ्यो वा जाताः सकलाःसर्वे आमया रोगा वस्तिकर्मणः प्रभावः सामर्थ्यं तेन क्षीयंते नश्यंति ॥ २७ ॥

भावार्थ–अब वस्तिकर्मके गुणोंको दो श्लोकोंसे वर्णन करते हैं कि वस्तिकर्मके प्रभावसे गुल्म (गुम) प्लीहा-उदर (जलोदर) और वात-पित्त-कफ इनके द्वन्द्व वा एकसे उत्पन्न हुए संपूर्ण रोग नष्ट होते हैं ॥ २७ ॥

धात्विंद्रियांतःकरणप्रसादं दद्याच्च कांतिं दहनप्रदीप्तिम् ॥
अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म ॥ २८ ॥

धात्विति अभ्यस्यमानमनुष्ठीयमानं जले वस्तिकर्म जलवस्तिकर्मका कर्तृ। दद्यादनुष्ठातुरिति शेषः। धातवो 'रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः' इत्युक्ता इंद्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पंच कर्मेंद्रियाणि च श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि पंच ज्ञानेंद्रियाणि च अंतःकरणानि मनोबुद्धिचित्ताहंकाररूपाणि तेषां परितापविक्षेपशोकमोहगौरवावरणदैन्यादिराजसतामसधर्मविनिवर्तनेन सुखप्रकाशलाघवादिसात्त्विकधर्माविर्भावः प्रसादस्तं कांतिं द्युतिं दहनस्य जठराग्नेः प्रदीप्तिं प्रकृष्टां दीप्तिं च तथा। अशेषाः समस्ता ये दोषा वातपित्तकफास्तेषामुपचयम्। एतदपचयस्याप्युलक्षणम्। उपचयापचयौ निहन्यान्नितरां हन्यात्। दोषसाम्यरूपमारोग्यं कुर्यादित्यर्थः ॥ २८ ॥

भावार्थ–अभ्यास किया हुआ यह वस्तिकर्म करनेवाले पुरुषके धातु अर्थात् रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, शुक्र, और वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, ये पांच कर्मेन्द्रिय श्रोत्र–त्वक्–जिह्वा–घ्राण–चक्षु ये पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन बुद्धि चित्त अहंकार रूप अंतःकरण इनकी प्रसन्नताको करता है अर्थात् इनके परिताप विक्षेप शोक मोह गौरव आवरण दैन्य आदि रजोगुण तमोगुण धर्मोंको दूर करके सुखका प्रकाश लाघव आदि सात्विक धर्मोंको प्रकट करता है और देहकी कांति और जठराग्निकी दीप्तिको देता है– और संपूर्ण–जो--वात--पित्त कफ आदि दोष हैं उनकी वृद्धिको नष्ट करता है--और इन दोषोंके अपचय (न्यूनता) कोभी नष्ट करता है--अर्थात् दोषोंकी साम्यरूप आरोग्यताको करता है ॥ २८ ॥

अथ नेतिः ।

सूत्रं वितस्तिसुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ॥
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ २९ ॥

अथ नेतिकर्माह–सूत्रमिति ॥ वितस्ति वितस्तिमितं वितस्तिरित्युपलक्षणमधिकस्यापि। यावता सूत्रेण सम्यक् नेतिकर्म भवेत्तावद्--

ग्राह्यम् । सुस्निग्धं सुष्ठु स्निग्धं ग्रंथ्यादिरहितं सूत्रं तच्च नवधा दशधा पंचदशधा वा गुणितं सुदृढं ग्राह्यम् । नासा नासिका सैव नालः सच्छिद्रत्वात्तस्मिन्प्रवेशयेत । मुखान्निर्गमयेन्निष्कासयेत् । तत्प्रकारस्त्वेवम्–सूत्रप्रांतं नासानाले प्रवेश्येतरनासापुटमंगुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात । पुनश्च मुखेन रेचयेत । पुनःपुनरेवं कुर्वतो मुखे सूत्रप्रांतमायाति । तत्सूत्रप्रांतं नासाबहिःस्थसूत्रप्रांतं च गृहीत्वा शनैश्चालयेदिति । चकारादेकस्मिन्नासानाले प्रवेश्येतरस्मिन्निर्गमयेदित्युक्तं तत्प्रकारस्त्वेकस्मिन्नासानाले सूत्रप्रांतं प्रवेश्येतरनासापुटमंगुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात्पश्चादितरनासानालेन रेचयेत् । पुनःपुनरेवं कुर्वत इतरनासानाले सूत्रप्रांतमायाति तस्य पूर्ववच्चालनं कुर्यादिति । अयं प्रकारस्तु बहुवारं कुर्वतः कदाचिद्भवति । एषोक्ता सिद्धैरणिमादिगुणसंपन्नैः । तदुक्तम्–'अवाप्ताष्टगुणैश्वर्याः सिद्धाः सद्भिर्निरूपिताः' इति । नेतिर्निगद्यते नेतिरिति कथ्यते ॥ २९ ॥

भाषार्थ–अब नैतिककर्मका वर्णन करते हैं कि, वितस्ति (विलायद) परिमित भलीप्रकार स्निग्ध (चिकने) सूत्रको नासिकाके नालमें प्रविष्ट करके मुखमें निकाल दे यह सिद्धोंने नेति कही है । यहां जितने सूत्रसे नेतिकर्म होसके उतना सूत्र लेना कुछ वितस्तिका नियम नहीं । और वह सूत्र नव दश वा पंद्रह तारका लेना--उस नेति करनेका प्रकार तो इसप्रकार है कि, सूत्रके प्रान्तभागको नासाके नालमें प्रविष्ट करके और दूसरी नासाके पुटको अंगुलिसे रोककर--पूरकप्राणायाम करे फिर मुखसे वायुका रेचन करै--वारंवार इसप्रकार करते हुए मनुष्यके मुखमें सूत्रका प्रान्त आजाता है–मुखमें आये सूत्रके प्रान्त (छोर) को और नासिकाके वाहर टिके सूत्रप्रान्तको शनैः २ चलावे इसको नेति कर्म कहते हैं--और चकारके पढनेसे एक नासिकाके नालमें प्रवेश करके दूसरी नासिकाके नालमें प्रवेश करले यह समझना. उसका प्रकार यह है कि, एक नासिकाके नालमें सूत्रके तांतको प्रवेश करके इतर नासिकाके पुटको अंगुलिसे दावकर पूरक प्राणायाम करै फिर इतर नासिकाके नालसे प्राणका रेचन करें । वारंवार इसप्रकार करते हुए मनुष्यकी दूसरी नासिकाके नालमें सूत्रका प्रांत आजाता है--उसका पूर्वके समानही चालन करै परन्तु यह प्रकार वहुतवार करनेवाले पुरुषको कदाचितही होता है । अणिमा आदि गुणोंसे युक्त सिद्धोंने यह नेति कही है -सोई इस वचनसे कहा है कि, जिनको अणिमा आदि आठ प्रकारका ऐश्वर्य होवे वे सज्जनोंने सिद्ध कहे हैं ॥ २९ ॥

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ॥
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु लिहंति च ॥ ३० ॥

नेतिगुणानाह—कपालशोधिनीति ॥ कपालं शोधयति शुद्धं मलरहितं करोतीति कपालशोधिनी। चकाराच्नासानालादीनामपि। एवशब्दोऽवधारणे। दिव्यां सूक्ष्मपदार्थग्राहिणीं दृष्टिं प्रकर्षेण ददातीति दिव्यदृष्टिप्रदायिनी नेतिक्रिया जत्रुणोः स्कंधसंध्योरूर्ध्वमुपरिभागे जातो जत्रूर्ध्वजातः स चासौ रोगाणामोघश्च तमाशु झटिति निहंति। चकारः पादपूरणे। 'स्कंधो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री संधी तस्यैव जत्रुणि।' इत्यमरः ॥ ३० ॥

भाषार्थ—अब नेतिके गुणोंको कहते हैं कि, यह नेतिक्रिया कपालको शुद्ध करती है और चकारसे नासिका आदिके मलको दूर करती है और दिव्य दृष्टिको देती है और जत्रुके अर्थात् स्कंधकी संधिके ऊपरले भागके रोगोंका जो समूह उसको शीघ्र नष्ट करती है, क्योंकि इस अमरकोशमें स्कंध भुजा शिर इनकी संधिको जत्रु कहा है ॥ ३० ॥

अथ त्राटकम्।

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ॥
अश्रुसंपातपर्यंतमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥ ३१ ॥

त्राटकमाह—निरीक्षेदिति ॥ समाहितः एकाग्रचित्तः निश्चलाचासौ दृक् च दृष्टिस्तया सूक्ष्मं च सूक्ष्मलक्ष्यमश्रूणां सम्यक् पातः पतनं तत्पर्यंतम्। अनेन निरीक्षणस्यावधिरुक्तः। निरीक्षेत्पश्येत्। आचार्यैर्मत्स्येंद्रादिभिरिदं त्राटकं त्राटककर्म स्मृतं कथितम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—अब त्राटकका वर्णन करते हैं कि, समाहित अर्थात् एकाग्रचित्त हुआ मनुष्य निश्चल दृष्टिसे सूक्ष्म लक्ष्यको अर्थात् लघुपदार्थको तबतक देखै जबतक अश्रुपात न होवे यह मत्स्येन्द्र आदि आचार्योंसे त्राटक कर्म कहा है ॥ ३१ ॥

मोचनं नेत्ररोगाणां तंद्रादीनां कपाटकम् ॥
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥ ३२ ॥

त्राटकगुणानाह—मोचनमिति ॥ नेत्रस्य रोगा नेत्ररोगास्तेषां मोचनं नाशकं तंद्रा आदिर्येषामालस्यादीनां तेषां कपाटवदंतर्धायकमभिभावकमित्यर्थः। तंद्रा तामसश्चित्तवृत्तिविशेषः। त्राटकं त्राटकाख्यं कर्म यत्नतः प्रयत्नतः प्रयत्नाद्गोप्यं गोपनीयम्। गोपने दृष्टांतमाह—

यथेति ॥ हाटकस्य सुवर्णस्य पेटकं पेटी इति लोके प्रसिद्धं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ-अब त्राटकके गुण कहते हैं कि, यह त्राटक कर्म नेत्रके रोगोंका नाशक है और तंद्रा आलस्य आदिका कपाट है अर्थात् कपाटके समान तंद्रा आदिका अन्तर्द्धान (तिरस्कार) करता है तमोगुणी जो चित्तकी वृत्ति उसे तन्द्रा कहते हैं। यह त्राटक कर्म इसप्रकार यत्नसे गुप्त करने योग्य है जैसे सुवर्णकी पेटी जगत्में गुप्त करने योग्य होती है ॥ ३२ ॥

अथ नौलिः।

अमंदावर्तवेगेन तुंदं सव्यापसव्यतः ॥
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्षते ॥ ३३ ॥

अथ नौलिकर्माह-अमंदेति ॥ नतौ नम्रीभूतावंसौ स्कंधौ यस्य स नतांसः पुमानमंदोऽतिशयितो य आवर्तस्तस्येव जलभ्रमस्येव वेगो जवस्तेन तुंदमुदरम्। 'पिचंडकुक्षी जठरोदरं तुंदं स्तनौ कुचौ'। इत्यमरः। सव्यं चापसव्यं च सव्यापसव्ये दक्षिणवामभागौ तयोः सव्यापसव्यतः। सप्तम्यर्थे तसिः। भ्रामयेद् भ्रमंतं प्रेरयेत्। सिद्धैरेषा नौलिः प्रचक्षते कथ्यते ॥ ३३ ॥

भाषार्थ-अब नौलिका वर्णन करते हैं कि, नवाये हैं कांधे जिसने ऐसा मनुष्य अत्यन्त है वेग जिसका ऐसे आवर्त (जलभ्रम) के समान वेगसे अपने तुंद (उदर) को सव्य और अपसव्य (अर्थात्) दक्षिणवामभागोंसे भ्रमावै सिद्धोंने यह नौलिकर्म कहा है ॥ ३३ ॥

मंदाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानंदकरी सदैव ॥
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रिया मौलिरियंच नौलिः ॥ ३४ ॥

नौलिगुणानाह-मंदाग्नीति ॥ मंदश्चासावग्निर्जठराग्निस्तस्य दीपनं सम्यग्दीपनं च पाचनं च भुक्तान्नपरिपाकश्च मंदाग्निसंदीपनपाचने ते आदिनी यस्य तन्मंदाग्निसंदीपनपाचनादि तस्य संधापिका विधात्री। आदिशब्देन मलशुद्ध्यादि। सदैव सर्वदैवानंदकरी सुखकरी। अशेषाः समस्ताश्च ते दोषाश्च वातादय आमयाश्च रोगास्तेषां शोषणी शोषणकर्त्री। हठस्य क्रियाणां धौत्यादीनां मौलिर्मौलिरिवोत्तमा धौतिवस्त्योर्नौलिसापेक्षत्वात्। इयमुक्ता नौलिः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ-अब नौलिके गुणोंको कहते हैं कि, मंदाग्निका भलीप्रकार दीपन और अन्न आदिका पाचन और सर्वदा आनंद इनको यह नौलि करती है और अशेष (समस्त) जो वात आदि दोष और रोग इनका शोषण (नाश) करती है और यह नौलि धौति आदि जो हठयोगकी क्रिया हैं उन सबकी नौलि (उत्तम) रूप है ॥ ३४ ॥

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ॥
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥ ३५ ॥

अथ कपालभातिं तद्गुणं चाह-भस्त्रावदिति ॥ लोहकारस्य भस्त्राग्नेर्धमनसाधनीभूतं चर्म तद्वत्संभ्रमेण सह वर्तमानौ ससंभ्रमावमंदौ यौ रेचपूरौ रेचकपूरकौ कपालभातिरिति विख्याता । कीदृशी कफदोषविशोषणी कफस्य दोषा विंशतिभेदभिन्नाः । तदुक्तं निदाने-'कफरोगाश्च विंशतिः' इति । तेषां विशोषणी विनाशिनी ॥ ३५ ॥

भाषार्थ-अब कपालभाति और उसके गुणोंको कहते हैं कि, लोहकारी भस्त्राके समान संभ्रमसे अर्थात् एकवार अत्यन्त शीघ्रतासे रेचक पूरक प्राणायामको करना वह योगशास्त्रमें कफदोषका नाशक कपालभाति विख्यात है ॥ ३५ ॥

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ॥
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥ ३६ ॥

षट्कर्मणां प्राणायामत्वोपकारकत्वमाह-षट्कर्मेति ॥ षट्कर्मभिर्धौतिप्रभृतिभिर्निर्गताः । स्थौल्यं स्थूलस्यभावःस्थूलत्वम् । कफदोषा विंशतिसंख्याका मलादयश्च यस्य स तथा 'शेषाद्विभाषा' इति कप्रत्ययः । आदिशब्देन पित्तादयः । प्राणायामं कुर्यात् । ततस्तस्मात्षट्कर्मपूर्वकात्प्राणायामादनायासेनाश्रमेण सिद्ध्यति । योग इति शेषः । षट्कर्माकरणे तु प्राणायामे श्रमाधिक्यं स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ-अब इन छः पूर्वोक्त कर्मोंको प्राणायामकी उपकारकताका वर्णन करते हैं कि, धौति आदि छः कर्मोंसे दूर भये हैं स्थूलता बीस प्रकारके कफदोष और मल पित्त आदि जिसके ऐसा पुरुष षट्कर्म करनेके अनंतर प्राणायाम करे तो अनायाससे (विनापरिश्रम) प्राणायाम सिद्ध होता है । यदि षट्कर्मोंको न करके प्राणायामोंको करे तो अधिक परिश्रम होता है इससे षट्कर्मके अनंतरही प्राणायाम करना उचित है ॥ ३६ ॥

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यंति मला इति ॥
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥ ३७ ॥

मतभेदेन षट्कर्मणामनुपयोगमाह—प्राणायामैरिति ॥प्राणायामैरेव। एवशब्दः षट्कर्मव्यवच्छेदार्थः। सर्वे मलाः प्रशुष्यंति । मला इत्युपलक्षणं स्थौल्यकफपित्तादीनाम् इति हेतोः केषांचिदा चार्याणां याज्ञवल्क्यादीनामन्यत्कर्म षट्कर्म न संमतं नाभिमतम् । आचार्यलक्षणमुक्तं वायुपुराणे। 'आचिनोति च शास्त्रार्थमाचरेत्स्थापयेऽपि । स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥' इति ॥ ३७ ॥

भाषार्थ–अब मतभेदसे छः कर्मके अनुपयोगको कहते हैं कि, प्राणायामके करनेसेही संपूर्ण मल शुष्क होते हैं और स्थौल्य कफ आदिकी निवृत्तिभी प्राणायामोंसेही होसकती है इससे किन्ही किन्ही आचार्योंको प्राणायामोंसे अन्य जो धौति आदि कर्म हैं वे सम्मत नहीं हैं। वायुपुराणमें आचार्यका लक्षण यह कहा है कि, जो शास्त्रके अर्थका संग्रह करै और शास्त्रोक्तको स्वयं करै और अन्योंसे करावै वह आचार्य कहाता है ॥ ३७ ॥

उदरगतपदार्थमुद्वमंति पवनमपानमुदीर्य कंठनाले ॥
क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः ३८॥

गजकरणीमाह—उदरगतमिति॥अपानं पवनमपानवायुं कंठनाले कंठो नाल इव कंठनालस्तस्मिन्नुदीर्योत्क्षिप्योदरे गतःप्राप्तःस चासौ पदार्थश्च भुक्तपीतान्नजलादिस्तं परयोद्वमंत्युद्गिरंति यथा योगिन इत्यध्याहारः। क्रमेण यः परिचयोऽभ्यासस्तेनावश्यं स्वाधीनं नाडीनां चक्रं यस्यां सा तथा। सा क्रिया हठज्ञैर्हठयोगाद्यभिज्ञैर्गजकरणीति निगद्यते कथ्यते। क्रमपरिचयवश्यनाडिमार्ग इति क्वचित्पाठस्तस्यायमर्थःक्रमपरिचयेन वश्यो नाड्याःशंखिन्याः मार्गः कंठपर्यंतो यस्यां सा तथा ॥ ३८ ॥

भाषार्थ-अब गजकरणीका वर्णन करते हैं कि, अपान वायुको ऊपरको उठाकर अर्थात् कंठके नालमें पहुँचाकर उदरमें प्राप्त हुये अन्न जल आदि पदार्थको जिससे योगीजन उद्वमन करते हैं इसका क्रमसे जो अभ्यास तिससे वशीभूत (स्वाधीन) है नाडियोंका समूह जिसके ऐसी उस क्रियाका नाम हठयोगके ज्ञाता आचार्योंने गजकरणी कहा है और कहीं क्रमपरिचय वश नाडिमार्ग यहभी पाठ है । उसका यह अर्थ है कि, क्रमसे किये अभ्याससे वशीभूत है शंखिनी नाडीका कंठपर्यंत मार्ग जिसमें ऐसी गजकरणी कहाती है ॥ ३८ ॥

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ॥
अभूवन्नंतकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥

प्राणायामोऽवश्यमभ्यसनीयः सर्वोत्तमैरभ्यस्तत्वान्महाफलत्वाच्चेति सूचयन्नाह चतुर्भिः ॥ ब्रह्मादय इति ॥ ब्रह्मा आदिर्येषां ते ब्रह्मादयस्तेऽपि। किमुतान्य इत्यर्थः। त्रिदशाः देवाः अंतयतीत्यंतकः कालस्तस्माद्भयमंतकभयं तस्मात्पवनस्य प्राणवायोरभ्यासो रेचकपूरककुंभकभेदभिन्नप्राणायामानुष्ठानरूपस्तस्मिंस्तत्परा अवहिता अभूवन्नासन्। तस्मात्पवनमभ्यसेत्प्राणमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ-अब प्राणायामके अवश्य अभ्यास और सर्वोत्तमोंके कर्तव्य और फलका वर्णन करते हैं कि, ब्रह्मा आदि देवताभी अन्तकके भयसे अर्थात् काल जीतनेके लिये प्राणवायुके अभ्यासमें तत्पर हुए अर्थात् रेचक कुम्भक पूरक भेदोंसे भिन्न २ जो प्राणायाम उनके करनेमें सावधान रहें तिससे प्राणायामके अभ्यासको अवश्य करै ॥ ३९ ॥

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम् ॥
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ४१ ॥

यावदिति ॥ यावद्यावत्कालपर्यंतं मरुत्प्राणानिलो देहे शरीरे बद्धः श्वासोच्छ्वासक्रियाशून्यः। यावच्चित्तमंतःकरणं निराकुलमविक्षिप्तं समाहितम्। यावद्भ्रुवोर्मध्ये दृष्टिरंतःकरणवृत्तिः। दृष्टिरत्र ज्ञानसामान्यार्थः। तावत्कालपर्यंतं कलयतीति कालोऽतकस्तस्माद्भयं कुतः। न कुतोऽपीत्यर्थः। तथा च वक्ष्यति-'खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा। साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥' इति। स्वाधीनो भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

भाषार्थ-यावत्कालपर्यंत प्राणवायु शरीरमें बद्ध है अर्थात् श्वास और उच्छ्वास क्रियासे शून्य है और इतने अन्तःकरण निराकुल अर्थात् विक्षेपरहित वा सावधान है और इतने भ्रुकुटियोंके मध्यमें अन्तःकरणकी वृत्ति है तावत्कालपर्यंत कालसे भय किसी प्रकार नहीं होसकता है अर्थात् योगी स्वाधीन होजाता है सोई आगे कहेंगे कि, उस योगीको कोई खा नहीं सकता न कोई कर्म बांध सकता न कोई उसे साधसकता जो योगी समाधिसे युक्त है ॥ ४० ॥

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ॥
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥ ४१ ॥

विधिवदिति ॥ विधिवत्प्राणसंयामैरासनजालंधरबंधादिविधियुक्तप्राणयामैर्नाडीचक्रे नाडीनां चक्रं समूहस्तस्मिन्विशोधिते निर्मले सति

मारुतो वायुः सुषुम्ना इडापिंगलयोर्मध्यस्था नाडी तस्या वदनं मुखं भित्त्वा सुखादनायासाद्विशति। सुषुम्नांतरिति शेषः ॥ ४१ ॥

भाषार्थ–विधिपूर्वक अर्थात् आसन जालंधरबन्ध आदि पूर्वक किये हुए प्राणायामोंसे नाडियोंके समूहके भलीप्रकार शोधन हुयेपर प्राणवायु इडा और पिंगलाके मध्यमें वर्तमान सुषुम्ना नाडीके मुखको भलीप्रकार भेदन करके सुषुम्नाके मुखमें सुखसे प्रविष्ट होजाता है ॥ ४१ ॥

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ॥
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥ ४२ ॥

मारुत इति ॥ मारुते प्राणवायौ मध्ये सुषुम्नामध्ये संचारः सम्यक्चरणं गमनं मूर्धपर्यंतं यस्य स मध्यसंचारस्तस्मिन् सति मनसः स्थैर्यं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो जायते प्रादुर्भवति। यो मनसः सुस्थिरीभावः सुष्ठु स्थिरीभवनं सैव मनोन्मन्यवस्था। मनोन्मनीशब्द उन्मनीपर्यायः तथाग्रे वक्ष्यति–'राजयोगः समाधिश्च' इत्यादिना ॥ ४२ ॥

भाषार्थ–जब प्राणवायुका सुषुम्नाके मध्यमें संचार होनेपर मनकी स्थिरता होजाती है अर्थात् ध्यान करने योग्य वस्तुके आकारकी वृत्तियोंका प्रवाह होजाता है वह जो मनका भलीप्रकार स्थिर होजाना है उसकोही मनोन्मनी अवस्था कहते हैं यहाँ मनोन्मनी शब्द उन्मनीका पर्याय है यही बात राजयोग और समाधियोगसे आगे कहेंगे ॥ ४२ ॥

तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुर्वंति कुंभकान् ॥
विचित्र कुंभकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

विचित्रेषु कुंभकेषु प्रवृत्तिं जनयितुं तेषां मुख्यफलमवांतरफलं चाह तत्सिद्धये इति ॥ विधानं कुंभकानुष्ठानप्रकारस्तज्जानंतीति विधानज्ञास्तत्सिद्धये उन्मन्यवस्थासिद्धये चित्रान्सूर्यभेदनादिभेदेन नानाविधान्कुंभकान्कुर्वंति। विचित्राश्च ते कुंभकाश्च विचित्रकुंभकास्तेषामभ्यासादनुष्ठानाद्विचित्रामणिमादिभेदेन नानाविधां विलक्षणां वा जन्मौषधिमंत्रतपोजाताम्। तदुक्तं भागवते–'जन्मौषधितपोमंत्रैर्यावतीरिह सिद्धयः। योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥' इति। आप्नुयात्प्रत्याहारादिपरंपरयेति भावः ॥ ४३ ॥

भाषार्थ-विचित्र कुंभकप्राणायामोंमें प्रवृत्ति होनेके लिये उनके मुख्य फल और अवांतरफलको कहते हैं–कुंभक प्राणायामकी विधिके ज्ञाता योगीजन उन्मनी अवस्था

सिद्धिके लिये अनेक प्रकारके अर्थात् सूर्यभेदन आदिसे भिन्न २ प्राणायामोंको करते हैं, क्योंकि विचित्र कुंभकप्राणायामोंके अभ्याससे विचित्रही सिद्धिको प्राप्त होजाता है अर्थात् जन्म, औषधी, मंत्र, तप इनसे उत्पन्न हुई विलक्षण सिद्धि कुंभक प्राणायामोंसे होती है। सोई भागवतमें कहा है कि, उत्तम जन्म औषधी तप और मंत्र इनसे जितनी सिद्धि होती है उन सबको योगी योगसे प्राप्त होता है और अन्य कर्मोंसे योगकी गति प्राप्त नहीं होती और उस गतिकी प्राप्ति प्रत्याहार आदिकी परम्परासे समझनी ॥ ४३ ॥

अथ कुंभकभेदाः।

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुंभकाः ॥४४॥

अथाष्टकुंभकानामान्युद्दिशति—सूर्यभेदनमिति ॥ स्पष्टम् ॥ ४४ ॥

भाषार्थ-अब आठ कुंभक प्राणायामोंको नाम लेलेकर दिखाते हैं कि, सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, प्लाविनी ये आठप्रकारके कुंभक-प्राणायाम जानने ॥ ४४ ॥

पूरकांते तु कर्तव्यो बंधो जालंधराभिधः ॥
कुंभकांते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ॥ ४५ ॥

अथ हठसिद्धावनन्यासिद्धां पारमहंसीं सर्वकुंभकसाधारणयुक्तिमाह त्रिभिः ॥ पूरकांत इति ॥ जालंधर इत्यभिधा नाम यस्य स जालंधराभिधो बंधो बध्नाति प्राणवायुमिति बंधः कंठाकुंचनपूर्वकं चिबुकस्य हृदि स्थापनं जालंधरबंधः पूरकांते पूरकस्यांते पूरकानंतरं झटिति कर्तव्यः। तुशब्दात्कुंभकादावुड्डियानकस्तु कुंभकांते कुंभकस्यांते किंचित्कुंभकशेषे रेचकस्यादौ रेचकादौ रेचकात्पूर्वं कर्तव्यः। प्रयत्नविशेषेण नाभिप्रदेशस्य पृष्ठत आकर्षणमुड्डियानबंधः ॥ ४५ ॥

भाषार्थ-अब हठसिद्धिकेविषे परमहंसोंकी उस सर्वकुम्भक साधारण युक्तिको तीन श्लोकोंसे कहते हैं जो अन्यसे सिद्ध न होसके कि, पूरकप्राणायामके अंतमें जालंधरहै नाम जिसका वह बंध करना अर्थात् कंठके आकुंचनको करके चिबुकको हृदयमें स्थापन-रूप जालंधरबंधसे प्राणवायुका बंधन करै और तुशब्दसे कुंभककी आदिमें भी जालंधर बंध करै और कुंभकके अंतमें अर्थात् कुंभकके किंचित् शेष रहनेपर और रेचकप्राणायामकी आदिमें उड्डियान बंधको करै प्रयत्न विशेषसे नाभिप्रदेशका पीठसे जो आकर्षण उसे उड्डियानबंध कहते हैं ॥ ४५ ॥

अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते ॥
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ ४६ ॥

अधस्तादिति ॥ कंठस्य संकोचनं कंठसंकोचनं तस्मिन्कृते सति जालंधरबंधे कृते सतीत्यर्थः । आश्वव्यवहितोत्तरमेवाधस्तादधःप्रदेशादाकुंचनेनाधाराकुंचनेन मूलबंधेनेत्यर्थः । मध्ये नाभिप्रदेशे पश्चिमतः पृष्ठतस्तानंताननमाकर्षणं तेनोड्डियानबंधेनेत्यर्थः । उक्तरीत्या कृतेन बंधत्रयेण प्राणो वायुर्ब्रह्मनाडीं सुषुम्नां गच्छतीति ब्रह्मनाडिगः सुषुम्नानाडिगामी स्यादित्यर्थः अत्रेदं रहस्यम् । यदि श्रीगुरुमुखाज्जिह्वाबंधः सम्यक् परिज्ञातस्तर्हि जिह्वाबंधपूर्वकेन जालंधरबंधेनैव प्राणायामः सिध्यति । वायुप्रकोपेनैवमधातुवपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नतेत्यादीनि सर्वाणि लक्षणानि जायंत इति मूलबंधोड्डियानबंधौ नोपयुक्तौ। तयोर्जिह्वाबंधपूर्वकेण जालंधरबंधेनान्यथा सिद्धत्वात् । जिह्वाबंधो न विदितश्चेदधस्तात्कुंचनेनेति श्लोकोक्तरीत्या प्राणायामाः कर्तव्याः । त्रयोऽपि बंधा गुरुमुखाज्ज्ञातव्याः । मूलबंधस्तु सम्यगज्ञातो नानारोगोत्पादकः । तथा हि । यदि मूलबंधे कृते धातुक्षयो विष्टंभोऽग्निमांद्यं नादमांद्यं गुटिकासमूहाकारमजस्येव पुरीषं स्यात्तदा मूलबंधः सम्यङ्न ज्ञात इति बोध्यम् । यदि तु धातुपुष्टिः सम्यक् मलशुद्धिरग्निदीप्तिः सम्यक् नादाभिव्यक्तिश्च स्यात्तदा ज्ञेयं मूलबंधः सम्यक् जात इति ॥ ४६ ॥

भाषार्थ–कंठका संकोचन करनेपर अर्थात् जालंधर बंध किये पीछे शीघ्रही नीचेके प्रदेशसे आकुंचन होनेसे अर्थात् आकुंचनसे मूलबंध होनेसे हुआ जो मध्यमें पश्चिमतान अर्थात् पृष्ठसे नाभिप्रदेशमें प्राणका आकर्षण रूप उड्डियान बंधसे प्राण ब्रह्मनाडीगत होजाता है । सुषुम्ना नाडीमें पहुँच जाता है, यहां यह रहस्य अर्थात् गोप्य वस्तु है कि, यदि गुरुमुखसे जिह्वाबंध भलीप्रकार जानलिया होय तो जिह्वाबंधके करनेके अनंतरही जालंधर बंधसे प्राणायाम सिद्ध होता है अर्थात् वायुके प्रकोपनसेही धातुओंकी प्रसन्नता देहमें कृशता और मुखकी प्रसन्नता आदि संपूर्ण लक्षण होजाते हैं इससे मूलबंध उड्डियान बन्ध करनेका कुछ उपयोग नहीं और जिह्वाबन्ध न जाना होय तो इस श्लोकमें उक्त रीतिसे प्राणायाम करने और ये तीनों बन्ध गुरुमुखसे जानने योग्य हैं, क्योंकि भलीप्रकार न जाना हुआ मूलबंध नानारोगोंको पैदा करता है सोई दिखाते हैं कि, यदि मूलबंध किये पर धातुका क्षय विष्टंभ मंदाग्नि नादकी मंदता और गुटकाके समूहकेसा है, आकार

जिसका ऐसा बकरीके समान पुरीष (मल) होय तो यह जानना कि, मूलबंध भली-प्रकार नहीं हुआ और यदि धातुओंकी पुष्टि भलीप्रकार मलशुद्धि और अग्निका दीपन और भलीप्रकार नादकी प्रकटता होय तो यह जानना कि, मूलबन्ध भलीप्रकार हुआ है. भावार्थ यह है कण्ठके संकोच कियेपर नीचेके प्रदेशसे प्राणके आकुंचनसे पश्चिमतान करनेपर नाभिप्रदेशमें पृष्ठसे प्राणके आकर्षणसे प्राण सुषुम्नामें पहुँच जाता है ॥४६॥

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कंठादधो नयेत् ।
योगी जराविमुक्तः सन्षोडशाब्दवयो भवेत् ॥ ४७ ॥

अपानमिति ॥ अपानमपानवायुमूर्ध्वमुत्थाप्याधाराकुंचनेन प्राणं प्राणवायुं कंठादधःअधोभागे नयेत्प्रापयेद्यःस योगी योगोऽस्यास्तिअभ्य-स्यत्वेनेति योगी योगाभ्यासी जरया वार्धक्येन विमुक्तो विशेषेण मुक्तः सन् । षोडशानामब्दानां समाहारःषोडशाब्दं षोडशाब्दं वयो यस्य स तादृशो भवेत् । यद्यपि 'पूरकांते तु कर्तव्यः' इत्यादिना त्रयाणां श्लोकानामेक एवार्थःपर्यवस्यति तथापि 'पूरकांते तु कर्तव्यः ' इत्यनेन बंधानां काल उक्तः । 'अधस्तात्कुंचनेन' इत्यनेन बधानां स्वरूपमु-क्तम् । 'अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य' इत्यनेन बंधानां फलमुक्तमिति विशेषः । जालंधरबंधे मूलबंधे च कृते नाभेरधोभाग आकर्षणाख्यो बंध उड्डिया-नबंधो भवत्येवेत्यस्मिन्श्लोके नोक्तः । तथाचोक्तं ज्ञानेश्वरेण गीताषष्ठा-ध्यायव्याख्यायाम् । 'मूलबंधे जालंधरबंधे च कृते नाभेरधोभाग आक र्षणाख्यो बंधः स्वयमेव भवति ॥ ४७ ॥

भाषार्थ-अपानवायुको ऊर्ध्व (ऊपर) को उठाकर आधाराकुंचनसे प्राणवायुको जो कंठके अधोभागमें स्थापन करै वह योगी जरासे विमुक्त होताहै और षोडश वर्षका है देह जिसका ऐसा होता है. यद्यपि पूर्वोक्त तीनों श्लोकोंका अंतमें एकही अर्थ होता है तथापि (पूरकान्ते) इस प्रथम श्लोकसे बन्धोंका समय कहा है और (अधस्तात्कुंचनेन) इस दूसरे श्लोकसे बन्धोंका स्वरूप कहा (अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य) इस तीसरे श्लोकसे बन्धोंका फल कहा है यह विशेष जानना और जालंधरबंध और मूलबंध करनेपर नाभिके भागमें आकर्षण नामका बन्ध जो उड्डियान बंध है वह स्वयंही होजाता है इससे इस श्लोकमें नहीं कहा, सोई ज्ञानेश्वरने गीतामें छठे अध्यायकी व्याख्यामें कहा है मूलबन्ध जालंधरकिये पीछे आकर्षण नामका बन्ध स्वयंही होजाता है ॥ ४७ ॥

अथ सूर्यभेदनम् ।

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं ततः ॥
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ॥ ४८ ॥

"योगाभ्यासक्रमं वक्ष्ये योगिनां योगसिद्धये । उषःकाले समुत्थाय प्रातःकालेऽथवा बुधः ॥१॥ गुरुं संस्मृत्य शिरसि हृदये स्वेष्टदेवताम् । शौचं कृत्वा दंतशुद्धिं विदध्याद्भस्मधारणम् ॥२॥ शुचौ देशे मठे रम्ये प्रतिष्ठाप्यासनं मृदु । तत्रोपविश्य संस्मृत्य मनसा गुरुमीश्वरम् ॥ ३ ॥ देशकालौ च संकीर्त्य संकल्प्य विधिपूर्वकम् । अद्येत्यादि श्रीपरमेश्वरप्रसादपूर्वकं समाधितत्फलसिद्ध्यर्थमासनपूर्वकान् प्राणायामादीन् करिष्ये। अनंतं प्रणमेद्देवं नागेशं पीठसिद्धये॥४॥मणिभ्राजत्फणासहस्रविधृतविश्वंभरामंडलायानंताय नागराजाय नमः । ततोऽभ्यसेदासनानि श्रमे जाते शवासनम् । अन्ते समभ्यसेत्तत्तु श्रमाभावे तु नाभ्यसेत् ॥ ५ ॥ करणीं विपरीताख्यां कुंभकात्पूर्वमभ्यसेत्।जालंधरप्रसादार्थं कुंभकात्पूर्वयोगतः॥६ विधायाचमनं कृत्वा कर्मांगं प्राणसंयमम् । योगींद्रादीन्नमस्कृत्य कौर्मोक्त शिववाक्यतः ॥७॥" कूर्मपुराणे शिववाक्यम्–"नमस्कृत्याथ योगींद्रान्स शिष्यांश्च विनायकम् । गुरुं चैवाथ मां योगी युंजीत सुसमाहितः ॥८॥ बद्धाभ्यासे सिद्धपीठे कुंभका बंधपूर्वकम् । प्रथमे दश कर्तव्याः पंचवृद्ध्या दिनेदिने ॥ ९ ॥ कार्या अशीतिपर्यंतं कुंभकाः सुसमाहितैः । योगींद्रः प्रथमं कुर्यादभ्यासं चंद्रसूर्ययोः ॥१०॥ अनुलोमविलोमाख्यमेतं प्राहुर्मनीषिणः । सूर्यभेदनमभ्यस्य बंधपूर्वकमेकधीः ॥ ११ ॥ उज्जायिनं ततः कुर्यात्सीत्कारीं शीतलीं ततः । भस्त्रिकां च समभ्यस्य कुर्यादन्यान्नवापरान्॥१२॥मुद्राःसमभ्यसेद्बद्ध्वा गुरुवक्त्राद्यथाक्रमम् । ततः पद्मासनं बद्ध्वा कुर्यान्नादानुचिंतनम् ॥१३॥ अभ्यासं सकलं कुर्यादीश्वरार्पणमादृतः । अभ्यासादुत्थितः स्नानं कुर्यादुष्णेन वारिणा ॥१४॥ स्नात्वा समापयेन्नित्यं कर्म संक्षेपतःसुधीः । मध्याह्नेऽपि तथाभ्यस्य किंचिद्विश्रम्य भोजनम् ॥१५॥ कुर्वीत योगिनां पथ्यमपथ्यं न कदाचन । एलां वापि लवंगं वा भोजनांते च भक्षयेत्॥१६॥केचित्कर्पूरमिच्छंति तांबूलं शोभनं तथा । चूर्णेन रहितं शस्तं पवनाभ्यासयोगिनाम् ॥१७॥ इति चिंतामणेर्वाक्यं वारस्यं भजते नहि । केचित्पदेन यस्मात्तु तयोः शीतोष्णहेतुना ॥१८॥

भोजनानंतरं कुर्यान्मोक्षशास्त्रावलोकनम्। पुराणश्रवणं वापि नामसंकीर्तनं विभोः ॥ १९ ॥ सायंसंध्याविधिं कृत्वा योगं पूर्ववदभ्यसेत् ॥ यदा त्रिघटिकाशेषो दिवसोऽभ्यासमाचरेत् ॥ २० ॥ अभ्यासानंतरं कार्या सायंसंध्या सदा बुधैः। अर्धरात्रे हठाभ्यासं विदध्यात्पूर्ववद्यमी ॥ २१ ॥ विपरीतां तु करणीं सायंकालार्धरात्रयोः। नाभ्यसेद्भोजनादूर्ध्वं यतः सा न प्रशस्यते ॥ ॥ २२ ॥" अथोद्देशानुक्रमणं कुंभकान्विवक्षुस्तत्र प्रथमोदितं सूर्यभेदनं तद्गुणांश्चाह त्रिभिः–आसन इति ॥ सुखं ददातीति सुखदं तस्मिन्सुखदे। 'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥' इत्युक्तलक्षणे विविक्तदेशे सुखासनस्थः शुचिः 'समग्रीवशिरःशरीरम्' इति श्रुतेश्च चैलाजिनकुशोत्तर आसने। आस्तेऽस्मिन्नित्यासनम्। आस्यतेऽनेनेति वा तस्मिन् योगी योगाभ्यासी। आसनं स्वस्तिकवीरसिद्धपद्माद्यन्यतमं मुख्यत्वात्सिद्धासनमेव वा बद्धा बंधनेन संपाद्यैव कृत्वेत्यर्थः। तत आसनबंधानंतरं दक्षा दक्षिणभागस्था या नाडी पिंगला तया बहिःस्थं देहाद्बहिर्वर्तमानं पवनं वायुं शनैर्मंदंमंदमाकृष्य पिंगलया मंदमंदं पूरकं कृत्वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

भाषार्थ–अब सूर्यभेदन आदि आठ कुंभकोंके वर्णन करनेके अभिलाषी आचार्य सबसे प्रथम जो सूर्यभेदन उसका वर्णन करते हैं और हम कुछ योगाभ्यासका क्रम यहांपर लिखते हैं कि योगियोंकी योगसिद्धिके लिये योगाभ्यासको कहते हैं उससे अर्थात् प्रातःकालमें उठकर और शिरपर अपने गुरुका और हृदयमें अपने इष्टदेवका वर्णन करके दंतधावन और भस्मधारण करै शुद्धदेश और रमणीय मठमें कोमल आसन बिछाकर उसपर बैठकर और ईश्वर और गुरुका मनसे स्मरण करके देश और कालका कथन करके अर्थात् विधिपूर्वक संकल्प करके कि, अद्येत्यादि श्रीपरमेश्वरकी प्रसन्नतापूर्वक समाधि और उसके फलकी सिद्धिके लिये आसनपूर्वक प्राणायामोंको करताहूं और आसनकी सिद्धिके लिये अनंत जो नागेश देव हैं उनको प्रणाम करै कि, मणियोंसे शोभायमान सहस्रों फणोंपर धारण किया है विश्वमंडल जिसने ऐसे अनंत नागराजको नमस्कार है। फिर आसनोंका अभ्यास करै और परिश्रम होय तो शवासन करै और उसका अन्तमें अभ्यास करै और श्रम न होय तो शवासनका अभ्यास न करै और विपरीत है नाम जिसका ऐसी करणीका कुंभकसे पूर्व अभ्यास करै जालंधरकी प्रसन्नता (सिद्धि) के लिये कुंभकसे पूर्व आचमन करके कर्मका अंग जो प्राणिसंयम उसको करै। कूर्मपुराणमें शिवके वचनानुसार योगींद्रोंको नमस्कार करके, कूर्मपुराणमें शिवका वाक्य यह है कि, शिष्योंसहित योगींद्र और गणेश

गुरु और मुक्त शिवजीको नमस्कार करके भलीप्रकार सावधान हुआ योगी योगाभ्यास करै और अभ्यासके समय कुंभकसे बंधपूर्वक सिद्ध पीठ (आसन) बांधकर पहिले दिन दश प्राणायाम करै । फिर दिन दिनमें (प्रतिदिन) पांच २ की वृद्धिसे प्राणायाम करै इस प्रकार अस्सी प्राणायामोंको भलीप्रकार सावधान मनुष्य करै । प्रथम योगीन्द्र चन्द्र और सूर्यका अभ्यास करै और बुद्धिमान् मनुष्योंने यह अनुलोम विलोमरूपसे दोप्रकारका कहा है और एकाग्रबुद्धि होकर बन्ध पूर्वक सूर्यभेदनका अभ्यास करके फिर उज्जायीको करै फिर सीत्कारी और शीतलीको करै फिर भस्त्रिकाका अभ्यास करके अन्य प्राणायामको करै वा न करै और प्राणोंको बांधकर गुरुमुखसे कहे क्रमके अनुसार मुद्राओंका भलीप्रकार अभ्यास करै फिर पद्मासनको बांधकर नादका अनुचिंतन (स्मरण) करै और आदरपूर्वक ईश्वरार्पणबुद्धिसे संपूर्ण अभ्यासको करै और अभ्याससे उठकर उष्ण जलसे स्नानकरै और संक्षेपसे किये नित्यके कर्मको स्नान करके बुद्धिमान् मनुष्य समाप्त करै और मध्याह्नमें भी तिसीप्रकार अभ्यास करनेके अनंतर कुछ विश्राम करके भोजन करै । योगियोंको पथ्य भोजन करावे अपथ्य कदापि न करावे । इलायची वा लोग भोजनके अंतमें भक्षण करै और कोई आचार्य कपूर और सुंदर तांबूलके भोजनको कहते हैं और प्राणायामके अभ्यासी योगियोंको चूनेसे रहित तांबूल श्रेष्ठ होता है केचित्पदके पढनेसे यह चिंतामणिका वचन उत्तम नहीं है क्योंकि चन्द्र और सूर्य शीत उष्णके हेतु हैं भोजनके अनंतर मोक्षशास्त्रको देखै (विचारै) और शव तीन घटी दिन शेष रहै तब फिर अभ्यास करै और अभ्यासके अनंतर बुद्धिमान् मनुष्य सायंसन्ध्याको करै फिर योगी अर्द्धरात्रके समय पूर्वके समान हठयोगका अभ्यास करै और सायंकाल और अर्द्धरात्रके समयमें विपरीत करणीका अभ्यास न करै, क्योंकि भोजनके अनंतर विपरीतकरणी श्रेष्ठ नहीं कही है । अब प्रासंगिकको समाप्त करके श्लोकार्थको कहते हैं कि, सुखदायी आसनपर योगी पूर्वोक्त अर्थात् शुद्ध देशमें न अत्यंत ऊंचा और न अत्यंत नीचा और जिसपर क्रमसे वस्त्र मृगचर्म बिछेहों ऐसे आसनको बांधकर जिसमें "ग्रीवा शरीर शिर ये समान रहैं" इस श्रुतिके अनुसार ऐसे आसनको बांधकर अर्थात् स्वस्तिक वीर सिद्ध पद्म कोईसे आसनसे बैठकर फिर दक्षिण नाडी (पिंगला) से देहसे बाहर वर्तमान जो पवन उसको शनैः २ खींचकर अर्थात् पिंगला नाडीसे पूरकप्राणायामको करके ॥ ४८ ॥

आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत् ॥
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ॥४९॥

आकेशादिति ॥ केशानामर्मादीकृत्याकेशं तस्मान्नखाग्रानामर्यादीकृत्येत्यानखाग्रं तस्माच्च निरोधस्य वायोरवरोधस्यावधिर्मर्यादा यस्मिन्कर्मणि तत्तथा कुंभयेत्। केशपर्यंतं नखाग्रपर्यंतं च वायोर्निरोधो यथा भवेत्तथातिप्रयत्नेन कुंभकं कुर्यादित्यर्थः। ननु 'हठान्निरुद्धः प्राणोऽयं रोमकूपेषु निःसरेत्। देहं विदारयत्येष कुष्ठादि जनयत्यपि ॥ ततः प्रत्यापितव्योऽसौ क्रमेणारण्यहस्तिवत्। वन्यो गजो गजारिर्वा क्रमेण मृदुतामियात्। करोति शास्त्रनिर्देशान्न च तं परिलंघयेत्। तथा प्राणो हृदिस्थोऽयं योगिनां क्रमयोगतः॥ गृहीतः सेव्यमानस्तु विश्रंभमुपगच्छति' इति वाक्यविरुद्धमिति प्रयत्नेन कुंभकं कुर्यादिति कथमुक्तमिति चेन्न। 'हठान्निरुद्धः प्राणोऽयम्' इति वाक्यस्य बलादचिरेण प्राणजयं करिष्यामीति बुद्ध्यारंभः॥ एवं च बह्वभ्यासासक्तपरत्वात्क्रमेणारण्यहस्तिवदिति दृष्टांतस्वारस्याच्च। अत एव सूर्याचंद्रमसोरभ्यासे धारयित्वा यथाशक्ति निधारयेदिति निरोधत इति चोक्तं संगच्छते। तस्मात्कुंभकस्त्वतिप्रयत्नपूर्वकं कर्तव्यः। यथायथातियत्नेन कुंभकः क्रियते तथा तथा तस्मिन्गुणाधिक्यं भवेत्। यथायथा च शिथिलःकुंभकःस्यात्तथातथा गुणाल्पत्वं स्यात्। अत्र योगिनामनुभवोऽपि मानम्। पूरकस्तु शनैःशनैः कार्यः वेगाद्वा कर्तव्यः।वेगादपि कृते पूरके दोषाभावात्। रेचकस्तु शनैः शनैरेव कर्तव्यः। वेगात्कृते रेचके बलहानिप्रसंगात्। 'ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्न तु वेगतः।' इत्याद्यनेकधा ग्रंथकारोक्तेश्च। ततो निरोधावधि कुंभकानंतरं शनैःशनैर्मदंमंदं सव्ये वामभागे स्थिता नाडी सव्यनाडी तया सव्यनाड्या इडया पवनं वायुं रेचयेद्बहिर्निःसारयेत्। पुनः शनैरित्युक्तिस्तु शनैरेव रेचयेदित्यवधारणार्था। तदुक्तं-'विस्मये च विषादे च दैन्ये चैवावधारणे। तथा प्रसादने हर्षे वाक्यमेकं द्विरुच्यते॥ इति॥ ४९॥

भाषार्थ-और नखाग्रसे लेकर केशोंपर्यंत जबतक निरोध होय अर्थात् संपूर्ण शरीरमें पवन रुकजाय तावत्पर्यंत कुंभकप्राणायाम करै कदाचित् कोई शंका करै कि, हठसे रोका यह प्राण रोमकूपोंके द्वारा निकसजायगा देह फटजायगा वा कुष्ठ आदि रोग होजायँगे तिससे इसको यत्नसे प्रतीतिके द्वारा इस प्रकार रखना चाहिये जैसे वनके हस्तीको वशमें रखते हैं कि, वनका हाथी वा सिंह क्रमसे मृदु होजाताहै और स्वामीकी आज्ञाका उलंघन

नहीं करता और शास्त्रोक्त अपने स्वामीकी आज्ञाको करताहै तिसीप्रकार हृदयमें स्थित यह प्राण भी क्रमसेही योगियोंको ग्रहण करना चाहिये क्योंकि सेवा करनेसे प्राण विश्वासको प्राप्त होजाताहै । इस वाक्यके विरुद्ध आपका कथन है इससे कैसे कहतेहो कि, यत्नसे कुंभकको करै यह किसीकी शंका ठीक नहीं क्योंकि 'हठसे रोकाहुआ प्राण' इस वाक्यका इस बुद्धिसे आरंभहै कि, वलसे शीघ्रही मैं प्राणका जय करूँगा इससे उसके लियेही यह वचनहै कि, जो वहुत अभ्यास करनेमें असमर्थ है इसीसे क्रमसे वनके हस्तीके समान यह दृष्टान्त भी ठीक लगसक्ताहै इसीसे सूर्य और चन्द्रमा नाडीके अभ्याससे धारण करके (रोककर) यथाशक्ति धारण करै यह भी पूर्वोक्त संगत होताहै तिससे अत्यंत प्रयत्नसे कुंभकप्राणायाम करना क्योंकि जैसे जैसे प्रयत्नसे कुंभक किया जाताहै तैसा तैसाही उसमें अधिक गुण होता है और जैसा जैसा शिथिल होताहै तैसा तैसाही अल्पगुण होताहै और इसमें योगियोंका अनुभव भी प्रमाण है पूरकप्राणायाम तो शनैः वा वेगसे करना क्योंकि वेगसे किये भी पूरकमें दोष नहीं-और रेचक तो शनैः करना क्योंकि वेगसे रेचक करनेमें वलकी हानि होती है तिससे शनैः २ ही रेचक करै वेगसे न करै-इत्यादि अनेक ग्रंथकारोंकी युक्तिसे पूर्वोक्त शंका ठीक नहीं है-फिर प्राणके निरोध पर्यंत कुंभकके अनंतर सव्य नाडीसे अर्थात् वामभागमें स्थित-इडानाडीके द्वारा प्राणवायुका शनैः २ रेचन करै इस श्लोकमें पुनः जो शनैः पद पढा है वह अवधारणके लिये है सोई इस वचनमें कहाहै कि, विस्मय विषाद दीनता और अवधारण (निश्चय) इनमें एक शब्दका दोवार निश्चय किया जाता है । भावार्थ यहहै कि नखके अग्रभागसे लेकर केशोंपर्यंतके पवनको रोककर कुंभक करै फिर वामभागमें स्थित इडा नाडीसे शनैः २ पवनका रेचक करै ॥ ४९ ॥

कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत् ॥
पुनःपुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥ ५० ॥

कपालशोधनमिति ॥ कपालस्य मस्तकस्य शोधनं शुद्धिकरं वातजा दोषा वातदोषा अशीतिप्रकारास्तान् हंतीति वातदोषघ्नं कृमीणामुदरे जातानां दोषो विकारस्तं हरतीति कृमिदोषहृत् पुनःपुनर्भूयोभूयः कार्यम् । सूर्येणापूर्य कुंभयित्वा चन्द्रेण रेचनमिति रीत्येदमुत्तममुत्कृष्टं सूर्यभेदनं सूर्यभेदनाख्यमुक्तम् । योगिभिरिति शेषः ॥ ५० ॥

भाषार्थ-यह सूर्यभेदन नामका कुंभक मस्तकको शुद्ध करताहै और अस्सी प्रकारके वातदोषोंको हरताहै-और उदरमें पैदाहुआ जो कृमि उनको नष्ट करताहै-इससे यह उत्तम सूर्यभेदन वारंवार करना-अर्थात् सूर्यनाडीसे पूरक और कुंभक करके चंद्रनाडीसे रेचन करै-इस रीतिसे किया हुआ यह सूर्यभेदन योगीजनोंने उत्तम कहाहै ॥ ५० ॥

अथोज्जायी।

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥
यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥ ५१ ॥

उज्जायिनमाह सार्धेन-मुखमिति ॥ मुखमास्यं संयम्य संयतं कृत्वा मुद्रयित्वेत्यर्थः। कंठात्तु कंठादारभ्य हृदयावधि हृदयमवधिर्यस्मिन्कर्मणि तत्तथा स्वनेन सहितं यथा स्यात्तथा। उभे क्रियाविशेषणे। लगति श्लिष्यते पवन इत्यर्थात्। तथा तेन प्रकारेण नाडीभ्यामिडापिंगलाभ्यां पवनं वायुं शनैर्मंदमाकृष्याकृष्टं कृत्वा पूरयित्वेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

भाषार्थ-अब डेढ श्लोकसे उज्जायी नामके कुंभकको कहते हैं मुखका संयमन (दाबना) करके और इडा और पिंगला नाडीसे शनैः शनैः इस प्रकार पवनका आकर्षण करै जिस-प्रकार वह पवन कण्ठसे हृदय पर्यंत शब्द करती हुई लगै ॥ ५१ ॥

पूर्ववत्कुंभयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥
श्लेष्मदोषहरं कंठे देहानलविवर्धनम् ॥ ५२ ॥

पूर्ववदिति ॥ प्राणं पूर्ववत्पूर्वेण सूर्यभेदनेन तुल्यं पूर्ववत्। 'आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत्'। इत्युक्तरीत्या कुंभयेद्रोधयेत। ततः कुंभकानंतरमिडया वामनाड्या रेचयेत्त्यजेत्। उज्जायिगुणानाह सार्धश्लोकेनश्लेष्मदोषहरमिति। कंठे कंठप्रदेशे श्लेष्मणो दोषाः श्लेष्मदोषाः कासादयस्तान् हरतीति श्लेष्मदोषहरस्तं देहानलस्य देहमध्यगतानलस्य जाठरस्य विवर्धनं विशेषेण वर्धनं दीपनमित्यर्थः ॥ ५२ ॥

भाषार्थ-फिर सूर्यभेदनके समान प्राणका कुंभक करै फिर कुंभक करनेके अनंतर इडा वामनाडीसे प्राणका रेचन करै अर्थात् मुखके द्वारा बाहिर देशमें पवनको निकासे। अब डेढ श्लोकसे उज्जायीके गुणोंको कहते हैं कि कण्ठमें जो श्लेष्म-कफके दोष हैं उनको हरता है-और जठराग्निको बढाताहै-अर्थात् दीपन करता है ॥ ५२ ॥

नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ॥
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुंभकम् ॥ ५३ ॥

नाडीति ॥ नाडी शिरा जलं पीतमुदकमुदरं तुंदमासमंताद्देहे वर्तमाना धातव आधातवः। एषामितरेतरद्वंद्वः। तेषु गतः प्राप्तो यो दोषो

विकारस्तं विशेषेण नाशयतीति नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् । गच्छता गमनं कुर्वता तिष्ठता स्थितेन वापि पुंसा उज्जाय्याख्यमुज्जायीत्याख्या यस्य तत् । तु इत्यनेन नास्य वैशिष्ट्यं द्योतयति । कार्यं कर्तव्यम् । उज्जापीति क्वचित्पाठः । गच्छता तिष्ठता तु बंधरहितः कर्तव्यः । कुंभकशब्दस्त्रिलिंगः । पुंलिंगपाठे तु विशेषणेऽपि पुंलिंगः पाठः कार्यः ॥५३॥

भाषार्थ–नाडी जलोदर और संपूर्ण देहमें वर्तमान जो धातु इनमें जितने दोषहैं उनको नष्ट करताहै–और यह उज्जायी नामका कुंभक, गमन करते हुए वा बैठे हुए–मनुष्यको भी करने योग्य है अर्थात् इसमें पूर्वोक्त बंधोंकी आवश्यकता नहीं ॥ ५३ ॥

अथ सीत्कारी ।

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृंभिकाम् ॥
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ ५४ ॥

सीत्कारीकुंभकमाह–सीत्कामिति ॥ वक्त्रे मुखे सीत्कां सीदेव सीत्का सीदिति शब्दः सीत्कारस्तां कुर्यात् । ओष्ठयोरंतरे संलग्नया जिह्वया सीत्कारपूर्वकं मुखेन पूरकं कुर्यादित्यर्थः । घ्राणेनैव नासिकयैवेत्यनेनोभाभ्यां नासापुटाभ्यां रेचकः कार्य इत्युक्तम् । एवशब्देन वक्त्रस्य व्यवच्छेदः । वक्त्रेण वायोर्निःसारणं तदभ्यासानंतरमपि न कार्यम् । बलहानिकरत्वात् । विजृंभिकां रेचकं कुर्यादित्यत्रापि संबध्यते । कुंभकस्त्वनुक्तोऽपि सीत्कार्याः कुंभकत्वादेवावगंतव्यः । अथ सीत्कार्याः प्रशंसा । एवमुक्तप्रकारेणाभ्यासः पौनः पुन्येनानुष्ठानं स एव योगः योगसाधनत्वात्तेन द्वितीय एव द्वितीयकः कामदेवः कंदर्पः । रूपलावण्यातिशयने कामदेवसादृश्यात् ॥५४॥

भाषार्थ–अब सीत्कारी कुंभकका वर्णन करते हैं–तिसीप्रकार सीतका (सीत्कार) को करै अर्थात् दोनों ओष्ठोंके मध्यमें लगीहुई–जिह्वासे–सीत्कार करताहुआ मुखसे प्राणायाम करै–और घ्राणसेही अर्थात् नासिकाके दोनों पुटोंसे रेचक करै–यहां एव शब्दसे यह सूचन किया है कि, मुखसे रेचक न करै और मुखसे वायुका निकासना तो अभ्यासके अनंतर भी न करै क्योंकि उससे बलकी हानि होतीहै–यहां विजृंभिका शब्दसे रेचक प्राणायामका ग्रहण है–अब सीत्कारीकी प्रशंसाको कहते हैं कि, इस पूर्वोक्त प्रकारके अभ्याससे अर्थात् वारम्वार करनेसे रूपयोगसे योगी ऐसा होजाता है, मानो दूसरा कामदेव है, अर्थात् रूप और शोभामें कामदेवके समान होजाता है ॥ ५४ ॥

योगिनी चक्रसामान्यसृष्टिसंहारकारकः ॥
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥५५॥

योगिनीति ॥ योगिनीनां चक्रं योगिनीचक्रं योगिनीसमूहः तस्य सामान्यः संसेव्यः। सृष्टिः प्रपंचोत्पत्तिः संहारस्तल्लयः तयोः कारकः कर्ता। क्षुधा भोक्तुमिच्छा न। तृषा जलपानेच्छा न। निद्रा सुषुप्तिर्न। आलस्यं कायचित्तगौरवात्प्रवृत्त्यभावः। कायगौरवं कफादिना चित्तगौरव तमोगुणेन। नैव प्रजायते नैव प्रादुर्भवति। एवमभ्यासयोगेनेति प्रजायत इति च प्रति वाक्यं संबध्यते ॥ ५५ ॥

भाषार्थ-योगिनिओंका जो समूह उसके भलीप्रकार सेवने योग्य होता है और सृष्टिकी उत्पत्ति और लय (संसार) इनका कर्ता होता है और सीत्कारी प्राणायामके करनेवालेको क्षुधा तृषा और निद्रा आलस्य अर्थात् देह और चित्तके गौरवसे कार्यमें प्रवृत्तिका अभाव उनमें देहका गौरव कफ आदिसे और चित्तका गौरव तमोगुणसे जानना नहीं होते हैं ॥ ५५ ॥

भवेत्सत्त्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः ॥
अनेन विधिना सत्यं योगींद्रो भूमिमंडले ॥ ५६ ॥

भवेदिति देहस्य शरीरस्य सत्त्वं बलं च भवेत्। अनेनोक्तेन विधिना भ्यासविधिना योगींद्रो योगिनामिंद्र इव योगींद्रो भूमिमंडले सर्वैरुपद्रवैर्वर्जितः सर्वोपद्रववर्जितो भवेत्सत्यम्। सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायाद्यदुक्तं फलं तत्सत्यमेवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

भाषार्थ-और देहका बल वढता है इस पूर्वोक्त विधिके करनेसे योगीजनोंमें इंद्र और भूमिके मण्डलमें संपूर्ण उपद्रवोंसे रहित होता है यह सीत्कारी कुंभक प्राणायामका फल सत्य है अर्थात् इसमें संदेह नहीं है ॥ ५६ ॥

अथ शीतली ।

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुंभसाधनम् ॥
शनकैर्घ्राणरंध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः ॥५७॥

शीतलीकुंभकमाह-जिह्वयेति ॥ जिह्वयोष्ठयोर्बहिर्निर्गतया विहंगमाधरचंचुसदृशया वायुमाकृष्य शनैः पूरकं कृत्वेत्यर्थः। पूर्ववत्सूर्यभेदनवत्कुंभस्य कुंभकस्य साधनं विधानं कृत्वेत्यध्याहारः। सुधीः शोभना धीर्यस्य सः घ्राणस्य रंध्रे ताभ्यां नासापुटविवराभ्यां शनकैः शनैरेव।

'अव्ययसर्वनामनाम कन्' । पवनं वायुं रेचयेत् ॥ ५७ ॥

भाषार्थ--अब शीतली कुम्भकका वर्णन करते हैं कि, ओष्ठोंसे वाहिर निकसी हुई उस जिह्वासे जो पक्षीकी चंचुके समान हो वायुका आकर्षण करके अर्थात् शनैः २ पूरक प्राणायामको करके और फिर सूर्यसदनके समान कुम्भकके साधन विधिको करके शोभन है बुद्धि जिसकी ऐसा योगी नासिकाके छिद्रोंमेंसे शनैः २ पवनका रेचन करे अर्थात् रेचक प्राणायामको करै ॥ ५७ ॥

गुल्मप्लीहादिकान्रोगाञ्ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम् ॥
विषाणि शीतली नाम कुंभिकेयं निहंति हि ॥५८॥

शीतलीगुणानाह-गुल्मेति ॥ गुल्मश्च प्लीहश्च गुल्मप्लीहौ रोगविशेषावादी येषां ते गुल्मप्लीहादिकास्तान् रोगानामयान् ज्वरं ज्वराख्यं रोगं पित्तं पित्तविकारं क्षुधां भोक्तुमिच्छां तृषां जलपानेच्छां विषाणि सर्पादिविषजनितविकारान् । शीतली नामेति प्रसिद्धार्थकमव्ययम् । इयमुक्ता कुंभिका निहंति नितरां हंति । कुंभशब्दः स्त्रीलिंगोऽपि । तथा च श्रीहर्षः-उदस्य कुंभीरथ शातकुंभजा' इति ॥ ५८ ॥

भाषार्थ-अब शीतलीके गुणोंको कहते हैं कि, शीतली है नाम जिसका ऐसा यह कुम्भक प्राणायाम गुल्म प्लीहा आदि रोग ज्वर पित्त क्षुधा तृषा और सर्प आदिका विष इन सबको नष्ट करता है अर्थात् इसके कर्ताका देह स्वाभाविक शीतल रहता है ॥ ५८ ॥

अथ भस्त्रिका ।

ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे ॥
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५९ ॥

भस्त्राकुंभकस्य पद्मासनपूर्वकमेवानुष्ठानात्तदादौ पद्मासनमाह-ऊर्वोरिति॥ उपर्युत्ताने शुभे शुद्धे उभे द्वे पादयोस्तलेऽधः प्रदेशे ऊर्वोःसंस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा वसेत् । एतत्पद्मासनं भवेत् कीदृशं सर्वेषां पापानां प्रकर्षेण नाशनम् । अत्रोपरीत्यव्ययमुत्तानवाचकम् । तथा च कारकेषु मनोरमायाम्-' उपर्युपरि बुद्धिनाम् ' इत्यत्रोपरिबुद्धिनामित्यस्योत्तानबुद्धिनामिति व्याख्यानं कृतम् ॥५९॥

भाषार्थ-अब पद्मासन और भस्त्रिका नामसे कुम्भक प्राणायामको कहते हैं कि, जंघाओंके ऊपर दोनों पादोंके शुभ (सीधे) तलोंको भलीप्रकार स्थापन करके जो टिकना यह

पद्मासन सब पापोंका नाशक होता है यहां उपरि यह अव्यय उत्तानका वाची है इसीसे कारककी मनोरमामें कहा है कि, ' उपर्युपरि बुद्धीनां ' इसके व्याख्यानमें उत्तानबुद्धियोंके ऊपर २ ईश्वरकी बुद्धि चरती है ॥ ७९ ॥

सम्यक्पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ॥
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ ८० ॥

भस्त्रिकाकुंभकमाह-सम्यगिति ॥ ग्रीवा च उदरं च ग्रीवोदरम्। प्राण्यंगत्वादेकवद्भावः। समं ग्रीवोदरं यस्य स समग्रीवोदरः सुस्थिता धीर्यस्य स सुधीः पद्मासनं सम्यक् स्थिरं बद्ध्वा मुखं संयम्य संयतं कृत्वा यत्नेन प्रयत्नेन घ्राणेन घ्राणस्यैकतरेण रंध्रेण प्राणं शरीरांतः- स्थितं वायुं रेचयेत् ॥ ८० ॥

भाषार्थ-भलीप्रकार ऐसे पद्मासनको बांधकर जिसमें ग्रीवा और उदर समान (बरा- बर) हों बुद्धिमान् मनुष्य मुखका संयम (मोचना) करके घाणके द्वारा अर्थात् नासिकाके एक छिद्रमेंसे प्राणवायुका रेचन करै ॥ ८० ॥

यथा लगति हत्कंठे कपालावधि सस्वनम् ॥
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ ८१ ॥

रेचकप्रकारमाह-यथेति ॥ हृच्च कंठश्च हृत्कंठं तस्मिन् हृत्कंठे। समाहारद्वंद्वः। कपालावधि कपालपर्यंतं स्वनेन सहितं सस्वनं यथा स्यात्तथा येन प्रकारेण लगति। प्राण इति शेषः। तथा रेचयेत्। हृत्पद्ममवधिर्यस्मिन् कर्मणि तत् हृत्पद्मावधि वेगेन तरसा मारुतं वायुं पूरयेत्। चापीति पादपूरणार्थम् ॥ ८१ ॥

भाषार्थ-उस प्राणका इसप्रकार रेचन करै जैसे वह प्राण शब्द सहित हृदय और कंठमें कपालपर्यंत लगै-फिर वेगसे हृदयके कमलपर्यंत वायुको वारंवार पूर्ण करै अर्थात् पूरक प्राणायाम करै ॥ ८१ ॥

पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनःपुनः ॥
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ ८२ ॥

पुनरिति ॥ तद्वत्पूर्ववत्पुनर्विरेचयेत्पुनःपुनः पूरयेच्चेत्यन्वयः। उक्तेऽर्थे दृष्टांतमाह-यथैवेति ॥ लोहकारेण लोहविकाराणां कर्त्रा भस्त्राग्नेर्ध- मनसाधनीभूतं चर्म यथैव येन प्रकारेण वेगेन चाल्यते ॥ ८२ ॥

भाषार्थ-फिर तिसीप्रकार प्राणवायुका वेगसे रेचन करै और तिसीप्रकार पूर्ण कर

अर्थात् पूरक करै और वे भी वारंवार इसप्रकार वेगसे पूरक रेचक करने जैसे लोहकार भस्त्राको चलाता है ॥ ६२ ॥

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ॥
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥ ६३ ॥

तथैवेति ॥ तथैव तेनैव प्रकारेण स्वशरीरस्थं स्वशरीरं स्थितं पवनं प्राणं धिया बुद्ध्या चालयेत् । रेचकपूरकयोर्निरंतरावर्तनेन चालनस्यावधिमाह यदा श्रम इति ॥ यदा यस्मिन् काले देहे शरीरे श्रमो रेचकपूरकयोर्निरंतरावर्तनेनायासो भवेत्तदा तस्मिन् काले सूर्येण सूर्यनाड्या पूरयेत् ॥ ६३ ॥

भाषार्थ–तैसेही अपने शरीरमें स्थित पवनको बुद्धिसे चलावै और रेचक और पूरककी अवधि यह है कि, जब रेचक पूरकके करनेसे शरीरमें श्रम हो तब सूर्यनाडीसे पूर्ण करै ६३

यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ॥
धारयेन्नासिकां मध्यतर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥ ६४ ॥

यथेति ॥ यथा येन प्रकारेण पवनेन वायुना लघु क्षिप्रमेवोदरं पूर्णं भवेत्तथा तेन प्रकारेण सूर्यनाड्या पुरयेत । 'लघुक्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः । पूरकानंतरं यत्कर्तव्यं तदाह–धारयेदिति ॥ मध्यतर्जनीभ्यां मध्यमातर्जनीभ्यां विनांगुष्ठानामिकाकनिष्ठिकाभिर्नासिकां दृढं धारयेत् अंगुष्ठेन दक्षिणनासापुटं निरुध्यानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासापुटं निरुध्य नासिकां दृढं गृह्णीयादित्यर्थः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ–जिस प्रकार पवनसे शीघ्रही उदर पूर्ण हो (भर) जाय है तिसीप्रकार सूर्यनाडीसे पूर्ण करै । अब पूरकके अनंतर जो कर्तव्य है उसका वर्णन करते हैं कि मध्यमा और तर्जनी अंगुलियोंके विना अर्थात् अंगुष्ठ अनामिका कानिष्ठिका इन तीनोंसे वाम नासिकाके पुटको दृढतासे रोककर प्राणवायुको ग्रहण करै अर्थात् कुम्भक प्राणायामसे धारण करै ॥ ६४ ॥

विधिवत्कुंभकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ॥
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ ६५ ॥

विधिवदिति॥बंधपूर्वकं कुंभकं कृत्वेडया चन्द्रनाड्याऽनिलं वायुं रेचयेत्। भस्त्राकुंभकस्यैवं परिपाटी। वामनासिकापुटं दक्षिणभुजानामिकाकनिष्ठिकाभ्यांनिरुध्य दक्षिणनासिकापुटेन भस्त्रावद्वेगेन रेचकपूरकाःकार्याः

श्रमे जाते तेनैव नासापुटेन पूरकं कृत्वांगुष्ठेन दक्षिणं नासापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं धारयेत् । पश्चादिडया रेचयेत् । पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य वामनासिकापुटेन भस्त्रावज्झटिति रेचकपूरकाः कर्त्तव्याः । श्रमे जाते तेनैव नासिकापुटेन पूरकं कृत्वानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासिकापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदित्येका रीतिः । वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां दक्षिणनासिकापुटेन पूरकं कृत्वा झटित्यंगुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन रेचयेत् । एवं शतधा कृत्वा श्रमे जाते तेनैव पूरयेत् । बंधपूर्वकं कृत्वेडया रेचयेत् । पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन पूरकं कृत्वा झटिति वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य पिंगलया रेचयेद्भस्त्रावत्पुनःपुनरेवं कृत्वा रेचकपूरकावृत्तिश्रमे जाते वामनासापुटेन पूरकं कृत्वानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां धृत्वा कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदिति द्वितीया रीतिः । भस्त्रिकागुणानाह वातपित्तेति ॥ वातश्च पित्तं च श्लेष्मा च वातपित्तश्लेष्माणस्तान्हरतीति तादृशे शरीरे देहे योऽग्निर्जठरानलस्तस्य विशेषेण वर्धनं दीपनम् ॥ ६६ ॥

भाषार्थ–विधिपूर्वक कुंभकको करके इडानामकी चन्द्रनाडीसे वायुका रेचन करै इस भस्त्राकुंभककी यह परिपाटी (क्रम) है कि वाम नासिकाके पुटको दक्षिणभुजाकी अनामिका कनिष्ठिकाओंसे रोककर दक्षिण नासिकाके पुटसे भस्त्राके समान वेगपूर्वक रेचक पूरक करने–फिर श्रम होनेपर उसी नासिकाके पुटसे पूरक करके अँगूठेसे दक्षिण नासिकाके पुटको रोककर यथाशक्ति कुंभक प्राणायामसे वायुको धारण करै फिर इडासे रेचन करै फिर दक्षिण नासिकाके पुटको अँगूठेसे रोककर वामनासा पुटसे भस्त्राके समान शीघ्र २ रेचक पूरक करनेसे श्रम होनेपर तिसी नासिकाके पुटसे पूरक करके अनामिका कनिष्ठिकासे नासिकाके वामपुटको रोककर यथाशक्ति कुंभकको कर पिंगला नाडीसे प्राणका रेचन करै एक तो यह रीति है–और नासिकाके वामपुटको अनामिका कनिष्ठिकासे रोककर नासिकाके दक्षिण पुटसे पूरक करके शीघ्र अंगूठेसे रोककर नासिकाके वामपुटसे रेचन करै इसप्रकार शत १०० वार करके श्रम होनेपर उससे ही पूरण करै–और बंधपूर्वक करके इडानाडीसे रेचन करै–फिर नासिकाके दक्षिण पुटको अँगूठेसे रोककर नासिकाके वामपुटसे पूरक करके शीघ्रही नासिकाके वामपुटको अनामिका कनिष्ठिकासे रोककर पिंगलासे भस्त्राके समान रेचन करै वारंवार इसप्रकार करके रेचक पूरककी आवृत्तिमें जब श्रम होजाय अर्थात् थकावट होजाय तब वामनासिका पुटसे पूरक करके अनामिका और कनिष्ठिकासे धारण

करनेके अनंतर कुम्भक प्राणायामको करके पिंगलासे रेचन करै यह दूसरी रीतिहै-औ भस्त्रिका कुंभकके गुणोंको कहते है कि वात पित्त श्लेष्मा (कफ) इनको हरतीहै औ शरीरकी अग्नि (जठराग्नि) को वढातीहै ॥ ६५ ॥

कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ॥
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ ६६ ॥

कुंडलीति क्षिप्रं शीघ्रं कुंडल्याः सुप्ताया बोधकं बोधकर्तृ पुनातीति पवनं पवित्रकारकं सुखं ददातीति सुखदं हितं त्रिदोषहरत्वात्सर्वे हितं सर्वदा च हितं सर्वेषां कुंभकानां सर्वदा हितत्वेऽपि सूर्यभेदनोज्जायिनावुष्णौ प्रायेण हितौ । सीत्कारीशीतल्यौ शीतले प्रायेणोष्णे हितौ भस्त्राकुंभकः समशीतोष्णः सर्वदा हितः सर्वेषां कुंभकानां सर्वरोगहरत्वेऽपि सूर्यभेदनं प्रायेण वातहरम् । उज्जायी प्रायेण श्लेष्महरः सीत्कारीशीतल्यौ प्रायेण पित्तहरे । भस्त्राख्यः कुंभकः त्रिदोषहर इति बोध्यम् ब्रह्मनाडी सुषुम्ना ब्रह्मप्रापकत्वात् । तथा च श्रुतिः 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवंति ॥' इति । तस्या मुखेऽग्रभागे संस्थः सम्यक् स्थितो यः कफादिरूपोऽर्गलः प्राणगतिप्रतिबंधकस्तस्य नाशनं नाशकर्तृ ॥ ६६ ॥

भाषार्थ–और शीघ्रही सोती हुई कुंडलीका वोधकहै और पवित्र करताहै और सुखका दाताहै और हित है यद्यपि संपूर्ण कुम्भक सव कालमें हित होतेहैं तथापि सूर्यभेदन और उज्जायी ये दोनो उष्ण हैं इससे शीतके समय हितकारी है और शीत्कारी शीतली ये दोनों शीतल हैं इससे उष्णकालमें हितहैं–और भस्त्रा कुम्भक न शीतलहै न उष्णहै इससे सब कालमें हित है । यद्यपि संपूर्ण कुम्भक सव रोगोंको हरतेहैं तथापि सूर्यभेदन प्रायसे वातको हरताहै और उज्जायी प्रायसे कफको हरता है और शीत्कारी शीतली ये दोनों प्रायसे पित्तको हरते हैं और भस्त्रानामका कुंभक त्रिदोष (संनिपात) को हरताहै यह और ब्रह्मलोक प्राप्त करनेवाली जो सुषुम्ना नामकी ब्रह्मनाडीहै सोई इस श्रुतिमें लिखा है कि एकसौ एक १०१ हृदयकी नाडी हैं उनमेंसे एक नाडी मूर्द्धा और मस्तकके सम्मुख गयी है उस नाडीके द्वारा जो ऊर्ध्व लोकमें जाता है वह मोक्षको प्राप्त होता है और अन्य सब नाडी जहां तहां क्रमको छोडकर गयी है उस ब्रह्मनाडीके मुख (अग्रभाग) में भलीप्रकार स्थित जो कफ आदि अर्गल अर्थात् प्राणकी गतिका प्रतिवंधक उसका नाशकहै ॥ ६६ ॥

सम्यग्गात्रसमुद्भूतं ग्रंथित्रयविभेदकम् ॥
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकं त्विदम् ॥ ६७ ॥

सम्यगिति॥सम्यग्दृढीभूतं गात्रे गात्रमध्ये सुषुम्नायामेव सम्यगुद्भूतं समुद्भूतं जातं यद्ग्रंथीनां त्रयं ग्रंथित्रयं ब्रह्मग्रंथिविष्णुग्रंथिरुद्रग्रंथिरूपं तस्य विशेषेण भेदजनकम् । अत एव इदं भस्त्रा इत्याख्या यस्येति भस्त्राख्यं कुंभकं तु विशेषेणैव कर्तव्यमवश्यकर्तव्यमित्यर्थः । सूर्यभेदनादयस्तु यथासंभवं कर्तव्याः ॥ ६७ ॥

भाषार्थ-भलीप्रकार (दृढ) जो गात्र (सुषुम्ना) नाडीके मध्यमें भलीप्रकार उत्पन्न हुई जो तीन ग्रंथि अर्थात् ब्रह्मग्रंथि विष्णुग्रंथि रुद्रग्रंथिरूप जो तीन गाँठ हैं उनका विशेषकर भेदजनकहै इसीसे यह भस्त्रा नामका कुम्भक प्राणायाम विशेषकर करने योग्यहै और सूर्यभेदन आदि यथासंभव (जब तब) करने योग्य हैं अर्थात् आवश्यक नहीं है ॥ ६७ ॥

अथ भ्रामरी ।

वेगाद्घोषं पूरकं भृंगनादं भृंगीनादं रेचकं मंदमंदम् ॥
योगींद्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानंदलीला॥६८॥

भ्रामरीकुंभकमाह-वेगादिति॥वेगात्तरसा घोषं सशब्दं यथा स्यात्तथा भृंगस्य भ्रमरस्य नाद इव नादो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा पूरकं कृत्वा । भृंग्यो भ्रमर्यस्तासां नाद इव नादो यस्मिंस्तथा मंदंमंदं रेचकं कुर्यात् । पूरकानंतरं कुंभकस्तु भ्रामर्याः कुंभकत्वादेव सिद्धो विशेषाच्च नोक्तः । पूरकरेचकयोस्तु विशेषोऽस्तीति तावेवोक्तौ । एवमुक्तरीत्याभ्यसनमभ्यासस्तस्य योगो युक्तिस्तस्माद्योगींद्राणां चित्ते काचिदनिर्वाच्या आनंदे लीला क्रीडा आनंदलीला जातोत्पन्ना भवति ॥ ६८ ॥

भाषार्थ-अब भ्रामरी कुम्भकका वर्णन करतेहैं कि, वेगसे शब्दसहित जैसे हो तैसे भ्रमरके समान है शब्द जिसमें उस प्रकारसे कुम्भक प्राणायामको करके फिर भ्रमरीके समान है शब्द जिसमें उस प्रकार मंद २ रेचक प्राणायामको करै यहां पूरकके अनंतर कुम्भकको भी करै कदाचित् कहो कि, वह कहा क्यों नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि वह बिना कहे भी इससे सिद्ध है कि, भ्रामरी भी कुम्भक ही है इससे विशेषकर कुम्भक नहीं कहाहै और पूरक रेचक इन दोनोंमें तो विशेष है इससे वे दोनोंही कहे हैं इस पूर्वोक्त रीतिके द्वारा जो अभ्यास योग (करने) से योगींद्रोंको चित्तमें कोई (अपूर्व) आनंदमें लीला

(क्रीडा) उत्पन्न होतीहै अर्थात् इस भ्रामरी कुम्भकके अभ्याससे योगियोंके चित्तमें आनंद होताहै ॥ ६८ ॥

अथ मूर्च्छा ।

पूरकांते गाढतरं बद्ध्वा जालंधरं शनैः ॥
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥ ६९ ॥

मूर्च्छाकुंभकमाह–पूरकांत इति ॥ पूरकस्यांतेऽवसानेऽतिशयेन गाढतरं जालंधराख्यं बंधं बद्ध्वा शनैर्मंदंमंदं रेचयेत् । इयं कुंभिकामूर्च्छनाख्या मूर्च्छना इत्याख्या यत् इति मूर्च्छनाख्या कीदृशी मनो मूर्च्छयतीति मनोमूर्च्छा एतेन मूर्च्छनाया विग्रहदर्शनपूर्वकं फलमुक्तम् । पुनःकीदृशी सुखप्रदा सुखं प्रदातीति सुखप्रदा ॥ ६९ ॥

भावार्थ–अब मूर्च्छा नामके कुम्भकको कहते हैं कि, पूरक प्राणायामके अन्तमें (पीछे) अत्यंत गाढरीतिसे पूर्वोक्त जालंधर बंधको बांधकर शनैः २ प्राणवायुको रेचन करै यह कुंभिका मूर्च्छना नामकी कहाती है और मनकी मूर्च्छाको करतीहै और उत्तम सुखको देती है ॥ ६९ ॥

अथ प्लाविनी ।

अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ॥
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ॥ ७० ॥

प्लाविनीकुंभकमाह–अंतरिति ॥ अंतः शरीरांतः प्रवर्तितः पूरित उदारोऽतिशयितो यो मारुतः समीरस्तेनासमंतात्पूरितमुदरं येन स पुमान् गाधेऽप्यतलस्पर्शेऽपि पयसि जले पद्मपत्रवत्पद्मपत्रेण तुल्यं सुखादनायासात् प्लवते तरति गच्छति ॥ ७० ॥

भावार्थ–अब प्लाविनी नामके कुंभकका वर्णन करतेहैं कि, शरीरके मध्यमें प्रवृत्त किया (भरा) उदार (अधिक) जो पवन उससे चारों ओरसे पूर्ण है उदर जिसका ऐसा योगी अगाधजलमें भी इसप्रकार प्लवता (तरता) है जैसे कमलका पत्र अर्थात् बिना आश्रयकेही जलके ऊपर तर जाताहै ॥ ७० ॥

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुंभकैः ॥
सहितः केवलश्चेति कुंभको द्विविधो मतः ॥ ७१ ॥

अथ प्राणायामभेदानाह-प्राणायाम इति ॥ प्राणस्य शरीरांत-संचारिवायोरायमनं निरोधनमायामः प्राणायामः । प्राणायामलक्षण-मुक्तं गोरक्षनाथेन-' प्राणः स्वदेहजीवायुरायामस्तन्निरोधनमिति '। रेचकश्च पूरकश्च कुंभकश्च तैर्भेदैस्त्रिधा त्रिप्रकारकः रेचकप्राणायामः पूरकप्राणायामः कुंभकप्राणायामश्चेति । रेचकलक्षणमाह याज्ञवल्क्यः-'बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः' इति । रेचकप्राणायामलक्षणम्-' निष्क्रम्य नासाविवरादशेषं प्राणं बहिः शून्यमिवानिलेन । निरुध्य संतिष्ठति रुद्धवायुः स रेचको नाम महानिरोधः ॥ ' पूरकलक्षणम्-' बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः । ' पूरकप्राणायामलक्षणम्-' बाह्ये स्थितं घ्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समंतात् । नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद्यः स पूरको नाम महानिरोधः ॥' कुंभकलक्षणम्-संपूर्य कुंभवद्वायोर्धारणं कुंभको भवेत् ।' अयं कुंभकस्तु पूरकप्राणा-यामादभिन्नः । भिन्नस्तु । ' न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम् । सुनिश्चलं धारयेते क्रमेण कुंभाख्यमेतत्प्रवदंति तज्ज्ञाः' अथ प्रकारांतरेण प्राणायामं विभजते ॥ सहित इति ॥ कुंभको द्विविधः सहितः केवलश्चेति । मतोऽभिमतो योगिनामिति शेषः । तत्र सहितो द्विविधः । रेचकपूर्वकः कुंभकपूर्वकश्च । तदुक्तम्-' आरेच्यापूर्य वा कुर्यात्स वै सहितकुंभकः । ' तत्र रेचकपूर्वको रेचकप्राणायामाद-भिन्नः । पूरकपूर्वकः कुम्भकः पूरकप्राणायामादभिन्नः केवलकुंभकः कुंभकप्राणायामादभिन्नः । प्रागुक्ताः सूर्यभेदनादयः पूरकपूर्वकस्य कुंभकस्य भेदा ज्ञातव्याः ॥ ७१ ॥

भाषार्थ-अब प्राणायामके भेदोंको कहते हैं कि, रेचक प्राणायाम पूरक प्राणायाम कुंभक प्राणायाम इन भेदोंसे प्राणायाम तीन प्रकारका योगियोंने कहाहै प्राणायामका लक्षण गोरक्षनाथने यह कहाहै कि, अपने देहकी जो जीवनकी अवस्था उसको प्राण कहते हैं और उस अवस्थाके अवरोधको आयाम कहते हैं अर्थात् अवस्थाके अवरोधका नाम प्राणायाम है और रेचकका लक्षण याज्ञवल्क्यने यह कहा है कि उदरसे बाहिर जो वायुका रेचन उसको रेचक कहते हैं और रेचक प्राणायामका यह लक्षण है कि संपूर्ण प्राणको नासिकाके छिद्रमेंसे बाहिर निकासे और प्राणवायुको रोककर इसप्रकार टिके कि मानो देह प्राणवायुसे शून्य है यह महान् निरोध रेचकनाम प्राणायाम कहाताहै और पूरकका लक्षण यह है कि बाहिरसे जो उदरमें वायुका पूरण वह पूरक होताहै और

पूरक प्राणायामका लक्षण यह है कि, बाहिर टिकीहुई पवनको नासिकाके पुटसे आकर्षण करके उसी नासिकाके पुटसे शनैः २ संपूर्ण नाडियोंको जो पूर्ण करदे उस महानिरोधको पूरकनाम प्राणायाम कहते हैं। कुंभकका लक्षण यह है कि कुंभ (घट) के समान वायुको पूर्ण करके जो धारण वह कुंभक होनाहै वह कुंभक प्राणायाम तो पूरक प्राणायामसे अभिन्न अर्थात् दोनों एकही हैं भिन्नतो यह है कि, रेचक करै न पूरक करै किंतु नासिकाके पुटमें टिके हुए वायुकोही भलीप्रकार निश्चल रीतिपूर्वक क्रमसे जो धारण करना प्राणायामके ज्ञाता इसको कुंभक कहते हैं। अब अन्यप्रकारसे प्राणायामके विभाग करते हैं कि, कुम्भक दो प्रकारका योगीजनोंने मानाहै एक सहित और दूसरा केवल अर्थात् रेचकपूरक और पूरकपूर्वक सोई कहाहै कि वायुका आसमंतात् रेचन वा पूरणकरके जो प्राणायाम करै वह सहितकुम्भक होताहै उन तीनोंमें रेचकपूर्वक प्राणायाम रेचकप्राणायाम रूपहै और पूरकपूर्वक कुम्भक पूरकप्राणायामसे अभिन्नरूपहै और केवल कुम्भक कुंभकप्राणायामसे अभिन्नरूपहै पूर्वोक्त सूर्यभेदन आदि जो प्राणायामहैं वे पूरकपूर्वक कुंभकके भेद जानने। भावार्थ यह है कि, रेचकपूरक कुम्भकके भेदसे प्राणायाम तीन प्रकारकाहै और सहित केवलके भेदसे कुम्भक दो प्रकारका है ॥ ७१ ॥

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ॥
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥ ७२ ॥

सहितकुंभकाभ्यासस्यावधिमाह—यावदिति ॥ केवलस्य केवलकुंभकस्य सिद्धिः केवलसिद्धिर्यावत्पर्यंतं स्यात्तावत्पर्यंतं सहितकुंभकं सूर्यभेदादिकमभ्यसेदनुतिष्ठेत् । सुषुम्नाभेदानंतरं यदा सुषुम्नांतर्घटशब्दा भवंति तदा केवलकुंभकः सिद्ध्यति तदनंतरं सहितकुंभका दश विंशतिर्वा कार्याः अशीतिसंख्यापूर्तिः केवलकुंभकैरेव कर्तव्या। सति सामर्थ्ये केवलकुंभका अशीतेरधिकाः कार्याः । केवलकुंभकस्य लक्षणमाह—रेचकमिति ॥ रेचकं पूरकं मुक्त्वा त्यक्त्वा सुखमनायासं यथा स्यात्तथा वायोर्धारणं वायुधारणं यत् ॥ ७२ ॥

भावार्थ—अब सहितकुम्भकके अभ्यासकी अवधिको कहते हैं कि, केवल कुम्भकप्राणायामकी सिद्धि जबतक होय तबतक सूर्यभेदन आदि सहित कुम्भकका अभ्यास करै सुषुम्नानाडीके भेदके अनंतर सुषुम्नाके अनंतर जब जलपूरित घटके समान शब्द होय तब केवल कुम्भक सिद्ध होता है उसके अनंतर दश वा वीश सहितकुंभक करने अस्सी संख्याका परण केवल कुम्भकोंसेही करना सामर्थ्य होयतो अस्सीसे अधिकभी केवल कुम्भक करने अब केवल कुम्भकके लक्षणोंको कहते हैं कि, रेचक और पूरकको छोडकर सुखसे जो वायुका धारण उसे केवलकुंभक कहते हैं ॥ ७२ ॥

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुंभकः ॥
कुंभके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ ७३ ॥

प्राणायाम इति॥स वै मिश्रितः केवलकुंभकः प्राणायाम इत्ययमुक्तः केवलं प्रशंसांति॥केवल इति॥रेचो रेचकःरेचश्च पूरकश्च रेचपूरकौ ताभ्यां वर्जिते रहिते केवले कुंभके सिद्धे सति ॥ ७३ ॥

भाषार्थ-वह मिश्रितप्राणायाम और केवल कुम्भकप्राणायाम इस पूर्वोक्त प्रकारसे कहा रेचक और पूरकसे वर्जित (विना) केवल कुम्भकके सिद्ध होनेपर ॥ ७३ ॥

न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥
शक्तः केवलकुंभेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ ७४ ॥

नेति॥तस्य योगिनस्त्रिषु लोकेषु दुर्लभं दुष्प्रापं किंचित्किमपि यथेष्टं यथेच्छं वायोर्धारणं चापि न विद्यते। तस्य सर्वं सुलभमित्यर्थः॥ शक्त इति ॥ केवलकुंभकेन कुंभकाभ्यासेन शक्तः समर्थो यथेष्टं यथेच्छं वायोर्धारणं तस्माद्वायुधारणात् ॥ ७४ ॥

भाषार्थ-उस केवल कुंभक प्राणायाम करनेवाले योगीको तीनों लोकोंमें कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है अर्थात् त्रिलोकीकी संपूर्ण वस्तु सुलभ हैं-और केवल कुंभकके अभ्यासमें जो समर्थ है वह अपनी इच्छाके अनुसार प्राणावायुके धारणसे ॥ ७४ ॥

राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ॥
कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधतो भवेत् ॥ ७५ ॥

राजेति॥राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं लभते। अत्र संशयो न। निश्चितमेतदित्यर्थः। कुंभकाभ्यासस्य परंपरया कैवल्यहेतुत्वमाह। कुंभकादिति॥कुंभकात्कुंभकाभ्यासात्कुंडल्याधारशक्तिस्तस्या बोधो निद्राभंगो भवेत्। कुंडल्या बोधः कुंडलीबोधस्तस्मात्कुंडलीबोधतः ॥ ७५॥

भाषार्थ-राजयोगपदको भी योगी प्राप्त होताहै इसमें संशय नहीं. अब कुम्भकप्राणायामके अभ्यासको परम्परासे मोक्षका हेतु वर्णन करते हैं-कि कुम्भक प्राणायामके अभ्याससे आधार शक्तिरूप कुण्डलीका बोध होताहै-अर्थात् निद्राका भंग होताहै और कुण्डलीके बोधसे ॥ ७५ ॥

अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ॥
हठं विना राजयोगं राजयोगं विना हठः ॥
न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥७६॥

अनर्गलेति ॥ सुषुम्नानाड्यनर्गला कफाद्यर्गलरहिता भवेत् । हठस्य हठाभ्यासस्य सिद्धिः प्रत्याहारादिपरंपरया कैवल्यरूपा सिद्धिर्जायते। हठयोगराजयोगसाधनयोः परस्परोपकार्योपकारकत्वमाह—हठं विनेति॥ हठं हठयोगं विना राजयोगो न सिध्यति राजयोगं विना हठो न सिध्यति ततोऽन्यतरस्य सिद्धिर्नास्ति । तस्मान्निष्पत्तिं राजयोगसिद्धिमामर्यादीकृत्य या निष्पत्तिस्तस्या राजयोगसिद्धिपर्यंतं युग्मं हठयोगराजयोगद्वयमभ्यसेदनुतिष्ठेत् । हठातिरिक्ते साक्षात्परंपरया वा राजयोगसाधनेऽत्र राजयोगशब्दः । जीवनसाधने लांगले जीवनशब्दप्रयोगवत् । राजयोगसाधनं चतुर्थोपदेशे वक्ष्यमाणमुन्मनीशांभवीमुद्रादिरूपमपरोक्षानुभूतावुक्तं पंचदशांगरूपं दशांगरूपं च । वाक्यसुधायामुक्तं दृश्यानुविद्धादिरूपं च ॥ ७६ ॥

भाषार्थ—सुषुम्नानाडी अनर्गल होजातीहै अर्थात् कफ आदि बंधनसे रहित होजाती है और हठयोगके अभ्यासकी सिद्धि प्रत्याहार आदिकी परम्परासे होजातीहै अर्थात् मोक्षसिद्धि होजाती है । अब हठयोग और राजयोगके जो साधन है उनका परस्पर उपकार्य उपकारक भावका वर्णन करते हैं कि, हठयोगके विना राजयोग सिद्ध नहीं होता और राजयोगके विना हठयोग सिद्ध नहीं होता जिससे एकके विना एककी सिद्धि नहीं होती तिससे राजयोगसिद्धि पर्यंत हठयोग और राजयोग दोनोंका अभ्यास करै अर्थात् राजयोगसिद्धिका यत्न करै यहां राजयोगपद उस राजयोगके साधन (हेतु) का वाचक है जो हठयोगसे भिन्न हो और साक्षात् वा परम्परासे राजयोगका कारण हो जैसे जीवनके साधन लांगलमें जीवन शब्दका प्रयोग होताहै वह राजयोगका साधन उन्मनी और शाम्भवी मुद्रामें कहेंगे और अपरोक्षानुभूतिमें पंचदशांग और दशांग रूप कहाहै और वाक्यसुधामें दृश्यानुविद्ध आदिरूप कहाहै ॥ ७६ ॥

कुंभकप्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ॥
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ ७७ ॥

हठाभ्यासाद्राजयोगप्राप्तिप्रकारमाह—कुंभकेति॥कुंभकेन प्राणस्य यो रोधस्तस्यांते मध्ये चित्तमंतःकरणं निराश्रयं कुर्यात् । संप्रज्ञातसमाधौ जातायां ब्रह्माकारस्थितेः परं वैराग्येण विलयं कुर्यादित्यर्थः । एवमुक्त

त्याभ्यासस्य योगो युक्तिस्तेन 'योगः संनहनोपायध्यानसंगातियुक्तिषु' इति कोशः । राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं व्रजेत्प्राप्नुयात् ॥ ७७ ॥

भाषार्थ-अब हठयोगके अभ्याससे राजयोगप्राप्तिका प्रकार कहते हैं कि, कुम्भक-प्राणायामसे प्राणका रोध करनेके अंत (मध्य) में अन्तःकरणको निराश्रय करदे अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधिके होनेपर ब्रह्माकार स्थितिके अनन्तर वैराग्यसे चित्तका लय करदे इस पूर्वोक्त रीतिसे किये अभ्यासके योगसे राजयोग पदको प्राप्त होता है यहां योगपद इस कोशके अनुसार युक्तिका बोधक है ॥ ७७ ॥

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ॥
अरोगता बिंदुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ७८

इति हठयोगप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

हठसिद्धिज्ञापकमाह-वपुःकृशत्वमिति ॥ वपुषो देहस्य कृशत्वं कार्श्यं वदने मुखे प्रसन्नता प्रसादो नादस्य ध्वनेः स्फुटत्वं प्राकट्यं नयने नेत्रे सुष्ठु निर्मले अरोगस्य भावोऽरोगता आरोग्यं बिंदोर्धातोर्जयः क्षयाभावरूपः अग्नेरौदर्यस्य दीपनं दीप्तिर्नाडीनां विशेषेण शुद्धिर्मलापगमः एतद्धठस्य हठाभ्यासासिद्धेर्भाविन्या लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् ॥ ७८ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ज्योत्स्नाभिधायां ब्रह्मानंदकृतायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

भाषार्थ-अब हठयोगसिद्धिके लक्षणोंको कहते हैं कि देहकी कृशता मुखमें प्रसन्नता नादकी प्रकटता और दोनों नेत्रोंकी निर्मलता रोगका अभाव बिन्दुका जय अर्थात् नाडियोंमें मलका अभाव ये हठयोगसिद्धिके लक्षण हैं अर्थात् ये चिह्न होयँ तो यह जानना कि, इसको हठयोगकी सिद्धि होजायगी ॥ ७८ ॥

इति श्रीहठयोगप्रदीपिकायां पण्डितमिहिरचन्द्रकृतभाषाविवृत्तिसहितायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोपदेशः ३.

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ॥
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥ १ ॥

अथ कुंडल्याः सर्वयोगाश्रयत्वमाह-सशैलेति ॥ शैलाश्च वनानि च शैलवनानि तैः सह वर्तमानाः सशैलवनास्ताश्च ता धात्र्यश्च भूमयस्ता-

साम् । धात्र्या एकत्वेऽपि देशभेदाद्भेदमादाय बहुवचनम् । अहीनां सर्पाणां नायको नेताहिनायकः शेषो यथा यद्वदाधार आश्रयस्तथा तद्वत् । सर्वेषां योगस्य तंत्राणि योगतंत्राणि योगोपायास्तेषां कुंडल्याधारशक्तिराश्रयः । कुंडलीबोधं विना सर्वयोगोपायानां वैयर्थ्यादिति भावः ॥ १ ॥

भाषार्थ-अब इसके अनंतर कुण्डली सर्व योगोंका आश्रय है इसका वर्णन करते हैं कि जैसे संपूर्ण पर्वत वनोंसहित जितनी भूमि हैं उनका आश्रय (आधार) जैसे सर्पोंका नायक शेष है तिसी प्रकार योगके समस्त उपायोंका आधार भी कुण्डली है क्योंकि कुण्डलीके बोध विना योगके संपूर्ण उपाय व्यर्थ हैं यद्यपि भूमि एक है-तथापि देशभेदसे भूमिके भेदको मानकर बहुवचन (धात्रीणाम्) यहां दिया है ॥ १ ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली ॥
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोऽपि च ॥ २ ॥

कुंडलीबोधस्य फलमाह द्वाभ्याम्-सुप्तेति ॥ सुप्ता कुंडली गुरोः प्रसादेन यदा जागर्ति बुध्यते तदा सर्वाणि पद्मानि षट्चक्राणि भिद्यंते भिन्नानि भवंति । ग्रंथयोऽपि च ब्रह्मग्रंथिविष्णुग्रंथिरुद्रग्रंथयो भिद्यंते भेदं प्राप्नुवंतीत्यन्वयः ॥ २ ॥

भाषार्थ-अब कुण्डलीके बोधका दो श्लोकोंसे फल कहते हैं जब गुरुकी प्रसन्नतासे सोती हुई कुण्डली जागती है तब संपूर्ण पद्म अर्थात् हृदयके षट्चक्र भिन्न होजाते हैं अर्थात् खिल जाते हैं और ब्रह्मग्रंथि विष्णुग्रंथिरूप तीनों ग्रंथि भी खुल जाती हैं ॥ २ ॥

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ॥
तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥ ३ ॥

प्राणस्येति ॥ तदा शून्यपदवी सुषुम्ना प्राणस्य वायो राज्ञां पंथा राजपथं राजपथमिवाचरति राजपथायते राजमार्गायते । सुखेन गमनसंभवात् । तदा चित्तमालंबनमाश्रयस्तस्मान्निर्गतं निरालंबं निर्विषयं भवति । तदा कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं भवति ॥ ३ ॥

भाषार्थ-और तिसीप्रकार प्राणकी शून्यपदवी (सुषुम्ना) राजपद (सडक) के समान होजाती है अर्थात् प्राण उसमेंको सुखसे गमन करने लगता है-और उसीसमय चित्तभी निरालंब होजाता है अर्थात्--विषयोंका अनुरागी नहीं रहता और उसीसमय कालका वंचन होता है अर्थात् मृत्युका भय दूर होजाता है ॥ ३ ॥

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ॥
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ॥
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥

सुषुम्नापर्यायानाह—सुषुम्नेति ॥ इत्युक्ताः शब्दा एकस्य एकार्थस्य वाचकाः एकवाचकाः । पर्याया इत्यर्थः स्पष्टः श्लोकार्थः ॥ तस्मादिति ॥ यस्मात्कुंडलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणं तस्य द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्ना तस्या मुखेऽग्रभागे मुखेन सुषुम्नाद्वारं पिधाय सुप्तामीश्वरीं कुंडलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासमावृत्तिं समाचरेत्सम्यगाचरेत् ॥ ४ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—अब सुषुम्नानाडीके पर्यायोंको कहते हैं कि, सुषुम्ना, शून्यपदवी, ब्रह्मरंध्र, महापथ, श्मशान, शांभवी, मध्यमार्ग ये संपूर्ण शब्द एक अर्थके वाचक हैं अर्थात् इन सबका सुषुम्ना नाडी अर्थ है जिससे कुण्डलीके बोधसेही षट्चक्र भेद आदि होते हैं इससे संपूर्ण प्रयत्नसे सच्चिदानंदरूप ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय जो सुषुम्ना उसके अग्रभागमें सुषुम्नाके द्वारको ढककर सोतीहुई जो ईश्वरी (कुण्डली) है उसका प्रबोध (जगाना) करनेके लिये मुद्राओंका अभ्यास करै अर्थात् महामुद्रा आदिको करै ॥ ४ ॥ ५ ॥

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ॥
उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ॥
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ ७ ॥

मुद्रा उद्दिशति—महामुद्रेत्यादिना सार्धेन ॥ सार्धार्थः स्पष्टः ॥ मुद्राफलमाह सार्द्धद्वाभ्याम्—इदमिति ॥ इदमुक्तं मुद्राणां दशकं जरा च मरणं च जरामरणे तयोर्नाशनं निवारकम् ॥ ६ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, उड्यान, मूलबंध, जालंधरबंध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन, ये पूर्वोक्त दशमुद्रा जरा और मरणको नष्ट करती हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ॥
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८ ॥

आदिनाथेति ॥ आदिनाथेन शंभुनोदितं कथितम् । दिवि भव दिव्यमुत्तमम् । अष्टौ च तान्यैश्वर्याणि चाष्टैश्वर्याणि अणिमामहिमागरिमालघिमाप्राप्तिप्राकाम्येशतावशितारूपाणि । तत्राणिमासंकल्पमात्रेण प्रकृत्यपगमे परमाणुवद्देहस्य सूक्ष्मता १ । महिमा प्रकृत्यापूरेणाकाशादिवन्महद्भावः २ । गरिमा लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वतादिवद्गुरुभावः ३ । लघिमा गुरुतरस्यापि पर्वतादेस्तूलादिवल्लघुभावः ४ । प्राप्तिः सर्वभावसान्निध्यम् । यथा भूमिस्थ एवांगुल्यग्रेण स्पृशति चंद्रमसम् ५ । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । यथा उदक इव भूमौ निमज्जत्युन्मज्जति च ६ । ईशता भूतभौतिकानां प्रभवाप्ययसंस्थानविशेषसामर्थ्यम् ७ । वशित्वं भूतभौतिकानां स्वाधीनकरणम् ८ । तेषां प्रदायकं प्रकर्षेण ददातीति तथा तं सर्वे च ते सिद्धाश्च कपिलादयस्तेषां वल्लभं प्रियं मरुतां देवानामपि दुर्लभं दुष्प्रापं किमुतान्येषामित्यर्थः ॥ ८ ॥

भावार्थ–और आदिनाथने कहे जो उत्तम आठ ऐश्वर्य उनको भलीप्रकार देती है और संपूर्ण जो कपिल आदि सिद्ध हैं उनको प्रिय है और देवताओंकोभी दुर्लभ है वे आठ ऐश्वर्य ये हैं कि--अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशता, वशिता उनमें अणिमा वह सिद्धि होती है कि, योगीके संकल्पमात्रसे प्रकृतिके दूर होनेपर परमाणुके समान सूक्ष्म देह होजाय उसे अणिमा १ कहते हैं और प्रकृतिके आपूरको करके अर्थात् अपने देहमें भरके आकाशके समान महान् स्थूल होजानेको महिमा २ सिद्धि कहते हैं। और तूल (रुई) आदि लघुपदार्थकोभी पर्वत आदिसे समान जो गुरु (भारी) होजाना है उसे गरिमा ३ कहते हैं और अत्यंत गुरु (पर्वत आदि) का जो तूल आदिके समान लघु (हलका) होना है उसे लघिमा ४ कहते हैं और संपूर्ण पदार्थोंके जो समीप पहुंचना जैसे कि भूमिपर स्थित योगी अंगुलिके अग्रसे चंद्रमाका स्पर्श करले इसे प्राप्ति ५ कहते हैं और इच्छाका अनभिघात अर्थात् जलके समान भूमिमें प्रविष्ट होजाय और निकस आवै इसको प्राकाम्य ६ कहते हैं। पांचों महाभूत और उनसे उत्पन्न भौतिकपदार्थ इनकी उत्पत्ति और प्रलय और पालनके सामर्थ्यको ईशता सिद्धि ७ कहते हैं और भूत भौतिक पदार्थोंको अपने अधीन करनेको वशिता ८ सिद्धि कहते हैं ये आठों सिद्धि पूर्वोक्त दशों मुद्राओंके करनेसे होती हैं ॥ ८ ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ॥
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥९॥

गोपनीयमिति ॥ प्रयत्नेन प्रकृष्टेन यत्नेन गोपनीयम्। गोपनीयत्वे दृष्टांतमाह-यथेति ॥ रत्नानां हीरकादीनां करंडकं रत्नकरंडकं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत्। कस्यापि जनमात्रस्य यद्वा कस्यापि ब्रह्मणोऽपि नैव वक्तव्यं नैव वाच्यं किमुतान्यस्य। तत्र दृष्टांतः कुलस्त्रियाः सुरतं कुलस्त्रीसुरतं संगमनं यथा तद्वत् ॥ ९ ॥

भाषार्थ-ये पूर्वोक्त दशों मुद्रा इसप्रकार प्रयत्नसे गुप्त करने योग्य हैं जैसे हीरा आदि-रत्नोंका करंड (पेटारी) गुप्त करने योग्य होतीहै और किसी मनुष्यको वा ब्रह्माको भी इसप्रकार नहीं कहनी अन्यकी तो कौन कथा है जैसे कुलीनस्त्रीके सुरत (संगम) को किसीको नहीं कहते हैं ॥ ९ ॥

अथ महामुद्रा।

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ॥
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १० ॥

दशविधमुद्रादिषु प्रथमोद्दिष्टत्वेन महामुद्रां तावदाह-पादमूलेनेति ॥ वामेन सव्येन पादस्य मूलं पादमूलं पार्ष्णिस्तेन पादमूलेन वामपादपार्ष्णिनेत्यर्थः। योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्याकुंचितवामपादपार्ष्णिना योनिस्थानं दृढं संयोज्येत्यर्थः। दक्षिणं सव्येतरं पदं चरणं प्रसारितं भूमिसंलग्नपार्ष्णिकमूर्ध्वांगुलिकं दंडवत्कृत्वा कराभ्यां संप्रदायादाकुंचितकरतर्जनीभ्यां दृढं गाढं धारयेदंगुष्ठप्रदेशे गृह्णीयात् ॥ १० ॥

भाषार्थ-अब दसोंमुद्राओंमें प्रथम जो महामुद्रा उसका वर्णन करते हैं कि, वामपादके मूल (तल) से अर्थात् पार्ष्णिसे योनिस्थानको अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागको भलीप्रकार पीडित (दबाना) करके और दक्षिणपादको प्रसारित (फैलाना) करके अर्थात् दक्षिणपादकी पार्ष्णि (ऐड) को भूमिसे मिलाकर और उसकी अंगुलियोंको ऊपरको करके और उस दक्षिणपादको मुकडीहुई दोनों हाथोंकी तर्जनीओंसे दृढरीतिसे (खूब) अंगूठेके स्थानमें धारण करै अर्थात् जोरसे पकडले ॥ १० ॥

कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥
यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥

कंठ इति ॥ कंठे कंठदेशे बंधनं सम्यगारोप्य कृत्वा । जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः । वायुं पवनमूर्ध्वत उपरि सुषुम्नायां धारयेत् । अनेन मूलबंधः सूचितः । स तु योनिसंपीडनेन जिह्वाबंधनेन चरितार्थ इति सांप्रदायिकाः । यथा दंडेन हतस्ताडितो दंडहतः सर्पः कुंडली दंडाकारः दंडस्याकार इवाकारो यस्य स तादृशः । वक्राकारं त्यक्त्वा सरल इत्यर्थः । प्रकर्षेण जायते भवति ॥ ११ ॥

भाषार्थ-और कंठके प्रदेशमें भलीप्रकार जालंधरनामके बंधको करके वायुको ऊर्ध्वदेश (सुषुम्ना) मेंही धारण करै अर्थात् मूलबंध करे और सांप्रदायिक अर्थात् संप्रदायके ज्ञाता तो यह कहते हैं कि, वह मूलबंध तो योनिका संपीडन और जिह्वाके बंधनसे चरितार्थ है अर्थात् पृथक् मूलबंध करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसा करनेसे जैसे दंडसे हताहुआ सर्प (कुण्डली) दंडके समान आकारवाला होजाताहै अर्थात् वक्रताको त्यागकर भलीप्रकार सरल होजाताहै ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥१२॥

ऋज्वीभूतेति ॥ तथा कुंडल्याधारशक्तिः सहसा शीघ्रमेव ऋज्वी संपद्यते तथाभूता ऋज्वीभूता सरला भवेत् । तदा सेति । द्वे पुटे इडा पिंगले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जायते । कुंडलीबोधे सति सुषुम्नायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः प्राणवियोगात् ॥ १२ ॥

भाषार्थ-तिसीप्रकार आधार शक्ति रूप जो कुंडली है वह शीघ्रही ऋज्वीभूत (सरल) होजाती है और उस समय इडा और पिंगलारूप जो दोनों पुट हैं वे आश्रय जिसके ऐसी वह मरणकी अवस्था होजाती है अर्थात् कुण्डलीका बोध होनेपर सुषुम्नानाडीमें प्राणका प्रवेश होजाता है इससे इडा और पिंगला दोनोंका प्राणवियोग (मरण) होजाताहै ॥ १२ ॥

ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥१३॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १४ ॥

तत इति ॥ इयमिति ॥ ततस्तदनंतरं शनैःशनैरेव रेचयेत्। वायुमिति संबध्यते वेगतस्तु वेगान्न रेचयेत्। वेगतो रेचने बलहानिप्रसंगात्। खल्विति वाक्यालंकारे। इयं महामुद्रा महासिद्धैरादिनाथादिभिः प्रदर्शिता प्रकर्षेण दर्शिता। महामुद्राया अन्वर्थतामाह महांतश्च ते क्लेशाश्च महाक्लेशाः अविद्यास्मितरागद्वेषाभिनिवेशाः पंच ते आद्यो येषां ते शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयंते। मरणमादिर्येषां जरादीनां तेऽपि च क्षीयंते नश्यंति। यतस्तेनैव हेतुना विशिष्टा बुधा विबुधास्तेषूत्तमा विबुधोत्तमा महामुद्रां वदंति। महाक्लेशान्मरणादींश्च दोषान्मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥

भाषार्थ-तिससे शनैः २ प्राणवायुका रेचन करै, वेगसे न करै क्योंकि वेगसे रेचन करनेमें बलकी हानी होती है तिससेही देवताओंमें उत्तम इसको महामुद्रा कहते हैं और वह महामुद्रा आदिनाथ आदिमहासिद्धोंने भलीप्रकार दिखाई है। अब महामुद्राके अन्वर्थनामका वर्णन करते हैं कि, अविद्या, स्मित, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप पांचों महाक्लेश और मरण आदि दुःख इस मुद्राके करनेसे क्षीण (नष्ट) होजाते हैं तिससेही देवताओंमें श्रेष्ठ इसको महामुद्रा कहते हैं अर्थात् महाक्लेशोके नष्ट करनेसेही इसक देवताओंने महामुद्रा नाम रक्खा है ॥ १३ ॥ १४ ॥

चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ॥
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ १५ ॥

महामुद्राभ्यासक्रममाह-चंद्रांग इति ॥ चंद्रेण चंद्रनाड्योपलक्षितमंगं चंद्रांगं तस्मिन् चंद्रांगे वामांगे। तुशब्दः पादपूरणे। सम्यगभ्यस्य सूर्येण पिंगलयोपलक्षितमंगं सूर्यांगं तस्मिन् सूर्यांगे दक्षांगे पुनर्वामांगाभ्यासानंतरं यावद्यावत्कालपर्यंतं तुल्या वामांगे कुंभकाभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत्तावदभ्यसेत्। ततः संख्यासाम्यानंतरं मुद्रां महामुद्रां विसर्जयेत्। अत्रायं क्रमः। आकुंचितवामपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितदक्षिणपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो वामांगेऽभ्यासः। अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्वामांगे तिष्ठति। आकुंचितदक्षपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितवामपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो दक्षांगेऽभ्यासः अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्दक्षांगे तिष्ठति ॥ १५ ॥

भाषार्थ-अब महामुद्राके अभ्यासका क्रम कहते हैं कि--चंद्रनाडी (इडा) से उपलक्षित (ज्ञान) जो अंग उसे चंद्रांग कहते हैं अर्थात् वाम अंगकेविषे भलीप्रकार अभ्यास करके सूर्य नाडी (पिंगला) से उपलक्षित जो. दक्षिण अंग उसके विषे अभ्यास करै और जबतक कुम्भक प्राणायामोंके अभ्यासकी संख्या समान (तुल्य) हो तबतक भलीप्रकार अभ्यास करै फिर संख्याओंकी समानताके अनंतर महासमुद्राका विसर्जन करदे, यहां यह क्रम जानना कि, संकुचित किये वामपादकी पार्ष्णिको योनिस्थानमें युक्त (मिला) करके प्रसारित (पसारे) दक्षिण पादके अँगूठेको आकुंचित (सुकडी) तर्जनीयोंसे ग्रहण करके जो अभ्यास उसे वामांगमें अभ्यास कहते हैं इस अभ्यासमें पूरित किया (भराहुआ) वायु वामांगमें टिकता है और आकुंचित किये दक्षिणपादकी पार्ष्णिको योनिस्थानमें संयुक्त करके और प्रसारित (फैलाये) किये वामपादके अँगूठेको आकुंचित की हुई दोनों हाथोंकी तर्जनियोंसे ग्रहण करके जो अभ्यास उसे दक्षांगमें अभ्यास कहते हैं इस अभ्यासमें पूरित किया वायु दक्षिण अंगमें टिकता है ॥ १५ ॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥१६॥

महामुद्रागुणानाह त्रिभिः-न हीति ॥ हि यस्मान्महामुद्राभ्यासिन इत्यध्याहारः पथ्यमपथ्यं वा न । पथ्यापथ्यविचारो नास्तीत्यर्थः । तस्मात्सर्वे भुक्ता रसाः कट्वम्लादयो जीर्यंते इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः नीरसा निर्गतो रसो. येभ्यस्ते यातयामाः पदार्था जीर्यन्ति । घोरमिति । दुर्जरं भुक्तमन्नं विषं क्ष्वेडमपि पीयूषमिवामृतमिव जीर्यति जीर्णं भवति । किमुतान्यदिति भावः ॥ १६ ॥

भाषार्थ-अब तीन श्लोकोंसे महामुद्राके गुणोंको कहते हैं कि, जिससे महामुद्रा अभ्यास करनेवाले योगीको पथ्य और अपथ्यका विचार नहीं है तिससे नीरस (विगडे हुये) भी संपूर्ण भक्षण किये कटु अम्ल आदि रस जीर्ण हो (पच) जाते हैं और भक्षण किया विषके समान घोर अन्नभी अमृतके समान जीर्ण होजाता है अर्थात् पचनेके अयोग्यभी पचजाता है तो योग्य क्यों न पचेगा ? ॥ १६ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ॥
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ १७ ॥

क्षयेति ॥ यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत्तस्य क्षयो राजरोगः, कुष्ठगुदावर्तगुल्मा रोगविशेषाः। अजीर्णं भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरोगमान्यग्रेसराणि

येषां महोदरज्वरादीनां तथा तादृशा दोषा दोषजनिता रोगाः क्षयं नाशं यांति प्राप्नुवंति ॥ १७ ॥

भाषार्थ-जो पुरुष महामुद्राका अभ्यास करताहै, क्षय, गुदावर्त गुल्मरूप रोग विशेष अजीर्ण अर्थात् भोजन किये अन्नका अपरिपाक ये हैं मुख्य जिनमें ऐसे महोदर, ज्वर आदि-दोष उसके क्षय हो जातेहैं अर्थात् नहीं रहते हैं ॥ १७ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ १८ ॥

महामुद्रापसंहरंस्तस्या गोप्यत्वमाह-कथितेति ॥ इयमेषा महामुद्रा कथितोक्ता। मयेति शेषः। कीदृशी नृणामभ्यसतां नराणां महत्यश्च ताः सिद्धयश्चाणिमाद्यास्तासां करी कर्त्रीयम्। प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तेन प्रयत्नेन गोपनीया गोपनार्हा यस्यकस्यचिद्यस्य कस्याप्यनाधिकारिणोऽसंबंधस्य। सामान्ये षष्ठी। न देया दातुं योग्या न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

भाषार्थ-अब महामुद्राको समाप्त करते हुए उसको गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं कि, यह पूर्वोक्त जो महामुद्रा वर्णन की है वह मनुष्योंको महासिद्धिकी करनेवाली है और बडे यत्नसे गुप्त करने योग्य है और जिस किसी अधिकारी पुरुषको न देनी ॥ १८ ॥

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९ ॥

महाबंधमाह-पार्ष्णिमिति ॥ वामस्य सव्यस्य पादस्य चरणस्य पार्ष्णिं गुल्फयोरधोभागम् 'तद्ग्रंथी घुटिके गुल्फौ पुमान्पार्ष्णिस्तयोरधः' इत्यमरः। योनिस्थाने गुदमेढ्रयोरंतराले नियोजयेन्नितरां योजयेत्। वामः सव्यो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं चरणं पादं संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा। तथाशब्दः पादपूरणे ॥ १९ ॥

भाषार्थ-अब महाबंधका वर्णन करते हैं कि, वामचरणकी पार्ष्णिको योनिस्थानमें अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागमें लगावे और वामजंघा ऊपर दक्षिण पादको रख कर बैठे ॥ १९ ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ॥
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥ २० ॥

पूरयित्वेति॥ततस्तदनंतरं वायुं पूरयित्वा हृदये चुबुकं दृढं निष्पीड्य गाढं संस्थाप्य । एतेन जालंधरबंधः प्रोक्तः । योनिं गुदमेढ्रयोरंतरालमाकुंच्य । अनेन मूलबंधःसूचितः । स तु जिह्वाबंधेन गतार्थत्वान्न कर्तव्यः। मनः स्वांतं मध्ये मध्यनाड्यां नियोजयेत्प्रवर्तयेत् ॥ २० ॥

भाषार्थ–इसपूर्वोक्त आसन बांधनेके अनंतर वायुको पूरण करके और हृदयमें दृढतासे (खूब) चुबुक (ठोडी) को अर्थात् इस जालंधर बंधको करके और योनि (गुदा लिंगकेमध्य) को संकुचित करके अर्थात् मूलबंधको करके परन्तु यह मूलबन्ध जिह्वाके बन्धनसेही सिद्ध है इससे करने योग्य नहीं है फिर मनको मध्य नाडीकेविषे प्रविष्ट करै ॥ २० ॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ॥
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥ २१ ॥

धारयित्वेति ॥ शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुंभयित्वा शनैर्मंदं मंदमनिलं वायुं रेचयेत् । सव्यांगे वामांगे समभ्यस्य सम्यगावर्त्य दक्षांगे दक्षिणांगे पुनर्यावत्तुल्यामेव संख्यां तावदभ्यसेत् ॥ २१ ॥

भाषार्थ–फिर वायुको यथाशक्ति धारण करके अर्थात् कुंभक प्राणायामको करके शनैः २ वायुका रेचन करै इसप्रकार वाम अंगमें भलीप्रकार अभ्यास करके दक्षिण अंगमें फिर अभ्यास करै और वह अभ्यास तबतक करै जबतक वामांग अभ्यासकी जो संख्या उसकी तुल्यताहो ॥ २१ ॥

मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत् ॥
राजदंतस्थजिह्वाया बंधः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥

अथ जालंधरबंधे कंठसंकोचस्यानुपयोगमाह–मतमिति॥केषांचित्त्वाचार्याणामिदं मतम् । किं तदित्याह । अत्र जालंधरबंधे कंठस्य बंधनं बंधः संकोचस्तं विवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत् । कुतः यतो दंतानां राजानो राजदंता राजदंतेषु तिष्ठतीति राजदंतस्था राजदन्तस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तदुपरिभागस्य संबंधः शस्तः । कंठाकुंचनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति हेतोः ॥ २२ ॥

भाषार्थ–अब जालंधरबंधमें कंठके संकोचका अनुपयोग वर्णन करते हैं कि, किन्हीं आचार्योंका यह मत है कि, इस जालंधरबंधमें कंठका जो बन्धन (संकोच) उसको

विशेषकर वर्जदे. क्योंकि राजदंतों (दाढ) के ऊपर स्थित जो जिह्वा उसका बंधही जालंधर बंधमें प्रशस्त होताहै अर्थात् कंठ संकोचकी अपेक्षा वह उत्तम होता है ॥ २२ ॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ॥
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥२३॥

अयं त्विति ॥ अयं तु राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तु सर्वाश्च ता नाड्यश्च सर्वनाड्यो द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकास्तासां सुषुम्नातिरिक्तानामूर्ध्वमुपरि वायोर्गतिरूर्ध्वं गतिस्तस्या निरोधकः प्रतिबंधकः । एतेन 'बध्नाति हि सिराजालम्' इति जालंधरोक्तं फलमनेनैव सिद्धमिति सूचितम् । महाबंधस्य फलमाह—अयं खल्विति ॥ अयमुक्तः खलु प्रसिद्धः महासिद्धीः प्रकर्षेण ददातीति तथा ॥ २३ ॥

भाषार्थ-यह राजदंतोंमें स्थित जिह्वाका बंध, बहत्तर सहस्र ७२००० सुषुम्नासे भिन्न नाडियोंकी जो ऊर्ध्वगति अर्थात् नाडियोंमें जो प्राणवायुका ऊर्ध्वगमन उसका प्रतिबंधक है इससे यह सूचित किया कि, नाडियोंके जालको जो बंधन करै उसे जालंधरबन्ध कहते हैं यह जालंधर बन्धको फल इससेही सिद्ध है । अब महाबन्धके फलको कहते हैं कि, यह महाबन्ध निश्चयसे महासिद्धियोंको भलीप्रकार देता है ॥ २३ ॥

कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः ॥
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥२४॥

कालेति ॥ कालस्य मृत्योः पाशो वागुरा तेन यो महाबंधो बंधनं तस्य विशेषेण मोचने मोक्षणे विचक्षणः प्रवीणः । तिसृणां नदीनां वेणीसमुदायः स एव संगमः प्रयागस्तं धत्ते विधत्ते । केदारं भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदारशब्दवाच्यं तं मनः स्वांतं प्रापयेत् । 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अणौ कर्तुर्मनसो णौ कर्मत्वम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ-और मृत्युके पाशका जो महाबंध उसके छुटानेमें विशेषकर प्रवीण है और तीन नदियोंका संगम जो प्रयाग है उसको करता है और मनको भृकुटियोंके मध्यमें जो शिवजीका स्थानरूप केदार है उसमें प्राप्त करता है अर्थात् पहुँचता है ॥ २४ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥
महामुद्रामहाबंधौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥२५॥

महावेधं वक्तुमादौ तस्योत्कर्षं तावदाह—रूपेति ॥ रूपं सौंदर्यं चक्षुः-

प्रियो गुणो लावण्यं कांतिविशेषः। तदुक्तम् 'मुक्ताफलेषु छायास्तरलत्वमिवान्तरम्। प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते' इति। ताभ्यां संपन्ना विशिष्टा स्त्री युवती पुरुषं भर्तारं विना यथा आदृशी निष्फला तथा महामुद्रा च महाबंधश्च तौ महावेधेन। 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वक्तव्यः' इति भाष्यकारोक्तेर्महच्छब्दस्य लोपः। वर्जितौ रहितौ निष्फलौ व्यर्थावित्यर्थः॥ २५॥

भाषार्थ-अब महावेधके कहनेके लिये प्रथम उसकी उत्तमताको कहते हैं कि, रूप (सुंदरता) और इसवचनमें कहेहुए लावण्यको मोतियोंमें छाया (प्रतिबिंबकी) तरलताके समान स्त्रीके अंगोंमें अंतर जो प्रतीत होता है वह यहां लावण्य कहाता है. इन दोनों पूर्वोक्त रूप और लावण्यसे युक्त स्त्री, पुरुषके विना निष्फल है. तिसीप्रकार महामुद्रा और बंध ये दोनों भी महावेधके विना निष्फल हैं. इस श्लोकमें वेधपदसे महावेध लेते हैं; क्योंकि इस भाष्यकारके वचनसे प्रत्ययके विनाभी पूर्व और उत्तरपदका लोप कहना। महच्छब्दका लोप होता है॥ २५॥

अथ महावेधः।

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः॥
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया॥२६॥

महावेधमाह-महावेधेति॥ महाबंधे महाबंधमुद्रायां स्थितो महाबंधस्थितः। एका एकाग्रा धीर्यस्य स एकाग्रधीर्योगी योगाभ्यासी पूरकं नासापुटाभ्यां वायोर्ग्रहणं कृत्वा कंठे मुद्रा कंठमुद्रा तया जालंधरमुद्रया वायूनां प्राणादीनां गतिमूर्ध्वाधोगमनादिरूपां निभृतं निश्चलं यथा भवति तथावृत्य निरुध्य कुंभकं कृत्वेत्यर्थः॥ २६॥

भाषार्थ-अब महावेधका वर्णन करते हैं कि, महाबंधमुद्रामें स्थित अर्थात् करता हुआ योगी एकाग्रबुद्धिसे पूरक प्राणायामको करके अर्थात् योगमार्गसे नासिकाके पुटोंसे वायुका ग्रहण करके कंठमुद्रा (जालंधर मुद्रा) से प्राणआदि वायुओंको जो उर्ध्व अधोगतिरूप गमन है उसको निश्चल रीतिसे रोककर अर्थात् कुंभक प्राणायामको करके॥ २६॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः॥
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः॥२७॥

समहस्तेति॥ भूमौ भुवि हस्तयोर्युगं समं हस्तयुगं यस्य स समहस्तयुगः भूमिसंलग्नतलौ सरलौ हस्तौ यस्य तादृशः सन्नित्यर्थः।

स्फिचौ कटिप्रोथौ । 'स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथौ' इत्यमरः । भूमिसंलग्नतलयोर्हस्तयोरवलंबनेन योनिस्थानसंलग्नपार्ष्णिना वामपादेन सह भूमेः किंचिदुत्थापितौ शनैर्मंदं संताडयेत्सम्यक् ताडयेत् । भूमावेव पुटयोर्द्वयमिडापिंगलयोर्युग्मगतिक्रम्योल्लंघ्य मध्ये सुषुम्नामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति ॥ २७ ॥

भाषार्थ-भूमिपर लगा है तल जिनका ऐसे सरल हाथोंकों अपने जो स्फिच (चूतड) हैं उनको भूमिपर लगेहुए हाथोंके आश्रय और योनिस्थानमें लगीहुई पार्ष्णि जिसकी ऐसे वामपादसहित पूर्वोक्त स्फिचोंको भूमिसे ऊपर किंचित् उठाकर शनैः २ भलीप्रकार ताडै, इस प्रकार करनेसे इडा और पिंगलारूप दोनों नाडियोंका उल्लंघन (छोड) करके सुषुम्नाके मध्यमें वायु चलने लगता है अर्थात् सुषुम्नामें प्राणवायुकी गति होजाती है ॥ २७ ॥

सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै ॥
मृतावस्था समुत्पन्नाततो वायुं विरेचयेत् ॥२८॥

सोमेति ॥ सोमश्च सूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्निशब्दैस्तदधिष्ठिता नाड्य इडापिंगलासुषुम्ना ग्राह्यास्तेषां संबंधः । तद्वायुसंबंधात्तेषां संबंधः । अमृताय मोक्षाय जायते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । मृतस्य प्राणवियुक्तस्यावस्था मृतावस्था समुत्पन्ना भवति । इडापिंगलयोः प्राणसंचाराभावात् । ततस्तदनंतरं वायुं विरेचयेन्नासिकापुटाभ्यां शनैस्त्यजेत् ॥ २८ ॥

भाषार्थ-फिर चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि अर्थात् ये तीनों देवता हैं क्रमसे अधिष्ठाता जिनके ऐसी इडा पिंगला सुषुम्ना नाडियोंका संबंध मोक्षका हेतु निश्चयसे होजाता है अर्थात् तीनों नाडियोंका वायु एक हो जाताहै तब इडा और पिंगलाके मध्यमें प्राणसंचारके अभावसे मरण अवस्था उत्पन्न होजाती है, क्योंकि, इडा पिंगलामें जो प्राणोंका संचार उसका नामही जीवन है, फिर मरण अवस्थाकी उत्पत्तिके अनंतर वायुको विरेचन करदे अर्थात् नासिकाके पुटोंमेंसे शनैः २ त्यागदे ॥ २८ ॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ॥
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥

महावेध इति ॥ अयं महावेधोऽभ्यासात्पुनःपुनरावर्तनान्महासिद्ध्योऽणिमाद्यास्तासां प्रदायकः प्रकर्षेण समर्थकः । वली जरया चर्मसंकोचः

पलितं जरसा केशेषु शौक्ल्यं वेपः कंपस्तान् हंतीति वलीपालितवेपघ्नः । अत एव साधकेष्वभ्यासिषूत्तमाः साधकोत्तमास्तैः सेव्यतेऽभ्यस्य तइत्यर्थः ॥ २९ ॥

भाषार्थ-यह महावेध अभ्यास करनेसे अणिमा आदि महासिद्धियोंको भलीप्रकार देताहै और वली अर्थात् वृद्ध अवस्थासे चर्मका संकोच और पलित अर्थात् वृद्धतासे केशोंकी शुक्लता और देहका कंपन। इनको नष्ट करता है इसीसे साधकों (अभ्यासी) में जो उत्तम हैं वे इस महावेधका अभ्यासरूप सेवन करते हैं ॥ २९ ॥

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥

महामुद्रादीनां तिसृणामतिगोप्यत्वमाह—एतदिति ॥ एतत्त्रयं महामुद्रादित्रयं महागुह्यमतिरहस्यम् । अत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि हि यस्माज्जरा वार्धकं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगः तयोर्विशेषेण नाशनं वह्नेर्जाठरस्य वृद्धिर्दीप्तिस्तस्याः करं कर्तृ अणिमा आदिर्येषां तेऽणिमादयस्ते च ते गुणाश्च तान् प्रकर्षेण ददातीत्यणिमादिगुणप्रदम् । चकार आरोग्यबिन्दुजयादिसमुच्चयार्थः एवशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ३० ॥

भाषार्थ-अब महामुद्रा आदि पूर्वोक्त तीनोंको अत्यंत गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं कि, ये तीनों मुद्रा अत्यन्त गुप्त करने योग्य हैं और जरा और मृत्युको विशेषकर नष्ट करती हैं और जठराग्निको बढाती हैं और अणिमा आदि सिद्धियोंको देती हैं अर्थात् अणिमा आदि गुणोंको भलीप्रकार उत्पन्न करती हैं और चकारके पढनेसे आरोग्य और विंदुका जय समझना और इस श्लोकमें एव पद निश्चयका बोधक है ॥ ३० ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ॥
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ॥
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥

अथैतत्त्रयस्य पृथक्साधनविशेषमाह—अष्टधेति ॥ दिने दिने प्रतिदिनम् । यामे यामे प्रहरे प्रहरे पौनःपुन्ये द्विर्वचनम् । अष्टभिः प्रकारैरष्टधा क्रियते । चशब्दोऽवधारणे । एतत्त्रयमित्यत्रापि संबध्यते । कीदृशं पुण्यस्य संभारः समूहस्तस्य संधायि, पुनः कीदृशं पापानामोघः पूरः समूह इति यावत् । तस्य भिदुरं कुलिशमिव नाशनं सदा सर्वदा यदाभ्यस्तं तदैव पापनाशम् ॥ सम्यक् सांप्रदायिकी शिक्षा गुरूपदेशो विद्यते येषां ते तथा । एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युक्तरीत्या पूर्वसाधनं स्वल्पस्वल्पमेव कार्यम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ-अब इन तीनोंके पृथक् २ साधन विशेषको कहते हैं कि, प्रहर २ में और दिन २ में वारंवार आठप्रकारसे ये तीनों मुद्रा की जाती हैं. यहां भी एव शब्द निश्चयका वाची है और ये तीनों मुद्रा पुण्यके समूहको करती हैं और पापोंका जो समूह है उसको छेदन सदैव करती हैं और भलीप्रकार गुरुकी है शिक्षा जिनको ऐसे पुरुषोंको पूर्वोक्त आठप्रकारका जो प्रहर २ और दिन २ में साधन है वह अल्प २ (थोडा २) ही करना योग्य है अधिक २ नहीं ॥ ३१ ॥

अथ खेचरी ।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२ ॥

खेचरीं विवक्षुरादौ तत्स्वरूपमाह-कपालेति ॥ कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन्कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात्। भ्रुवोरंतर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात् । सा खेचरी मुद्रा भवति । कपालकुहरे जिह्वाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरंतर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धम् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ-अब खेचरीमुद्राके कथनका अभिलाषी आचार्य प्रथम खेचरीके स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, कपालके मध्यमें जो छिद्र है उसमें विपरीत (उलटी) हुई जिह्वा तो प्रवि[illegible] हो[illegible] और [illegible] थोंके मध्यमें दृष्टिका प्रवेश होजाय तो वह खेचरीमुद्रा होती है अर्थात् कपालके छिद्रमें जिह्वाके प्रवेश पूर्वक जो भ्रुकुटियोंके मध्यका दर्शन उसे खेचरी मुद्रा कहते हैं ॥ ३२ ॥

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ॥
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ ३३ ॥

खेचरीसिद्धेर्लक्षणमाह-छेदनेति ॥ छेदनं अनुपदमेव वक्ष्यमाणम् । चालनं हस्तयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा सव्यापसव्यतः परिवर्तनं, दोहः करयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तद्दोहनं तैः कलां जिह्वां तावद्वर्धयेद्दीर्घां कुर्यात्। तावत् कियत् । यावत्सा कला भ्रूमध्यं बहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति यदा तदा खेचर्याः सिद्धिः खेचरीसिद्धिर्भवति ॥ ३३ ॥

भाषार्थ-अब खेचरीमुद्राकी सिद्धिके लक्षणका वर्णन करते हैं कि, छेदन जिसका आगे शीघ्रही वर्णन करेंगे और चालन अर्थात् हाथके अँगूठे और तर्जनीसे जिह्वाको पकडकर वाम और दक्षिणरूपसे परिवर्तन (हलाना) और पूर्वोक्त अँगूठे और तर्ज-

नीसे गोदोहनके समान जिह्वाका दोहन इन तीनोसे कला (जिह्वा) को तबतक बढावै जबतक वह कला भृकुटियोंके मध्यका स्पर्श करै फिर स्पर्श होनेपर खेचरी मुद्राकी सिद्धिको जानै ॥ ३३ ॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ॥
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४ ॥

तत्साधनमाह—स्नुहीति ॥ स्नुही गुडा तस्याः पत्रं दलं स्नुहीपत्रेण सदृशं स्नुहीपत्रनिभं सुतीक्ष्णमतितीक्ष्णं स्निग्धं च तन्निर्मलं च स्निग्धनिर्मलं शस्त्रं छेदनसाधनं समादाय सम्यगादाय गृहीत्वा ततः शस्त्रग्रहणानंतरं तेन शस्त्रेण रोमप्रमाणं रोममात्रं समुच्छिनेत्सम्यगुच्छिनेच्छिद्यात् । रसनामूलशिरामिति कर्माध्याहारः । 'मिश्रेयाप्यथ सीहुंडो वज्रस्नुक् स्त्री स्नुही गुडा ' इत्यमरः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—अब खेचरीकी सिद्धिके साधनोंका वर्णन करतेहैं कि, स्नुही (सेहुंड) के पत्तेके समान जो अत्यंत तीक्ष्ण शस्त्र है चिकने और निर्मल उस शस्त्रके ग्रहण करके उससे जिह्वाके मूलकी नाडीको रोममात्र छेदन करदे ॥ ३४ ॥

ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ॥
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

तत इति ॥ ततश्छेदनानंतरं चूर्णिताभ्यां चूर्णीकृताभ्यां सैंधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं पथ्यं हरीतकी ताभ्यां प्रघर्षयेत्प्रकर्षेण घर्षयेच्छिन्नं शिराप्रदेशम् । सप्तदिनपर्यंतं छेदनं सैंधवपथ्याभ्यां घर्षणं च सायंप्रातर्विधेयम् । योगाभ्यासिनो लवणनिषेधात्खदिरपथ्याचूर्णं गृह्णंति मूले सैंधवोक्तिस्तु हठाभ्यासात्पूर्वं खेचरीसाधनाभिप्रायेण । सप्तानां दिनानां समाहारः सप्तदिनं तस्मिन् प्राप्ते गते सति अष्टमे दिन इत्यर्थात् । ये प्राप्त्यर्थास्ते गत्यर्थाः । पूर्वच्छेदनापेक्षयाधिकं रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—और छेदनके अनंतर चूर्ण किये (पीसे हुये) सैंधव (लवण) और हरडेसे जिह्वाके मूलको भलीप्रकार घिसे सातदिनतक प्रतिदिन छेदन और घिसनेको पूर्वोक्तप्रकारसे प्रातःकाल और सायंकालको करै और योगके अभ्यासीको लवणका निषेध है इससे यहां खदिर (कत्था) और पथ्याका चूर्ण लेना योगियोंको कहाहै और मूलग्रंथमें तो सैंधवका कथन हठयोगके अभ्याससे पूर्व खेचरीकी सिद्धिके अभिप्रायसे है ।

फिर सात दिनके वीतनेपर आठवेंदिन रोममात्रका छेदन करै अर्थात् प्रथमछेदनेसे अधिक रोममात्रका छेदन करै ॥ ३५ ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ॥
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबंधः प्रणश्यति ॥ ३६ ॥

एवमिति॥एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्रच्छेदनं सप्तदिनपर्यंतं तावदेव सायं-प्रातश्छेदनं घर्षणं च । अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यंतं नित्ययुक्तः सन् समाचरेत्सम्यगाचरेत् । छेदनघर्षणे इति कर्माध्याहारः । षण्मासादनंतरं रसना जिह्वा तस्या मूलमधोभागो रस-नामूलं तत्र या शिरा कपालकुहररसनासंयोगे प्रतिबंधिकाभूता नाडी तया बंधो बंधनं प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति ॥ ३६ ॥

भाषार्थ-इसप्रकार क्रमसे प्रथम रोममात्रका छेदन और उसकाही सातदिनपर्यंत सायंकाल प्रातःकालके समय घर्षणको प्रतिदिन युक्तहुआ छः मासपर्यंत करै और आठवें दिन पूर्व किये छेदनसे अधिक रोममात्रका छेदन करके पूर्वोक्त घर्षणको करता रहै इस-रीतिसे छः मासके अनंतर जिह्वाके मूलभागमें जो शिरावन्घ है अर्थात् जिससे जिह्वा कपाल छिद्रमें नहीं पहुंच सकती वह बन्धन है वह भलीप्रकार नष्ट होजाता है ॥ ३६ ॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ॥
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥

छेदनादिना जिह्वावृद्धौ यत्कर्तव्यं तदाह-कलामिति ॥ कलां जिह्वां पराङ्मुखमास्यं यस्याः सा तथा तां पराङ्मुखीं प्रत्यङ्मुखीं कृत्वा तिसृणां नाडीनां पंथाः त्रिपथस्तस्मिंस्त्रिपथे कपालकुहरे परियोजयेत्सं-योजयेत् । सा त्रिपथे परियोजनरूपा खेचरी मुद्रा तद्व्योमचक्रमित्यु-च्यते । व्योमचक्रशब्देनोच्यते ॥ ३७ ॥

भाषार्थ-अब छेदन आदिसे जिह्वाको वृद्धि होनेपर करने योग्य कर्मको कहते हैं कि, जिह्वाको पराङ्मुख करके अर्थात् पश्चिमको लौटाकर तीनों नाडियोंका मार्ग जो कपालका छिद्र है उसमें संयुक्त करदे वही खेचरी मुद्रा होती है और उसको ही व्योमचक्र कहते हैं ॥ ३७ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ॥
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥

अथ खेचरीगुणाः॥रसनामिति॥ ऊर्ध्वं तालूपरि विवरं गच्छतीति तां तादृशीं रसनां जिह्वां कृत्वा क्षणार्धं क्षणस्य मुहूर्तस्य अर्धं क्षणार्धं घटिकामात्रमपि खेचरी मुद्रा तिष्ठति चेत्तर्हि योगी विषैः सर्पवृश्चिकादिविषैः विमुच्यते विशेषेण मुच्यते । व्याधिर्धातुवैषम्यं मृत्युश्च प्राणदेहवियोगो जरा वृद्धावस्था ता आदयो येषां वल्यादीनां तैश्च विमुच्यते । 'उत्सवे च प्रकोष्ठे च मुहूर्ते नियमे तथा । क्षणशब्दो व्यवस्थायां समयेऽपि निगद्यते' इति नानार्थः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–अब खेचरीके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, जिह्वाको तालुके ऊपरले छिद्रमें करके जो योगी क्षणार्धभी टिकता है अर्थात् एक घटिकामात्र भी स्थित रहता है (यहां क्षण पदसे इसवचनके अनुसार मुहूर्तका ग्रहण है) वह योगी धातुओंकी विषमतारूप व्याधि और मृत्यु अर्थात् प्राण और देहका वियोग और वृद्ध अवस्था आदिकोंसे और सर्प विच्छू आदिके विषोंसे विशेषकर छूट जाता है ॥ ३८ ॥

न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥३९॥

न रोग इति॥यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति तस्य रोगो न मरणं न तंद्रा तामसांतःकरणवृत्तिविशेषः न निद्रा न क्षुधा न तृषा न पिपासा न मूर्च्छा चित्तस्य तमसाभिभूतावस्थाविशेषश्च न भवेत् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ–जो योगी खेचरीमुद्राको जानता है उसको रोग, मरण और अंतःकरणकी तमोगुणी वृत्तिरूप तंद्रा और निद्रा क्षुधा तृषा और चित्तकी तमोगुणीअवस्थारूप मूर्च्छा ये सब नहीं होते हैं ॥ ३९ ॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥४०॥

पीड्यत इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति स रोगेण ज्वरादिना न पीड्यते ॥ ४० ॥

भाषार्थ–जो खेचरीको जानता है वह रोगसे पीडित नहीं होता है और न कर्मसे लिप्त होता है और न कालसे बाधा जाता है ॥ ४० ॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥

चित्तमिति ॥ यस्माद्धेतोश्चित्तमंतःकरणं खे भ्रुवोरंतरवकाशे चरति जिह्वा खे तत्रैव गता सती चरति । तेन हेतुना एषा कथिता मुद्रा खेचरी नाम खेचरीति प्रसिद्धा । नामेति प्रसिद्धावव्ययम् । सिद्धैः कपिलादिभिर्निरूपिता । खे भ्रुवोरंतर्व्योम्नि चरति गच्छति चित्तं जिह्वा च यस्यां सा खेचरीत्यवयवशः सा व्युत्पादिता । उक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु व्याध्यादीनां पुनरुक्तिस्तु तेषां श्लोकानां संगृहीतत्वान्न दोषाय ॥४१॥

भाषार्थ-जिससे चित्त (अंतःकरण) भ्रुकुटियोंके मध्यरूप आकाशमें विचरता है और जिह्वाभी भ्रुकुटियोंके मध्यमेंही जाकर विचरती है तिसीसे सिद्धों (कपिल आदि) की निरूपण कीहुई यह मुद्रा खेचरी इस नामसे प्रसिद्ध है भ्रुकुटियोंके मध्यरूप आकाशमें जिसमुद्राके करनेसे जिह्वा विचरे उसे खेचरी कहते हैं। इस व्युत्पत्तिसे सिद्धोंने यह अन्वर्थमुद्रा वर्णन की है. इन पूर्वोक्त तीनों श्लोकोमें व्याधिआदिकी जो पुनरुक्ति है वह इसलिये दूषित नहीं है कि, ये तीनों श्लोक संगृहीत (किसीके रचेहुए) हैं अर्थात् मूलके नहीं हैं ॥ ४१ ॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः ॥
न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याः श्लेषितस्य च॥४२॥

खेचर्येति ॥ येन योगिना खेचर्या मुद्रया लंबिकाया ऊर्ध्वमिति लंबिकोर्ध्वतः । सार्वविभक्तिकस्तसिः । लंबिका तालु तस्या ऊर्ध्वत उपरिभागे स्थितं विवरं छिद्रं मुद्रितं पिहितम् । कामिन्या युवत्याः श्लेषितस्यालिंगितस्यापि । च शब्दोऽप्यर्थे । तस्य बिंदुर्वीर्यं न क्षरते न स्खलति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ-जिस योगीने खेचरीमुद्रासे लंबिका (तालु) के ऊपरका छिद्र ढकलिया है कामिनीके स्पर्श करनेपरभी उस योगीका बिंदु (वीर्य) क्षरित (पडता) नहीं होता अर्थात् अपने मस्तकरूप स्थानसे नहीं गिरता है ॥ ४२ ॥

चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम् ॥
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया॥४३॥

चलित इति ॥ चलितोऽपि स्खलितोऽपि बिंदुर्यदा यस्मिन् काले योनिमंडलं योनिस्थानं संप्राप्तः संगतस्तदैव योनिमुद्रया मेढ्राकुंचनरूपया । एतेन वज्रोलीमुद्रा सूचिता । निबद्धो नितरां बद्धः शक्त्याकर्षणशक्त्याहृतः प्रकृष्ट ऊर्ध्वं व्रजति । सुषुम्नामार्गेण बिंदुस्थानं गच्छति ॥ ४३ ॥

भाषार्थ-और चलायमानहुआभी बिंदु जिससमय योनिके मंडलमें प्राप्त होजाता है तोभी लिंगके संकोचनरूप योनिमुद्रासे अर्थात् वज्रोलीसे निरंतर बँधाहुआ बिंदु आकर्षणशक्तिसे खिंचा हुआ सुषुम्ना नाडीके मार्गसे ऊर्ध्व (बिंदुके स्थानमें) को चलाजाता है ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वजिह्व इति ॥ ऊर्ध्वालंबिकोर्ध्वविवरोन्मुखा जिह्वा यस्य स ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो निश्चलो भूत्वा । सोमस्य लंबिकोर्ध्वविवरगलितचंद्रामृतस्य पानं सोमपानं यः पुमान् करोति । योगं वेत्तीति योगवित् स मासस्यार्धं मासार्धं तेन मासार्धेन पक्षेण मृत्युं मरणं जयति अभिभवति । न संदेहः । निश्चितमेतदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

भाषार्थ-तालुके ऊपरके छिद्रके उन्मुख है जिह्वा जिसकी ऐसा जो योगी वह सोमपान करता है अर्थात् ऊर्ध्व छिद्रमेंसे गिरतेहुए चंद्रामृतको पीता है योगका ज्ञाता वह एकही मासार्द्धसे अर्थात् पक्षभरसे मृत्युको जीतता है इसमें सन्देह नहीं है अर्थात् यह निश्चित है ॥ ४४ ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ॥
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५ ॥

नित्यमिति ॥ यस्य योगिनः शरीरं नित्यं प्रतिदिनं सोमकलापूर्णं चन्द्रकलामृतपूर्णं तस्य तक्षकेण सर्पविशेषेणापि दष्टस्य दंशितस्य योगिनः शरीरे विषं गरलं तज्जन्यं दुःखं न सर्पति न प्रसरति ॥ ४५ ॥

भाषार्थ--जिस योगीका शरीर नित्य (सदैव) चंद्रकलारूप अमृतसे पूर्ण रहता है तक्षक सर्पसे डसेहुयेभी उसके शरीरमें विष नहीं फैलता अर्थात् सर्पका विष नहीं चढता ॥ ४५ ॥

इंधनानि यथा वह्निस्तलवर्त्ति च दीपकः ॥
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥ ४६ ॥

इंधनानीति ॥ यथा वह्निः इंधनानि काष्ठादीनि न मुंचति दीपको दीपः तैलवर्तिं च तैलयुक्तां वर्तिं न मुंचति । तथा सोम चन्द्रकलामृतपूर्णं देहं शरीरं देही जीवो न मुंचति न त्यजति ॥ ४६ ॥

भाषार्थ-जैसे अग्नि काष्ठआदि इंधनोंको और दीपक तैल और बत्तीको नहीं त्यागतेहैं अर्थात् उनके विना नहीं रहतेहैं तैसेही देही (जीवात्मा) सोमकलासे पूर्ण देहको नहीं त्यागताहै अर्थात् सोमकलासे पूर्ण देह सदैव बना रहताहै ॥ ४६ ॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

गोमांसमिति ॥ गोमांसं पारिभाषिकं वक्ष्यमाणं यो भक्षयेन्नित्यं प्रतिदिनममरवारुणीमपि वक्ष्यमाणां पिबेत्तं योगिनम्। अहमिति ग्रंथकारोक्तिः। कुले जातः कुलीनः तं सत्कुलोत्पन्नं मन्ये। तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते-कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत्। जायते योगवान्यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् ॥ दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान्। भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम् ॥' ब्रह्मांडपुराणे। 'गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च। ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते॥' राजयोगे वामदेवं प्रति शिववाक्यम्-'राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः। तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनम्। दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः। अज्ञा मुक्तिपदं यांति किं पुनस्तत्परायणाः॥ अंतर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः। त्वया मयाप्यसौ वंद्यः शेषैर्वंद्यस्तु किं पुनः॥' इति। कूर्मपुराणे-'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा। ये युंजंते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः ॥' इति। इतरे वक्ष्यमाणगोमांसभक्षणामरवारुणीपानरहिता अयोगिनस्ते कुलघातकाः कुलनाशकाः सत्कुले जातस्य जन्मनो वैयर्थ्यात् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ-जो योगी प्रतिदिन गोमांस (जो आगे कहेंगे) को भक्षण करताहै और प्रतिदिन अमरवारुणी (जो आगे कहेंगे) को पीताहै उसकोही हम श्रेष्ठकुलमें उत्पन्न मानतेहैं अन्य सब मनुष्य कुलघातक (नाशक) हैं क्योंकि श्रेष्ठकुलमें उनका जन्म निरर्थक है सोई ब्रह्मवैवर्त्तमें कहाहै कि, योगीके माता पिता कृतार्थ हैं और उसके देश और कुलको धन्य है जहां योगवान् पैदा होताहै और योगीको दिया दान अक्षय होताहै पुरुष और प्रकृतिका विवेकी योगीजन दर्शन, भाषण स्पर्श करनेसे मनुष्योंके कोटियों जन्मोंके पापोंसे पवित्र करतेहैं। ब्रह्माण्डपुराणमें लिखाहै कि, सहस्र गृहस्थी और सौ वानप्रस्थ और सहस्र ब्रह्मचारियोंसे योगाभ्यासी अधिक होताहै और राजयोगके विषयमें वामदेवके प्रति शिवजीका वाक्य है कि, राजयोगके यथार्थ माहात्म्यको कौन जान सकताहै ? राज-

योगका ज्ञानी जहां, वसताहै वह देश पुण्यात्मा है इसके दर्शन और पूंजनसे इकीस कुल सहित मूर्ख भी मुक्तिके पदको प्राप्त होतेहैं, योगमें तत्पर तो क्यों न होंगे जो अंतर्योग और वहिर्योगको विशेषकर जानताहै वह मुझे और तुझेभी नमस्कार करने योग्य है और शेषमनुष्योंको वन्दना करने योग्य तो क्यों न होगा । कूर्मपुराणमें लिखाहै कि, एकसमय वा द्विकालमें वा त्रिकालमें वा नित्य जो महायोगका अभ्यास करते हैं वे महेश्वर (शिव) जानने । इन वचनोंसे योग सर्वोत्तम है ॥ ४७ ॥

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ॥
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥

गोमांसशब्दार्थमाह—गोशब्देनेति ॥ गोशब्देन गोइत्याकारकेण शब्देन गोपदेनेत्यर्थः । जिह्वा रसनोदिता कथिता । तालुनीति सामीपिकाधारे सप्तमी । तालुसमीपोर्ध्वविवरे तस्या जिह्वायाः प्रवेशो गोमांसभक्षणं गोमांसभक्षणशब्दवाच्यं तत्तु तादृशं गोमांसभक्षणं तु महापातकानां स्वर्णस्तेयादीनां नाशनम् ॥ ४८ ॥

भाषार्थ-अब गोमांस शब्दके अर्थको कहते हैं कि, गोपदसे जिह्वा कही जातीहै और तालुके समीप जो ऊर्द्ध्वछिद्र उसमें जो जिह्वाका प्रवेश उसको गोमांसभक्षण कहते हैं—वह गोमांसभक्षण महापातकोंका नाश करनेवाला है ॥ ४८ ॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ॥
चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥

अमरवारुणीशब्दार्थमाह—जिह्वेति । जिह्वायाः प्रवेशो लंबिकोर्ध्वविवरे प्रवेशनं तस्मात्संभूतो यो वह्निरूष्मा तेनोत्पादितो निष्पादितः । अत्र वह्निशब्देनौष्ण्यमुपलक्ष्यते । यः सारः चंद्राद्भ्रुवोरंतर्वामभागस्थात्सोमात्स्रवति गलति सा अमरवारुणी स्यादमरवारुणीपदवाच्या भवेत् ॥ ४९ ॥

भाषार्थ-अब अमरवारुणी शब्दके अर्थको कहते हैं कि, तालुके ऊर्ध्व छिद्रमें जिह्वाके प्रवेशसे उत्पन्न हुई जो वह्नि (ऊष्मा) उससे उत्पन्न हुआ जो सार चंद्रमासे झरताहै अर्थात् भ्रुकुटियोंके मध्यमें वामभागमें स्थित चंद्रमासे बिंदुरूप सार गिरताहै उसको अमरवारुणी कहते हैं ॥ ४९ ॥

चुम्बंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ॥
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ॥५०॥

चुंबतीति ॥ यदि लंबिकाग्रं लंबिकोर्ध्वविवरं चुंबंती स्पृशन्ती। अनिशं निरंतरम्। अत एव रसस्य सोमकलामृतस्य स्यंदः स्यंदनं प्रस्रवणमस्यामस्तीति रसस्पंदिनी यस्य जिह्वा। क्षारेण लवण-रसेन सहिता सक्षारा। कटुकं मरिचादि आम्लं चिंचाफलादि दुग्धं पयस्तैः सदृशी समाना। मधु क्षौद्रमाज्यं घृतं ताभ्यां तुल्या समा तथाशब्दः समुच्चये। एतैर्विशेषणै रसस्यानेकरसत्वान्मधुरत्वात्स्नि-ग्धत्वाच्च जिह्वाया अपि रसस्यंदने तथात्वमुक्तम्। तर्हि तस्य व्याधीनां रोगाणां हरणमपगमो जराया वृद्धावस्थाया अंतःकरणं नाशनं शस्त्राणामायुधानामागमः स्वाभिमुखागमनं तस्योदीरणं निवारणम्। अष्टौ गुणा अणिमादयस्ते अस्य संजाता इत्यष्टगुणितम-मरत्वममरभावः। सिद्धानामंगनाः सिद्धांगनाः सिद्धाश्चता अंगना-श्चेति वा तासामाकर्षणमाकर्षणशक्तिः स्यात् ॥ ५० ॥

भाषार्थ—यदि रस (सोमकलाका अमृत) का स्यंदन (झरना) करनेवाली और लवणके रसके समान और मरीच आदि कटु और इमली आदि अम्ल और दूध इनके सदृश और मधु (सहत) और घृत इनकी तुल्य इन सब विशेषणोंमें रसमें अनेक रस और मधुरता और स्निग्धता (चिकनाई) कही उस रसके झरनेवाली जिह्वाकोभी वैसीही कही समझना अर्थात् पूर्वोक्तप्रकारकी जिह्वा तालुके ऊपर वर्तमानछिद्रका वारंवार चुंवन (स्पर्श) करे तो उस मनुष्यकी व्याधियोंका हरण और वृद्ध अवस्थाका अन्त करना और सन्मुख आये शस्त्रका निवारण और अणिमा आदि आठ सिद्धि हैं जिसमें ऐसा अमरत्व (देवत्व) और सिद्धोंकी अंगनाओंका वा सिद्धरूप अंगनाओंका आकर्षण (बुलाना) उसको ये फल होते हैं ॥ ५० ॥

मूर्ध्नःषोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयन् ॥
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥५१॥

मूर्ध्न इति ॥ रसनां जिह्वां विवरे कपालकुहरे नियम्य संयोज्य। ऊर्ध्वमुत्तानमास्यं यस्य सः । ऊर्ध्वास्य इत्यनेन विपरीतकरणी सूचिता । परां शक्तिं कुंडलिनीं चिंतयन्ध्यायन्सन् प्राणान्साधनभूतान् । षोडश पत्राणि दलानि यस्य तत् षोडशपत्रं सच्च तत्पद्मं कंठस्थाने वर्तमानं तस्मिन्गलितं हठाद्धठयोगादवाप्तं प्राप्तं विमलं निर्मलं धारामयं धारारूपमुत्कल्लोलमुत्तरंगं च तत्कलाजलं सोम-कलारसं यः पुमान् पिबेत् धयेत्स योगी निर्गता व्याधयो ज्वरादयो यस्मात्स निर्व्याधिः सन् यद्वा निर्गता त्रिविधा आधिर्मानसी व्यथा यस्मात्स तादृशः सन् मृणालं बिसमिव कोमलं मृदु वपुः शरीरं यस्य स मृणालकोमलवपुश्च सन् चिरं दीर्घकालं जीवति प्राणान् धारयति । हठाद्धठयोगात् । प्राणात्साधनभूतादवाप्तमिति वा योजना। प्राणैरिति क्वचित्पाठः ॥ ५१ ॥

भाषार्थ-जो योगी, जिह्वाको कपालके छिद्रमें लगाकर और ऊपरको मुख करके इससे विपरीत करणी सूचित की--और परमशक्ति जो कुण्डलिनी उसका ध्यान करता हुआ प्राणवायुके साधन और हठयोगसे प्राप्त और षोडश हैं पत्र जिसके ऐसे पद्ममें मस्तकसे पतित और निर्मल और धारारूप और ऊपरको हैं तरंग जिसके ऐसे चंद्रकलाके जलको पीता है व्याधिसे रहित और मृणाल (बिस) के समान कोमल है वपु (देह) जिसका ऐसा वह योगी चिरकालतक जीता है ॥ ५१ ॥

यत्प्रालेयं प्र[हि]तसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ॥
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥५२॥

यत्प्रालेयमिति ॥ मेरुवत्सर्वोन्नता सुषुम्ना मेरुस्तस्य मूर्धो परिभागस्तस्यांतरे मध्ये तिष्ठतीति मेरुमूर्धांतरस्थं यत्प्रालेयं सोमकलाजलं प्रहितं निहितं यस्मिंस्तत्तथा तच्च तत्सुषिरं विवरं तस्मिन्विवरे सुधीः शोभना रजस्तमोभ्यामनभिभूतसत्त्वा धीर्बुद्धिर्यस्य सः तत्त्वमात्मतत्त्वं प्रवदति प्रकर्षेण वदति । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । आत्मनो विभुत्वे खेचरीमुद्रायां तत्राभिव्यक्तिस्तस्मिंस्तत्त्वमित्युक्तम् । निम्नगानां गंगायमुना-सरस्वतीनर्मदादिशब्दवाच्यानामिडापिंगलासुषुम्नागांधारीप्रभृतीनां तस्मिन्विवरे तत्समीपे मुखमग्रमस्ति चंद्रात्सोमाद्वपुषः

शरीरस्य सारः स्रवति क्षरति तेन चंद्रसारक्षरणेन नराणां मनुष्याणां मृत्युर्मरणं भवति। अतो हेतोस्तत्पूर्वोदितं सुकरणं शोभनं करणं खेचरीमुद्राख्यं बध्नीयात्। सुकरणे बद्धे चंद्रसारस्रवणाभावान्मृत्युर्न स्यादिति भावः अन्यथा सुकरणबंधनाभावे कायस्य देहस्य सिद्धी रूपलावण्यबलवज्रसंहननरूपा न स्यात् ॥ ५२ ॥

भाषार्थ-मेरुके समान सबसे ऊँची जो सुषुम्ना नाडी उसके मूर्द्धा (ऊपरके भाग) के मध्यमें टिकाहुआ जो सलिल अर्थात् सोमकलाका जल है और जिसमें वह जल स्थित है ऐसा विवर (छिद्र) है उस विवरमें रजोगुण तमोगुणसे नहीं हुआ है तिरस्कार जिसका ऐसी बुद्धिवाले मनुष्य आत्मतत्त्वको कहते हैं क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि, सुषुम्नाकी शिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित है—क्योंकि आत्मा विभु (व्यापक) है और खेचरी-मुद्रामें उस विवरमें आत्मा प्रकट होताहै इससे उसमें तत्त्व है यह कहना ठीक है—और गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा आदि शब्दोंका अर्थ जो इडा, पिंगला सुषुम्ना, गांधारी आदि नाडी हैं उनके मुखभी उसी छिद्रके समीपमें हैं और चंद्रमासे जो देहका सारांश झरताहै उससेही मनुष्योंकी मृत्यु होती है तिससे शोभन करणरूप खेचरीमुद्राको बांधे (करै) क्योंकि खेचरीमुद्राके करनेसे चंद्रमाके सारके न झरनेसे मृत्यु न होगी और अन्यथा अर्थात् खेचरीमुद्राके न करनेसे देहका जो रूप, लावण्य, बल वज्रके समान संहनन (दृढता) रूपसिद्धि न होगी। भावार्थ यह है कि, जो सोमकलाका जल सुषुम्नाके मध्यमें स्थित है वह जल जिस छिद्रमें है उस छिद्रमेंही बुद्धिमान् मनुष्य परमात्माको कहतेहैं और उसी छिद्रमें समीप इडा पिंगला आदि नाडियोंका मुख है और चंद्रमासे जो देहका सारांश झरताहै उससे मनुष्योंकी मृत्यु होती है तिससे खेचरी मुद्राको करै क्यों कि न करनेसे देहकी सिद्धि नहीं होसकती अर्थात् पुष्ट न होगा ॥ ५२ ॥

सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतःसमन्वितम् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिञ्शून्ये निरंजने ॥ ५३ ॥

सुषिरमिति॥पंच यानि स्रोतांसीडादीनां प्रवाहास्तैःसमन्वितं सम्यगनुगतम् ॥ "सप्तस्रोतः समन्वितम्" इति क्वचित्पाठः। ज्ञानजनकमलौकिकबोधितात्मसाक्षात्कारजनकं यत्सुषिरं विवरं तस्मिन्सुषिरेऽजनमविद्या तत्कार्यं शोकमोहादि च निर्गतं यस्मात्तन्निरंजनं तस्मिन्निरंजने शून्ये सुषिरावकाशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरा भवति। 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ–इडा आदि नाडियोंके जो पांच स्रोत (प्रवाह) हैं उनसे युक्त जो सुषि (छिद्र) है वह ज्ञानका उत्पादक है अर्थात् आत्माके प्रत्यक्षका जनक है–शोक मोह आदिसे रहित रूप निरंजन और शून्यरूप जो है उसके विषे खेचरीमुद्रा स्थिर होती है अर्थात् खेचरीमुद्राकी महिमासे उस छिद्रमें मनके प्रवेशसे आत्मज्ञान होताहै ॥ ५३ ॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ॥
एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥५४॥

एकमिति ॥ सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यम् । तदुक्तं मांडूक्योपनिषदि 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्' इति । खेचरी मुद्रा एका मुख्या । निरालंब आलंबनशून्य एको मुख्यो देवः । आलंबनपरित्यागेनात्मनः स्वरूपावस्थानात् । उन्मन्यवस्थैका मुख्या । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमर । बीजादिषु प्रणवादिवन्मुद्रासु खेचरी मुख्येत्यर्थः ॥५४॥

भाषार्थ–सृष्टिरूप जो प्रणव (ॐ) नामका बीज है वह मुख्य है सोई मांडूक्य उपनिषद्में कहा है कि, यह सम्पूर्ण जगत् ॐ इस अक्षररूप है–और खेचरीमुद्राभी एक (मुख्य) है और निरालंब अर्थात् आलंबनशून्य देव परमात्मा भी एकही है–और मनोन्मनी अवस्था भी एकही है । यहां एकशब्द इस अमरके अनुसार मुख्यका बोधक है अर्थात् बीज आदि जैसे प्रणव मुख्य है ऐसेही मुद्राओंमें खेचरीभी मुख्य है ॥ ५४ ॥

अथोड्डीयानबन्धः ।

बद्धो येन सुषम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ ५५ ॥

उड्डीयानबंधं विवक्षुस्तावदुड्डीयानशब्दार्थमाह–बद्ध इति ॥ यतो यस्माद्धेतोर्येन बंधेन बद्धो निरुद्धः प्राणःसुषुम्नायां मध्यनाड्यामुड्डीयते सुषुम्नां विहायसा गच्छति तस्मात्कारणादयं बंधो योगिभिर्मत्स्येंद्रादिभिरुड्डीयनमाख्याभिधा यस्य स उड्डीयनाख्यः समुदाहृतः सम्यग्युक्त्योदाहृतः कथितः । सुषुम्नायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम् उत्पूर्वात् 'डीङ्–विहायसा गतौ' इत्यस्मात्करणे ल्युट् ॥ ५५ ॥

भाषार्थ–अब उड्डीयानबंधको कहनेके अभिलाषी आचार्य प्रथम उड्डीयान शब्दके अर्थको कहते हैं कि, जिस बंधसे बँधाहुआ प्राण मध्य नाडीरूप सुषुम्नाके विषे उडता अर्थात् आकाशमेंसे सुषुम्नामें प्रविष्ट हो जाय तिसकारणसे यह बंध मत्स्येंद्र आदि योगियोंने उड्डीयान नामका कहा है अर्थात् सुषुम्नामें जिससे प्राण उडै इस व्युत्पत्तिसे इसका उड्डीयान नाम रक्खा है ॥ ५५ ॥

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगाः ॥
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥

उड्डीनमिति॥महांश्चासौ खगश्च महाखगः प्राणः। सर्वदा देहावकाशे गतिमत्त्वात्। यस्माद्बंधादविश्रांतं यथा स्यात्तथोड्डीनं विहंगमगतिं कुरुते। सुषुम्नायामित्यध्याहार्यम्। तदेव बंधविशेषमुड्डियानमुड्डियाननामकं स्यात्।तत्र तस्मिन्विषये बंधोऽभिधीयते बंधस्वरूपं कथ्यते मयेति शेषः५६

भाषार्थ-सदैव देहके अवकाशमें गति है जिसकी ऐसा महाखगरूप प्राण जिस बंधसे निरंतर उड्डीन (पक्षीके समान गति) को सुषुम्नामें करता है वही बंध उड्डीयान नामका होता है उसमें मैं बंधके स्वरूपको कहता हूँ ॥ ५६ ॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥ ५७ ॥

उड्डीयानबंधमाह-उदर इति॥ उदरे तुंदे नाभेरूर्ध्वं चकारादधःउपरिभागेऽधोभागे च पश्चिमं तानं पश्चिमाकर्षणं नाभेरूर्ध्वाधोभागौ यथा पृष्ठसँलग्नौ स्यातां तथा तानं तानन्नं नामाकर्षणं कारयेत्कुर्यात्। णिजर्थोऽविवक्षितः। असौ नाभेरूर्ध्वाधोभागयोस्तानरूप उड्डीयान उड्डीयानाख्यो बंधः। कीदृशः मृत्युरेव मातंगो गजस्तस्य केसरी सिंहः सिंह इव निवर्तकः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ-उदर (पेटके तुंद) में नाभिके ऊपर नीचे पश्चिम तान करे अर्थात् नाभिके ऊपरके और निचले भागको इस प्रकार तान (आकर्षण) करे जैसे वे दोनों भाग पृष्ठमें लगजांय यह नाभिके ऊर्ध्व अधोभागका तान उड्डीयान नामका बन्ध होता है और यह बंध मृत्युरूपी हस्तीको केसरी है अर्थात् नाशक है ॥ ५७ ॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥

उड्डीयानं त्विति॥ गुरुर्हितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड्डीयानं तु सदा सर्वदा सहजं स्वाभाविकं कथितं प्राणस्य बहिर्गमनम्। सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात्।यस्तु यः पुरुषस्तु सततं निरंतरमभ्यसेत्।उड्डीयानमित्यत्रापि संबध्यते।स तु वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि तरुणायते तरुण इवाचरति तरुणायते५८

भाषार्थ-हितके उपदेष्टा गुरुने उड्डीयान सदैव स्वाभाविक कहा है अर्थात् प्राणका बहिर्गमन स्वभावसे सबको होता है परन्तु जो पुरुष इसका निरंतर अभ्यास करता है वृद्धभी तरुण (युवा) के समान आचरण करता है ॥ ५८ ॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥

नाभेरिति॥नाभेरूर्ध्वमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नःप्रयत्नस्तस्मात्प्रयत्नतः । यत्नविशेषात्तानं पश्चिमतानं कुर्यात् । पूर्वार्धेनोड्डीयानस्वरूपमुक्तम् । अथ तत्प्रशंसा । षण्मासं षण्मासपर्यंतम् उड्डीयानमित्यध्याहारः । अभ्यसेत्पुनःपुनरनुतिष्ठेत्स मृत्युं जयत्येव संशयो न । अत्र संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ५९)

भाषार्थ-नाभिके ऊपर और नीचे भलीप्रकार यत्नसे तान करै अर्थात् यत्न विशेषसे पश्चिमतान करै और षण्मास (छःमास) पर्यंत इस उड्डीयानबंधका वारंवार अभ्यास करै तो मृत्युको जीतता है इसमें संशय नहीं है ॥ ५९ ॥

सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ॥
उड्डियाने दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ६० ॥

सर्वेषामिति ॥ सर्वेषां बंधानां मध्ये उड्डीयानकः उड्डीयानबंध एव। स्वार्थे कप्रत्ययः । उत्तमः उत्कृष्टः हि यस्माडुड्डीयाने बंधे दृढे सति स्वाभाविकी भावसिद्धैव मुक्तिर्भवेत्।उड्डीयानबंधे कृते विहंगमगत्या सुषुम्नायां प्राणस्य मूर्ध्नि गमनात्। 'समाधौ मोक्षमाप्नोति'इति वाक्यात्सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः ॥ ६० ॥

भाषार्थ-संपूर्ण बंधोंके मध्यमें उड्डीयान बंध उत्तम है, क्योंकि उड्डीयान बंधके दृढ होनेपर स्वाभाविका मुक्ति होती है अर्थात् उड्डीयान बंधके करानेसे पक्षीके समान गतिसे सुषुम्नाविषे प्राण मस्तकमें चलाजाता है उस समाधिमें इस वाक्यके अनुसार अनायाससे मुक्ति होजाती है ॥ ६० ॥

अथ मूलबंधः ।

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ॥
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

मूलबंधमाह-पार्ष्णिभागेनेति ॥ पार्ष्णेर्भागो गुल्फयोरधः प्रदेशस्तेन योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा गुदं पायुमाकुंचयेत्संकोचयेत् । अपानमधोगतिं वायुमूर्ध्वमुपर्याकृष्याकृष्य कृत्वा मूलबंधोऽभिधीयते व ध्यते । पार्ष्णिभागेन योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुदस्याकुंचनं मूलबंध इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

भाषार्थ-अब मूलबंधमुद्राका वर्णन करते हैं कि, पार्ष्णिके भाग (गुल्फोंका अधःप्रदेश) से योनिस्थानको अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागको भलीप्रकार पीडित (दबा) करके गुदाका संकोच करै और अपान वायुका ऊपरको आकर्षण करै यह मूलबंध होताहै ऐसा योगशास्त्रको जाननेवाले आचार्य कहतेहैं ॥ ६१ ॥

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः ॥६२॥

अधोगतिमिति ॥ यः अधोगतिम् अधोऽवाग्गतिर्यस्य स तथा तमपानमपानवायुमाकुंचनेन मूलाधारस्य संकोचनेन बलाद्धठादूर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तमूर्ध्वगं सुषुम्नायामूर्ध्वगमनशीलं कुरुते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलबंधं मूलस्य मूलस्थानस्य बंधनं मूलबन्धस्तं मूलबंधमित्यन्वर्थं प्राहुः । अनेन मूलबंधशब्दार्थ उक्तः । पूर्वश्लोकेन तु तस्य बंधनप्रकार उक्त इत्यपौनरुक्त्यम् ॥६२॥

भाषार्थ-जो बन्ध अधः (नीचेको) गति है जिसकी ऐसे अपान वायुको बलसे ऊर्ध्वगामी करता है अर्थात् जिसके करनेसे अपान सुषुम्नामें पहुँच जाता है योगके अभ्यासी उस बन्धको मूलबन्ध कहते हैं अर्थात् मूलस्थानका जिससे बन्धन हो वह मूलबन्ध अन्वर्थनामसे कहाताहै इस श्लोकसे मूलबन्ध शब्दका अर्थ कहा और पिछले श्लोकसे बन्धनका प्रकार कहाहै इससे पुनरुक्तिदोष नहीं है ॥ ६२ ॥

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् ॥
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥६३॥

अथ योगबीजोक्तरीत्या मूलबंधमाह-गुदमिति ॥ पार्ष्ण्योर्गुल्फयोरधोभागेन गुदं वायुं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा संयोज्येत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वस्मादस्य विशेषत्वद्योतकः । यथा येन प्रकारेण समीरणो वायुरूर्ध्वं सुषुम्नाया उपरिभागे याति गच्छति तथा तेन प्रकारेण बलाद्धठाद्वारं वारं पुनःपुनर्वायुमपानमाकुंचयेद्गुदस्याकुंचनेनाकर्षयेत् । अयं मूलबंध इति वाक्याध्याहारः ॥ ६३ ॥

भाषार्थ-अब योगबीजमें कही हुई रीतिसे मूलबन्धको कहते हैं कि, पार्ष्णिसे गुदाको भलीप्रकार पीडित करके वायुको बलसे इसप्रकार वारंवार आकर्षण करै जैसे जो सुषुम्नाके ऊपरले भागमें पहुंचजाय यह मूलबन्ध कहाताहै इस श्लोकमें तु यह शब्द पिछले मूलबंधसे विशेष जतानेके लिये है ॥ ६३ ॥

प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम् ॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥६४॥

अथ मूलबंधगुणानाह–प्राणापानाविति ॥ प्राणश्चापानश्च प्राणापानावूर्ध्वाधोगती वायू । नादोऽनाहतध्वनिः बिंदुरनुस्वारस्तौ मूलबंधेनैकतां गत्वैकीभूय योगस्य संसिद्धिः सम्यक् सिद्धिस्तां योगसंसिद्धिं यच्छतो ददतः। अभ्यासिन इति शेषः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न । संदेहो नास्तीत्यर्थः । अयं भावः । मूलबंधे कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविशति । ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति ततो नादेन सह प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिंदुना सहैक्यं बिंदुनाधाय मूर्ध्नि गच्छतः, ततो योगसिद्धिः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ–अब मूलबंधके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, नीचेको है गति जिनकी ऐसे प्राण और अपान दोनों वायु और अनाहत (स्वाभाविक) ध्वनि और बिंदु (अनुस्वार) ये दोनों मूलबन्धसे एकताको प्राप्त होकर योगाभ्यासीको योगकी सिद्धिको भलीप्रकार देते हैं इसमें संशय नहीं है, तात्पर्य यह है कि, मूलबन्धके करनेसे अपान प्राणके संग एकताको प्राप्त होकर सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै फिर नादकी प्रकटता होती है फिर नादके संग प्राण अपान हृदयके ऊपर जाकर और नादके संग बिंदुकी एकताको करके मस्तकमें चले जाते हैं फिर योगसिद्धि होजाती है ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥६५॥

अपानप्राणयोरिति ॥ सततं मूलबंधनान्मूलबंधमुद्राकरणादपानप्राणयोरैक्यं भवति । मूत्रपुरीषयोः संचितयोः क्षयः पतनं भवति । वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि युवा तरुणो भवति ॥ ६५ ॥

भाषार्थ--निरंतर मूलबन्धमुद्राके करनेसे अपान और प्राणकी एकता और देहमें संचित हुये मूत्र और मलका क्षय होताहै तिससे वृद्धभी मनुष्य युवा होजाताहै ॥ ६५ ॥

अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडलम् ॥
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥६६॥

अपान इति । मूलबंधनादपाने अधोगमनशीले वायौ ऊर्ध्वगे ऊर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तस्मिन्नतादृशे सति वह्निमंडलं वह्नेर्मण्डलं त्रिकोणं नाभे-

धोभागेऽस्ति । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—'देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजांबूनदप्रभम् । त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् ॥ मंडलं तु पतंगानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते । तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके ॥' इति । तदा तस्मिन्काले वायुना अपानेनाहता संगता सत्यनलशिखा जठराग्निशिखा दीर्घा आयता जायते । 'वर्धते' इति क्वचित्पाठः ॥ ६६ ॥

भाषार्थ—मूलबन्ध करनेसे अधोगामी अपान जब ऊर्ध्वगामी होकर अग्निमंडलमें पहुँच जाता है अर्थात् नाभिके अधोभागमें वर्तमान त्रिकोण जठराग्निके मंडलमें प्रविष्ट होजाता है उस समय अपानवायुसे ताडित की हुई जो जठराग्निकी शिखा है वह दीर्घ होजाती है अर्थात् बढ जाती है सो याज्ञवल्क्यने कहा है कि, तपाये हुये सुवर्णके समान अग्निका स्थान मनुष्योंके देहके मध्यमें त्रिकोण और पशुओंके देहमें चतुष्कोण है और पक्षियोंके देहमें गोल है यह आपके प्रति मैं सत्य कहता हूँ और अग्निके मध्यमें सदैव सूक्ष्म शिखा टिकती है ॥ ६६ ॥

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ॥
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७ ॥

तत इति ॥ ततस्तदनंतरं वह्निश्चापानश्च वह्न्यपानौ । उष्णं स्वरूपं यस्य स तथा तमनलं शिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपं प्राणमूर्ध्वगतिमनिलं यातो गच्छतः । ततोऽनलशिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपकादिति वा योजना । तेन प्राणसंगमनेन देहे जातो देहजो ज्वलनोऽग्निरत्यंतमधिकं दीप्तो भवति । तथेति पादपूरणे । अपानस्योर्ध्वगमने दीप्त एव ज्वलनः प्राणसंगत्याऽत्यंतं प्रदीप्तो भवतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

भाषार्थ—फिर अग्नि और अपान ये दोनों अग्निकी दीर्घ शिखासे उष्णरूप हुये उर्ध्वगति प्राणमें पहुंच जातेहैं तिस प्राणवायुके समागमसे देहमें उत्पन्नहुई जठराग्नि अत्यंत प्रज्वलित होजाती है अर्थात् अपानकी ऊर्ध्वगतिसे दीहुई अग्नि अत्यंत प्रदीप्त होजाती है ॥ ६७ ॥

तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ॥
दंडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ६८ ॥

तेनेति ॥ तेन ज्वलनस्यात्यंतं प्रदीपनेन संतप्ता-सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निद्रिता कुंडलिनी शक्तिः संप्रबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति ।

दंडेनाहता दंडाहता चासौ भुजंगीव सर्पिणीव निश्वस्य निश्वासं कृत्वा ऋजुतां सरलतां व्रजेद्गच्छेत् ॥ ६८ ॥

भाषार्थ-तिस अग्निके अत्यंत दीपनसे भलीप्रकार तपायमान हुई कुण्डलिनी शक्ति इसप्रकार भलीप्रकारसे प्रबुद्ध होजाती है और कोमल होजाती है जैसे दंडसे हतीहुई सार्पिणी कोमल होजाती है ॥ ६८ ॥

विलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत् ॥
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥६९॥

बिलं प्रविष्टेति ॥ ततो ऋजुताप्राप्त्यनंतरं बिलं विवरं प्रविष्टा भुजंगीव ब्रह्मनाडी सुषुम्ना तस्या अंतरं मध्यं गच्छेत्तस्माद्धेतोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिर्मूलबंधो नित्यं प्रतिदिनं सदा सर्वस्मिन्काले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः ॥ ६९ ॥

भाषार्थ-उसके अनंतर विलमें प्रविष्ट सर्पिणीके समान ब्रह्मनाडी (सुषुम्ना) के मध्यमें कुण्डलिनी प्रविष्ट होजाती है तिससे योगाभ्यासियोंको मूलबंध प्रतिदिन करने योग्य है ॥ ६९ ॥

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ॥
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥

जालंधरबंधमाह-कंठमिति ॥ कंठे गले बिलमाकुंच्य हृदये वक्षःसमीपे चतुरंगुलांतरितप्रदेशे चिबुकं हनुं दृढं स्थिरं स्थापयेत् स्थितं कुर्यात्। अयं कंठाकुंचनपूर्वकं चतुरंगुलांतरितहृदयसमीपेऽधोनमनयत्नपूर्वकं चिबुकस्थापनरूपो जालंधर इत्याख्यायत इति जालंधराख्यो जालंधरनामा बंधः। कीदृशः ? जरा वृद्धावस्था मृत्युर्मरणं तयोर्विनाशको विशेषेण नाशयतीति विनाशको विनाशकर्ता ॥ ७० ॥

भाषार्थ-अब जालंधरबंधको कहते हैं कि, कंठके विलका संकोच करके वक्षःस्थलके समीपरूप हृदयमें चार अंगुलके अंतरपर चिबुक (ठोडी) को दृढरीतिसे स्थापन करै, कंठके आकुंचनपूर्वक चार अंगुलके अन्तरपर हृदयके समीपमें नीचेको नमनपूर्वक चिबुकका स्थापनरूप यह जालंधर नामका बन्ध कहा है और यह बन्ध जरा और मृत्युका विनाशक है ॥ ७० ॥

बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभो जलम् ॥
ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥

जालंधरपदस्यार्थमाह—बध्नातीति ॥ हि यस्माच्छिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति । अधो गंतुं शीलमस्येत्यधोगामी नभसः कपालकुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति । ततस्तमाज्जालंधरो जालंधरनामकोऽन्वर्थो बंधः जालं दशाजालं जलानां समूहो जालं धरतीति जालंधरः । कीदृशः कंठे गलप्रदेशे यो दुःखौघो विकारजातो दुःखसमूहस्तस्य नाशनो नाशकर्ता ॥ ७१ ॥

भाषार्थ—अब जालंधरपदके अर्थको कहते हैं कि, जिससे यह वन्ध शिरा. (नाडी) ओंके समूहरूप जालको बांधता है और कपालके छिद्ररूप नभका जो जल है उसका प्रतिबन्ध करता है तिससे यह जालंधर नामका अन्वर्थ वंध जालंधरवंध; कहाता है क्योंकि जाल नाम समुदाय और जलोंके समूहको कहते हैं और यह जालंधरवंध कंठमें जो दुःखोंका समूह है उसका नाशक है ॥ ७१ ॥

जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ॥
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥

जालंधरगुणानाह—जालंधर इति ॥ कंठस्य गलबिलस्य संकोचनं संकोचं आकुंचनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कंठसंकोचलक्षणः तस्मिन् तादृशे जालंधरे जालंधरसंज्ञके बंधे कृते सति पीयूषममृतमग्नौ जाठरेऽनले न पतति न सरति ॥ वायुश्च प्राणश्च न कुप्यति नाड्यंतरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

भाषार्थ—अब जालंधरवंधके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, कंठका संकोच है स्वरूप जिसका ऐसे जालंधरवंधके करनेपर पूर्वोक्त अमृत जठराग्निमें नहीं पडता है और वायुका भी कोप नहीं होता अर्थात् अन्य नाडियोंमें वायुका गमन नहीं होता है ॥ ७२ ॥

कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ॥
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम् ॥ ७३ ॥

कंठसंकोचनेनेति । दृढं गाढं कंठसंकोचनेनैव कंठसंकोचनमात्रेण द्वे नाड्यौ इडापिंगले स्तंभयेदयं जालंधर इति कर्तृपदाध्याहारः । इदं कंठस्थाने स्थितं विशुद्धाख्यं चक्रं मध्यचक्रं मध्यमं चक्रं ज्ञेयम् । कीदृशं षोडशाधारबंधनं षोडशसंख्याका ये आधारा अंगुष्ठाधारादिब्रह्मरंध्रांतास्तेषां बंधनं बंधनकारकम् । 'अंगुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिंगनाभयः ।

हृद्ग्रीवाकंठदेशश्च लंबिका नासिका तथा॥भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरंध्रकम् । एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः ॥' तेष्वाधारेषु धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धांतादवगंतव्यः ॥ ७३ ॥

भाषार्थ-यह जालंधरबंध दृढतासे कंठके संकोच करनेसेही इडा पिंगलारूप दोनो नाडियोंका स्तंभन करता है और कंठस्थानमें स्थित इन सोलह आधारोंका बंधन करनेवाला मध्य चक्र (विशुद्धनाम) जानना । अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, ऊरु, सीवनी, लिंग, नाभि, हृदय, ग्रीवा, कंठदेश, लंबिका, नासिका, भ्रुकुटियोंका मध्य, मस्तक, मूर्द्धा, ब्रह्मरंध्र योगियोंमें श्रेष्ठोने ये सोलह आधार कहे हैं इन आधारोंमें धारणाका फल विशेष तो गोरक्षसिद्धांत ग्रंथसे जानना ॥ ७३ ॥

मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत् ॥
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥७४॥

उक्तस्य बंधत्रयस्योपयोगमाह-मूलस्थानमिति ॥ मूलस्थानमाधारभूतमाधारस्थानं समाकुंच्य सम्यगाकुंच्य उड्डियानं नाभेः पश्चिमतानरूपं बंधं कारयेत्कुर्यात । णिजर्थोऽविवक्षितः । इडां पिंगलां गंगां यमुनां च बद्ध्वा । जालंधरबंधेनेत्यर्थः । 'कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेत्' इत्युक्तेः । पश्चिमे पथि सुषुम्नामार्गे वाहयेद्गमयेत्प्राणमिति शेषः ॥ ७४ ॥

भाषार्थ-अब पूर्वोक्त तीनों बन्धोंके उपयोगका वर्णन करते हैं कि मूलस्थानको अथ आधारभूत आधारस्थानका भलीप्रकार संकोच करके नाभिके पश्चिमतानरूप उड्डीयान बंधको करै और जालंधरबंधसे अर्थात् कंठके संकोचसेही इडा और पिंगलारूप दोनों नाडियोंको स्तंभन करे फिर प्राणको पश्चिममार्गमें (सुषुम्नामें) प्राप्त करै ॥ ७४ ॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम् ॥
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥

अनेनेति ॥ अनेनैवोक्तेनैव विधानेन पवनः प्राणो लयं स्थैर्यं प्रयाति । गत्यभावपूर्वकं रंध्रे स्थितिः प्राणस्य लयः । ततः प्राणस्य लयान्मृत्युजरारोगादिकम् । तथा चार्थे । न जायते नोद्भवति । आदिपदेन वलीपलिततंद्रालस्यादि ग्राह्यम् ॥ ७५ ॥

भाषार्थ-इस पूर्वोक्त विधानसेही प्राण लय (स्थिरता) को प्राप्त हो जाता है, गमनकी निवृत्ति होनेपर ब्रह्मरंध्रमें स्थितिही प्राणका लय होता है उस प्राणके लयसे मृत्यु, जरा, रोग और आदिपदसे वलीपलित, तंद्रा, आलस्य आदि नहीं होते हैं ॥ ७५ ॥

बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ॥
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥७६॥

बंधत्रयमिति ॥ इदं पूर्वोक्तं बंधत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधारबंधेऽतिप्रशस्तं महासिद्धैर्मत्स्येंद्रादिभिश्चकाराद्वसिष्ठादिमुनिभिःसेवितं सर्वेषां हठतंत्राणां हठोपायानां साधनं सिद्धिजनकं योगिनो गोरक्षाद्या विदुर्जानंति ॥७६॥

भाषार्थ-ये पूर्वोक्त तीनों बन्ध श्रेष्ठ हैं अर्थात् षोडशाधार बन्धमें अत्यंत उत्तम है और मत्स्येंद्र आदि योगिजन और वसिष्ठ आदि मुनियोंके सेवित हैं और सम्पूर्ण जो हठयोगके उपाय हे उनका साधन है यह बात गोरक्ष आदि योगीजन जानतेहैं ॥ ७६ ॥

यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ॥
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥ ७७ ॥

विपरीतकरणीं विवक्षुस्तदुपोद्धातत्वेन पिंडस्य जराकरणं तावदाह-यत्किंचिदिति॥ दिव्यमुत्कृष्टं सुधामयं रूपं यस्य स तथा तस्माद्दिव्यरूपिणश्चंद्रात्सोमात्तालुमूलस्थाद्यत्किंचिद्यत्किमप्यमृतं पीयूषं स्रवते पतति तत्सर्वं सर्वं तत्पीयूषं सूर्यो नाभिस्थोऽनलात्मकः ग्रसते ग्रासीकरोति । तदुक्तं गोरक्षनाथेन-'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः । अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चंद्रमाः॥वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः॥ करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते॥' इति । तेन सूर्यकर्तृकामृतग्रसनेन पिंडो देहो जरायुतः जरसा युक्तो भवति ॥ ७७ ॥

भाषार्थ-अब विपरीत करणीके कथनका अभिलाषी आचार्य प्रथम उसके उपोद्धातरूप होनेसे पिंडके जराकरणका वर्णन करतेहैं कि, दिव्य (सर्वोत्तम) सुधामय है रूप जिसमें ऐसे तालुके मूलमें स्थित चंद्रमासे जो कुछ अमृत झरताहै उस सम्पूर्ण अमृतको नाभिमें स्थित अग्निरूप सूर्य ग्रस लेताहै सोई गोरक्षनाथने कहाहै कि, नाभिके देशमें अग्निरूप सूर्य स्थित है और तालुके मूलमें अमृतरूप चंद्रमा स्थित है अधोमुख होकर चन्द्रमा जिस अमृतको वर्षताहै और ऊर्ध्वमुख होकर सूर्य उस अमृतको ग्रस लेताहै उसमें वह करण (मुद्रा) करना चाहिये जिससे अमृतकी नष्टता न हो अर्थात् पुष्टि रहै फिर सूर्यके किये उस अमृतके ग्रसनेसे पिंड (देह) वृद्ध अवस्थासे युक्त होजाता है ॥ ७७ ॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम् ॥
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८ ॥

तत्रेति॥तत्र तद्विषये सूर्यस्य नाभिस्थानलस्य मुखं वंच्यतेऽनेनेति तादृशं दिव्यमुत्तमं करणं वक्ष्यमाणमुद्राख्यमस्ति तद्गुरूपदेशतःगुरूपदेशाज्ज्ञेयं ज्ञातुं शक्यम् । शास्त्रार्थानां कोटिभिः न तु नैव ज्ञातुं शक्यम् ॥ ७८ ॥

भाषार्थ-उस अमृतकी रक्षा करनेमें जिसे सूर्यके मुखकी वंचना होय ऐसा आगे कहनेयोग्य मुद्रारूप करण है और वह करण गुरुके उपदेशसे जानने योग्य है और कोटियो शास्त्रोंके अर्थसे जाननेको शक्य नहीं है ॥ ७८ ॥

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ॥
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७९ ॥

विपरीतकरणीमाह-ऊर्ध्वं नाभेरिति ॥ ऊर्ध्वमुपरिभागे नाभिर्यस्य स ऊर्ध्वनाभिस्तस्योर्ध्वनाभेरधःअधोभागे तालु तालुस्थानं यस्य सोऽधस्तालुस्तस्याधस्तालोर्योगिन ऊर्ध्वमुपरिभागे भानुर्दहनात्मकः सूर्यो भवति । अधः अधोभागे शश्यमृतात्मा चंद्रो भवति । प्रथमांतपाठे तु यदा ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुर्योगी भवति तदोर्ध्वं भानुरधःशशी भवति । यदातदापदयोरध्याहारेणान्वयःइयं विपरीताख्या विपरीतनामिका करणी। ऊर्ध्वाधः स्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणेनान्वर्थागुरुवाक्येन गुरोर्वाक्येनैवलभ्यते प्राप्यते नान्यथा ॥ ७९ ॥

भाषार्थ-अब विपरीतकरणीमुद्राके स्वरूपका वर्णन करतेहैं कि ऊपरके भागमें है नाभि जिसके और अधोभागमें है तालु जिसके ऐसा जो योगी उसके ऊपरके भागमें तो अग्निरूप सूर्य होजाय और अधोभागमें अमृतरूप चंद्रमा हो जाय और जब 'ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुः' यह प्रथमांत पाठ है तब यदा तदा पदोंके अध्याहारसे इसप्रकार अन्वय करना कि, जब ऊपरके भागमें नाभि और नीचेके भागमें तालु जिसके ऐसा योगी होजाय तब ऊपर सूर्य और नीचे चंद्रमा होजाते हैं यह विपरीत (उलटी) नामकी करणी ऊपर और नीचे स्थित जो चंद्रमा सूर्य हैं उनके नीचे ऊपर क्रमसे करनेसे अन्वर्थ है अर्थात् विपरीतकरणीका अर्थ तभी घटसकताहै जब पूर्वोक्त मुद्रा कीजाय और यह विपरीतकरणी गुरुके वाक्यसे मिल सकीहै अन्यथा नहीं ॥ ७९ ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ॥
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥८०॥

नित्यमिति ॥ नित्यं प्रतिदिनमभ्यासोऽभ्यसनं तस्मिन् युक्तस्यावहितस्य जठराग्निरुदराग्निस्तस्य विवर्धिनी विशेषेण वर्धनीति विपरीतकरणीविशेषणम् ॥ तस्य साधकस्य विपरीतकरण्यभ्यासिन आहारो भोजनंबहुलो यथेच्छः संपाद्यः संपादनीयः । च पादपूरणे ॥ ८० ॥

भाषार्थ–प्रतिदिनके अभ्याससें युक्त जो योगी है उसकी जठराग्निको यह विपरीतकरणी वढाती है और इसीसे उस विपरीतकरणीके अभ्यासी योगीको यथेच्छ अधिक भोजन संपादन करनेयोग्य है अर्थात् अल्पभोजन न करै ॥ ८० ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ॥
अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥८१॥

अल्पाहार इति ॥ यद्यल्पाहारः अल्पो भोक्तुमिष्टान्नस्याहारो भोजनं यस्य तादृशो भवेत्स्यात्तदाऽग्निर्जठरानलो देहं क्षणमात्राद्दहेत् । शीघ्रं दहेदित्यर्थः । ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणक्रियामाह–अधःशिरा इति । अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिरा कराभ्यां कटिप्रदेशमवलंब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यंताभ्यां बाहुभ्यां स्कंधाभ्यां गलपृष्ठभागशिरःपृष्ठभागाभ्यां च भूमिमवष्टभ्याधः शिरा भवेत् । ऊर्ध्वमुपर्यंतरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपादः प्रथमदिने आरंभदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् ॥ ८१ ॥

भाषार्थ–क्योंकि, यदि विपरीतकरणीका अभ्यासी योगी अल्पाहारी हो अर्थात् अल्पभोजन कियाजाता है तो जठराग्नि उसी क्षणमात्रमें देहको भस्म करदेती है। अब ऊपर नीचे स्थित चन्द्रमा सूर्यके नीचे ऊपर करनेकी क्रियाको कहते हैं कि, प्रथम दिनमें क्षणभर नीचेको शिर करै अर्थात् भुजा दोनों स्कंध गल और शिर पृष्ठभाग (पीठ) से भूमिका स्पर्श करके नीचे शिर किये स्थित हो और ऊपरको पाद करै अर्थात् प्रारम्भके दिन क्षणमात्र इसप्रकार स्थित रहे ॥ ८१ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥८२॥

क्षणादिति ॥ दिनेदिने प्रतिदिनं क्षणात्किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणम्

एकदिनवृद्ध्याऽभ्यसेदभ्यासं कुर्यात ॥ विपरीतकरणीगुणानाह वलितमिति ॥ वलितं चर्मसंकोचः पलितं केशेषु शौक्ल्यं च, षण्णां मासानां समाहारः षण्मासं तस्मादूर्ध्वमुपरि नैव दृश्यते नैवावलोक्यते। साधकस्य देह इति वाक्याध्याहारः। यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत्। एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबंधकत्वमपि सूचितम्। तदुक्तं विष्णुधर्मे–'स्वदेहारंभकस्यापि कर्मणः संक्षयावहः। यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षणम्' ॥ इति। विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्तावुक्तम्–"यथा प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलः। अत एव योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यत" इति। भागवतेऽप्युक्तम्–'देहं जह्यात्समाधिना' इति ॥ ८२ ॥

भाषार्थ–फिर प्रतिदिन क्षणसे कुछ२ अभ्यास अधिक करै अर्थात् दो क्षण, तीन क्षण, काल एक २ दिनकी वृद्धिसे अभ्यासको बढाता रहै. अब विपरीतकरणीके गुणोंको कहते है कि, पूर्वोक्त प्रकारके करनेमें वलीपलित छः मासके अनंतर नहीं दीखते हैं अर्थात् यौवन अवस्था होजाती है और जो साधक प्रतिदिन प्रहरमात्र अभ्यास करता है वह मृत्युको जीतता है. इससे यह भी सूचित किया कि, योग प्रारब्धकर्मकाभी प्रतिबन्धक है सोई विष्णुधर्ममें कहा है कि, अपने देहके आरंभककर्मकाभी नाशक जो योग है हे पृथ्वीपाल! उस योगको तू सुन और विद्यारण्यने जीवन्मुक्तिग्रंथमें यह कहा है कि, तत्त्वज्ञानसे प्रारब्धकर्म जैसे प्रबल हैं ऐसेही प्रारब्धकर्मसे योगाभ्यास प्रबल हैं इसीसे उद्दालक, वीतहव्य आदि योगियोंने अपनी इच्छासे देहका त्याग किया. भागवतमेंभी लिखा है कि, समाधिसे देहको त्यागै ।। ८२ ।।

अथ वज्रोलि।

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ॥
वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ८३ ॥

वज्रोल्यां प्रवृत्तिं जनयितुमादौ तत्फलमाह–स्वेच्छयेति ॥ योऽभ्यासी वज्रोलीं वज्रोलीमुद्रां विजानाति विशेषेण स्वानुभवेन जानाति स योगी योगे योगशास्त्रे उक्ता योगोक्तास्तैर्योगोक्तैर्नियमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्विना ऋते स्वेच्छया निजेच्छया वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि सिद्धिभाजनं सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति ॥ ८३ ॥

भाषार्थ-वज्रोलीमुद्राकी प्रवृत्तिको उत्पन्न करनेके लिये प्रथम वज्रोलीके फलका वर्णन करते हैं कि, जो योगाभ्यासी वज्रोलीमुद्राको अपने अनुभवसे जानता है वह योगी योगशास्त्रमें कहेहुये नियमोंके विना अपनी इच्छाके अनुसार व्यवहार करताहुआभी अणिमा आदि सिद्धियोंका भोक्ता है अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि नियमोंके विनाभी उसको सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ८३ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ॥
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

तत्साधनोपयोगि वस्तुद्वयमाह-तत्रेति ॥ तत्र वज्रोल्यभ्यासे वस्तुनोर्द्वयं वस्तुद्वयं वक्ष्ये कथयिष्ये। कीदृशं वस्तुद्वयं यस्यकस्यचित् यस्यकस्यापि धनहीनस्य दुर्लभं दुःखेन लब्धुं शक्यं दुःखेनापि लब्धुमशक्यमिति वा। 'दुःस्यात्कष्टनिषेधयोः' इति कोशात् ॥ किं तद्वस्तुद्वयमित्यपेक्षायामाह क्षीरमिति। एकं वस्तु क्षीरं पानार्थं मेहनानंतरमिंद्रियनैर्बल्यात्तद्बलार्थं क्षीरपानं युक्तम्। केचित्तु अभ्यासकाले आकर्षणार्थमित्याहुः। तस्यांतर्गतस्य घनीभावे निर्गमनासंभवात्तदयुक्तम्। द्वितीयं तु वस्तु वशवर्तिनी स्वाधीना नारी वनिता ॥ ८४ ॥

भाषार्थ-अब वज्रोलीमुद्राके साधक दो वस्तुओंका वर्णन करते हैं कि, उस वज्रोलीकी सिद्धिमें जिसकिसी निर्धन पुरुषको दुर्लभ जो दो वस्तु हैं उनको मैं कहता हूँ उन दोनोंमें एक दूध है और दूसरी वशवर्तिनी नारी है अर्थात् मैथुनके अनंतर निर्बल हुई इंद्रियोंकी प्रबलताके लिये दूधका पान योग्य है और कोई यह कहते हैं कि, अभ्यासकालमें आकर्षणके लिये दूधका पान उत्तम है सो ठीक नहीं, क्योंकि अंतर्गत हुए दूधका आकर्षण नहीं हो सकता है ॥ ८४ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ॥
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८५ ॥

वज्रोलीमुद्राप्रकारमाह-मेहनेनेति ॥ मेहनेन स्त्रीसंगानंतरं बिंदोः क्षरणेन साधनभूतेन पुरुषः पुमानथवा नार्यपि योषिदपि शनैर्मंदं सम्यक् यत्नपूर्वकमूर्ध्वाकुंचनमूर्ध्वमुपर्याकुंचनं मेढ्राकुंचनेन बिंदोरुपर्याकर्षणमभ्यसेद्वज्रोलीमुद्रासिद्धिमाप्नुयात्सिद्धिं गच्छेत् ॥ ८५ ॥

भाषार्थ-अब वज्रोलीमुद्राके प्रकारका वर्णन करते हैं कि, पुरुष अथवा स्त्री मेहन (बिंदुका झरना) से शनैः २ भलीप्रकार यत्नसे ऊपरको आकुंचन (संकोच) का अभ्यास

करे अर्थात् लिंग इंद्रियके आकुंचनसे विंदुके ऊपर खींचनेका अभ्यास करे तो वज्रोलीमुद्रा सिद्धिको प्राप्त होती है ॥ ८५ ॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ॥
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

अथ वज्रोल्याः पूर्वांगप्रक्रियामाह—यत्नत इति ॥ शस्तः प्रशस्तो यो नालस्तेन शस्तनालेन सीसकादिनिर्मितेन नालेन शनैः शनैर्मंदमंदं यथाग्रेर्धमनार्थं फूत्कारः क्रियते तादृशं फूत्कारं वज्रकंदरे मेढ्रविवरे वायोः संचारः सम्यग्वज्रकंदरे चरणं गमनं तत्कारणात्तद्धेतोः प्रकुर्वीत प्रकर्षेण पुन पुनः कुर्वीत ॥ अथ वज्रोलीसाधनप्रक्रिया । सीसकनिर्मितां स्निग्धां मेढ्रप्रवेशयोग्यां चतुर्दशांगुलमात्रां शलाकां कारयित्वा मेढ्रे प्रवेशनमभ्यसेत् । प्रथमदिने एकांगुलमात्रां शलाकां प्रवेशयेत् । द्वितीयदिने द्व्यंगुलमात्रां तृतीयदिने त्र्यंगुलमात्राम् । एवं क्रमेण वृद्धौ द्वादशांगुलमात्रप्रवेश मेढ्रमार्गः शुद्धो भवति । पुनस्तादृशीं चतुर्दशांगुलमात्रां द्व्यंगुलमात्रवक्रामूर्ध्वमुखां कारयित्वा तां द्वादशांगुलमात्रां प्रवेशयेत् । वक्रमूर्ध्वमुखं द्व्यंगुलमात्रं बहिःस्थापयेत् । ततः सुवर्णकारस्य अग्निधमनसाधनभूतनालसदृशं नालं गृहीत्वा तदग्रं मेढ्रप्रवेशितद्वादशांगुलस्य नालस्य वक्रोर्ध्वमुखद्व्यंगुलमध्ये प्रवेश्य फूत्कारं कुर्यात् । तेन सम्यक् मार्गशुद्धिर्भवति । ततो जलस्य मेढ्रेणाकर्षणमभ्यसेत जलाकर्षणे सिद्धे पूर्वोक्तश्लोकरीत्या बिंदोरूर्ध्वाकर्षणमभ्यसेत् । बिंद्वाकर्षणे सिद्धे वज्रोलीमुद्रासिद्धिः इयं जितप्राणस्यैव सिध्यति नान्यस्य खेचरीमुद्राप्राणजयोभयसिद्धौ तु सम्यक् भवति ॥ ८६ ॥

भाषार्थ–अब वज्रोली मुद्राकी पूर्वाङ्ग क्रियाका वर्णन करतेहैं कि, सीसे आदिकी उत्तमनालीसे शनैः २ इसप्रकार लिंगके छिद्रमें वायुके संचार (भलीप्रकार प्रवेश) के लिये यत्नसे फूत्कारको करै. जैसे अग्निके प्रज्वलनार्थ फूत्कारको करते हैं । अब वज्रोलीकी साधनप्रक्रियाको कहते हैं कि, सीसेसे बनीहुई लिंगके प्रवेशके योग्य चौदह अंगुलकी शलाई बनवाकर उसके लिंगमें प्रवेशका अभ्यास करै । पहिले दिन एक अंगुलमात्र प्रवेश करै दूसरे दिन दो अंगुल मात्र और तीसरे दिन तीन अंगुलमात्र प्रवेश करै इसप्रकार क्रमसे वृद्धि करनेपर बारह अंगुल शलाकाके प्रवेश होनेके अनंतर लिंगका मार्ग शुद्ध होजाताहै फिर उसीप्रकारकी और चौदह अंगुलकी ऐसी शलाई बनवावे जो दो अंगुल टेढी हो और ऊर्ध्वमुखी हो उसकोभी बारह अंगुल भर लिंगके

छिद्रमें प्रवेश करै, टेढा और ऊर्ध्वमुख जो दो अंगुल मात्र है उसको बाहर रक्खे फिर सुनारके अग्निधमनेके नालकी सदृश नालको लेकर उस नालके अग्रभागको लिंगमें प्रवेश किये बारह अंगुलके नालका टेढा और ऊर्ध्वमुख दो अंगुल है उसके मध्यमें प्रवेश करके फूत्कार करै तिससे भलीप्रकार लिंगके मार्गकी शुद्धि होतीहै फिर लिंगसे जलके आकर्षणका अभ्यास करै जलके आकर्षणकी सिद्धि होनेपर पूर्वोक्तश्लोकमें कही हुई रीतिके अनुसार विंदुके ऊपरको आकर्षणका अभ्यास करै विंदुके ऊर्ध्व आकर्षणकी सिद्धि होनेपर वज्रोलीमुद्राकी सिद्धि होतीहै यह मुद्रा उस योगीको ही सिद्ध होतीहै जिसने प्राणवायुको जीत लियाहै अन्यको नहीं होती है और खेचरीमुद्रा और प्राणका जय होनेपर तो भलीप्रकार सिद्ध होतीहै । भावार्थ यह है कि, लिंगके छिद्रमें वायुके संचार करनेके लिये उक्तनालसे शनैः २ यत्नपूर्वक फूत्कारको करै ॥ ८६ ॥

नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ॥
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

एवं वज्रोल्यभ्यासे सिद्धे तदुत्तरं साधनमाह—नारीभग इति॥नारीभगे स्त्रीयोनौ पततीति पतन् पतंश्चासौ बिंदुश्च पतद्बिंदुस्तं पतद्बिंदुं रतिकाले पतंतं बिंदुमभ्यासेन वज्रोलीमुद्राभ्यासेनोर्ध्वमुपर्याहरेदाकर्षयेत् । पतनात्पूर्वमेव । यदि पतनात्पूर्वं बिंदोराकर्षणं न स्यात्तर्हि पतितमाकर्षयेदित्याहचलितं चेति । चलितं नारीभगे पतितं निजं स्वकीयं बिंदुं चकारात्तद्रजः ऊर्ध्वमुपर्याकृष्याहृत्य रक्षयेत् स्थापयेत् ॥ ८७ ॥

भाषार्थ—अब वज्रोलीमुद्राकी सिद्धिके अनंतरका जो साधन है उसका वर्णन करते हैं कि, नारीके भग (योनि) में पडते हुये विंदु (वीर्य) का अभ्याससे ऊपरको आकर्षण करै अर्थात् पडनेसे पूर्वही ऊपरको खींचले यदि पतनसे पूर्व विंदुका आकर्षण न हो सके तो पतितहुये विंदुका आकर्षण करै कि चलितहुआ अपना विंदु और चकारसे स्त्रीका रज इनकी ऊपरको आकर्षण करके रक्षा करै अर्थात् मस्तकरूप जो वीर्यका स्थान है उसमें स्थापन करे ॥ ८७ ॥

एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ॥
मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणात् ॥८८॥

वज्रोलीगुणानाह—एवमिति ॥ एवमुक्तरीत्या बिंदुं यः संरक्षयेत् सम्यक् रक्षयेत् स योगविद्योगाभिज्ञो मृत्युं जयत्यभिभवति। यतो बिंदोः

शुक्रस्य पातेन पतनेन मरणं भवति । बिंदोर्धारणं बिंदुधारणं तस्माद्बिंदुधारणाज्जीवनं भवति । तस्माद्बिंदुं संरक्षयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

भाषार्थ—अब वज्रोलीके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, इसप्रकार जो योगी बिंदुकी भलीप्रकार रक्षा करताहै योगका ज्ञाता वह योगी मृत्युको जीतताहै क्योंकि, बिंदुके पडनेसे मरण और बिंदुकी रक्षासे जीवन होताहै तिससे बिंदुकी रक्षा करै ॥ ८८ ॥

सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् ॥
यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥८९॥

सुगंध इति ॥ योगिनो वज्रोल्यभ्यासिनो देहे बिंदोः शुक्रस्य धारणं तस्मात्सुगंधः शोभनो गंधो जायते प्रादुर्भवति । देहे यावद्बिंदुः स्थिरस्तावत्कालभयं मृत्युभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

भाषार्थ—वज्रोलीके अभ्यासकर्ता योगीके देहमें बिंदुके धारण करनेसे सुगंध होजाती है और देहमें जबतक बिंदु स्थिर है तबतक कालका भय कहां अर्थात् कालका भय नहीं रहताहै ॥ ८९ ॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ॥
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥

चित्तायत्तमिति ॥ हि यस्मान्नृणां शुक्रं वीर्यं चित्तायत्तं चित्ते चले चलत्वाच्चित्ते स्थिरे स्थिरत्वाच्चित्ताधीनं जीवितं जीवनं शुक्रायत्तं शुक्रे स्थिरे जीवनाच्छुक्रे नष्टे मरणं शुक्राधीनं तस्माच्छुक्रं बिंदुं मनश्च मानसं च प्रकृष्टाद्यत्नादिति प्रयत्नतः रक्षणीयमेव । अवश्यं रक्षणीयमित्यर्थः । एवशब्दो भिन्नक्रमः ॥ ९० ॥

भाषार्थ—जिससे मनुष्योंका शुक्र (वीर्य) चित्तके आधीन है अर्थात् चित्तके चलायमान होनेपर चलायमान और चित्तके स्थिर होनेपर स्थिर होजाताहै इससे चित्तके वशीभूत है और मनुष्योंका जीवन शुक्रके आधीन है अर्थात् शुक्रकी स्थिरतासे जीवन और शुक्रकी नष्टतासे मरण होताहै इससे जीवन शुक्रके आधीन है तिससे शुक्र (बिंदु) और मनकी भली प्रकार यत्नसे रक्षा करै ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिंदु च रक्षयेत् ॥
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९१ ॥

ऋतुमत्या इति । एवं पूर्वोक्तेनाभ्यासेन ऋतुर्विद्यते यस्याः सा ऋतुमती

तस्या ऋतुमत्या ऋतुस्नातायाः स्त्रियो रेतः निजं स्वकीयं विंदुं च रक्षयेत् । पूर्वोक्ताभ्यासं दर्शयति मेढ्रेणेति । अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगो योगसाधनत्वात्तं वेत्तीत्यभ्यासयोगवित् मेढ्रेण गुह्येंद्रियेण सम्यग्यत्नपूर्वकमुर्ध्वमुपर्याकर्षयेत् रजो विंदुं चेति कर्माध्याहारः । अयं श्लोकः क्षिप्तः ॥ ९१ ॥

भाषार्थ-ऋतु हुआ है जिसके ऐसी स्त्रीके रज (वीर्य) की और अपने विंदुकीभी इसी। पूर्वोक्त अभ्याससे रक्षा करै अर्थात् ऋतुस्नानके अनंतर रज और वीर्य दोनोकी रक्षा करे पूर्वोक्त अभ्यासकोही दिखाते हैं कि, वज्रोलीके अभ्यासरूप योगका ज्ञाता योगी लिंग इंद्रियसे रज और बिंदुका भलीप्रकार ऊपरको आकर्षण करै (खींचे) यह श्लोक क्षेपक है अर्थात् मूलका नहीं है ॥ ९१ ॥

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ॥
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२ ॥

सहजोल्यमरोल्यौ विवक्षुस्तयोर्वज्रोलीविशेषत्वमाह-सहजोलिश्चेति । वज्रोल्या भेदो विशेषः सहजोलिरमरोलिश्च । तत्र हेतुः-एकतः एकत्वादेकफलत्वादित्यर्थः । एकशब्दाद्भावप्रधानात्पंचम्यास्तसिः । सहजोलिमाह जल इति । गोः पुरीषाणि गोमयानि दग्धानि च तानि गोमयानि च दग्धगोमयानि तेषु संभव उत्पत्तिर्यस्य तद्दग्धगोमयसंभवं शोभनं भस्म विभूतिः तत् जले तोये निक्षिप्य तोयमिश्रं कृत्वेत्युत्तरश्लोकेनान्वेति ॥ ९२ ॥

भाषार्थ-अब सहजोली और अमरोलीके मुद्राओंका वर्णन करते हैं कि, वज्रोलीमुद्राके भेदविशेषही सहजोली और अमरोली हैं, क्योंकि तीनोंका फल एक है उन दोनोंमें सहजोलीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, दग्ध किये हुये गोमयोंका जो सुंदर भस्म है उसको जलमें डालकर अर्थात् जलमिश्रित उस भस्मको करै ॥ ९२ ॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनम् ॥
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ ९३ ॥

वज्रोलीति ॥ वज्रोलीमुद्रार्थं मैथुनं तस्मादूर्ध्वमनंतरं सुखेनैवानंदेनैवासीनयोरुपविष्टयोः क्षणाद्रत्युत्सवान्मुक्तस्त्यक्तो व्यापारो रतिक्रिया याभ्यां तौ मुक्तव्यापारौ तयोर्मुक्तव्यापारयोः स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ तयोः स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं शोभनान्यंगानि स्वांगानि मूर्धललाटनेत्रहृदयस्कंधभुजादीनि तेषु लेपनम् ॥ ९३ ॥

भाषार्थ-वज्रोलीमुद्राकी सिद्धिके लिये किये हुए मैथुनके अनंतर आनंदसे बैठेहुये और उत्साहसे त्याग दिया है रतिका व्यापार जिन्होंने ऐसे स्त्री और पुरुष दोनों पूर्वोक्त भस्मको अपने मस्तक, शिर, नेत्र, हृदय, स्कंध, भुजा आदि अंगोंपर लेपन करे ॥ ९३ ॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ॥
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥९४॥

सहजोलिरिति ॥ इयमुक्ता क्रिया सहजोलिरिति प्रोक्ता कथिता योगिभिर्मत्स्येंद्रादिभिः । कीदृशी सदा श्रद्धेया सर्वदा श्रद्धातुं योग्या। अयं सहजोल्याख्या योग उपायः शुभकरः शुभं श्रेयः करोतीति शुभकरः । 'योग संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इत्यभिधानात् । कीदृशो योगः भोगेन युक्तोऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ९४ ॥

भाषार्थ-वह पूर्वोक्त भस्मलेपनरूप क्रिया मत्स्येंद्र आदि योगीजनोंने सहजोलिमुद्रा कहा है और यह योगीजनोंको सदैव श्रद्धा करनें योग्य है, यह सहजोलि नामका योग (उपाय) शुभकारी जानना और भोगसे युक्त भी यह योग मोक्षका दाता है ॥ ९४ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ॥
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥९५॥

अयं योग इति ॥ अयमुक्तो योगः पुण्यं विद्यते येषां ते पुण्यवंतः सुकृतिनस्तेषां पुण्यवतां धीराणां धैर्यवतां तत्त्वं वास्तविकं पश्यंतीति तत्त्वदर्शिनस्तेषां तत्त्वदर्शिनां मत्सरान्निष्क्रान्ता निर्मत्सरास्तेषां निर्मत्सराणामन्यगुणद्वेषरहितानाम् । 'मत्सरोन्यगुणद्वेषः' इत्यमरः । तादृशानां पुंसांसिध्येत सिद्धिं गच्छेत् । मत्सरशालिनां मत्सरवतां तु न सिध्येत् ॥ ९५ ॥

भाषार्थ-और यह सहजोलिरूप योग पुण्यवान् और धीर और तत्त्व (ब्रह्म) के जो द्रष्टा हैं और अन्यके गुणोंमें द्वेषरहित (निर्मत्सर) है ऐसे पुरुषोंकोही सिद्ध होता है और जो मत्सरी हैं अन्यके गुणोंमें द्वेष (वैर) के कर्ता हैं उनको सिद्ध नहीं होता है ॥ ९५ ॥

पित्तोल्वणत्वात्प्रथमांबुधारां विहाय निःसारतयांत्यधारा ॥ निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽमरोली ॥ ९६ ॥

अथामरोली ।

अमरोलीमाह-पित्तोल्वणत्वादिति ॥ पित्तेनोल्वणात्कटा पित्तोल्वण

तस्या भावःपित्तोल्वणत्वं तस्मात् । यथा प्रथमा पूर्वा याऽम्बुनःशिवांबुनो धारा तां विहाय शिवांबुनिर्गमनसमये किंचित्पूर्वां धारां त्यक्त्वा निर्गतः सारो यस्याःसा निःसारा तस्या भावो निःसारता तया निःसारतया निः-सारत्वेनांत्यधारा अन्त्या चरमा या धारा तां विहाय किंचिदंत्यां धारां त्यक्त्वा । शीतला पित्तादिदोषसारत्वरहिता या मध्यधारा मध्यमा धारा सा निषेव्यते नितरां सेव्यते । खंडो योगविशेषो मतोऽभिमतो यस्य स खंडमतस्तस्मिन् खंडमते कापालिकस्यायं कापालिकस्तस्मिन् कापा-लिके खण्डकापालिकसंप्रदाय इत्यर्थः। अमरोली प्रसिद्धेति शेषः ॥९६॥

भावार्थ-अब अमरोलीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, पित्त है उल्वण (अधिक) जिसमें ऐसी जो प्रथम शिवांबु (विंदु) की धारा है उसको और नहीं है सार अंश जिसमें ऐसी जो अन्त्यधारा है उसको छोडकर अर्थात् पहली और पिछली धारोंको किंचित् २ त्याग-कर पित्त आदि दोष और सारतासे रहित शीतल मध्य धाराका जिस रीतिसे नित्य सेवन (पान) कियाजाय वह क्रिया योगविशेष जो खंड उसके माननेवाले कापालिक मतमें अर्थात् खंडकापालिक मतमें अमरोली नामकी मुद्रा प्रसिद्ध है ॥ ९६ ॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिनेदिने ॥
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ ९७ ॥

अमरीमिति॥अमरीं शिवांबु यः पुमान् नित्यं पिबेत् । नस्यं कुर्वन् श्वासेनामर्या घ्राणांतर्ग्रहणं कुर्वन् सन् दिनेदिने प्रतिदिनं वज्रोलीं 'मेहनेन शनैः'इति श्लोकेनोक्तां सम्यगभ्यसेत्सोऽमरोलीतिकथ्यते।कापालिकैरिति शेषः।अमरीपानामरी।नस्यपूर्विका वज्रोल्यमरोलीशब्देनोच्यत इत्यर्थः९७

भावार्थ-जो पुरुष शिवांबुरूप अमरीको नासिकासे नित्य पीता है अर्थात् नासिकाके छिद्रद्वारा अमरीको अंतर्गत करता है और मैथुनसे प्रतिदिन वज्रोलीका भलीप्रकार अभ्यास करता है उस मुद्राको कापालिक अमरोली कहते हैं अर्थात् नासिकाके छिद्रसे पान की अमरी वज्रोलीके अनंतर अमरोली कहाती है ॥ ९७ ॥

अभ्यासान्निःसृतां चांद्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ॥
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९८ ॥

अभ्यासादिति ॥ अभ्यासादमरोल्यभ्यासान्निःसृतां निर्गतां चांद्रीं चंद्रस्येयं चांद्री तां चांद्रीं सुधां विभूत्या भस्मना सह साकं मिश्रयेत्संयो जयेत् । उत्तमांगेषु शिरःकपालनेत्रस्कंधकण्ठहृदयभुजादिषु धारयेत् ।

भस्मामिश्रितां चांद्रीमिति शेषः । दिव्या अतीतानागतवर्तमानव्यवहित-विप्रकृष्टपदार्थदर्शनयोग्या दृष्टिर्यस्य स दिव्यदृष्टिर्दिव्यदृक् प्रजायते प्रकर्षेण जायते अमरीसेवनप्रकारविशेषाः शिवांबुकल्पादवगंतव्याः ॥९८॥

भाषार्थ—अमरोलीमुद्राके अभ्याससे निकसी जो चंद्रमाकी सुधा (अमृत) है उसको विभुति (भस्म) के संग मिलाकर शिर, कपाल, नेत्र, स्कंध, कंठ, हृदय, भुजा आदि उत्तम अंगोमें धारण करै तो मनुष्य दिव्यदृष्टि होजाता है अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान, व्यवहित और विप्रकृष्ट (दूर) के जो पदार्थ उनके देखनेयोग्य दृष्टि होजाती है और अमरीसेवनके विशेष भेद तो शिवांबुकल्पग्रंथसे जानने ॥ ९८ ॥

पुंसो बिंदु समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात् ॥
यदि नारी-रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥९०॥

पुंसो वज्रोलीसाधनमुक्त्वा नार्यास्तदाह—पुंसो बिंदुमिति॥सम्यगभ्यासस्य सम्यगभ्यसनस्य पाटवं पटुत्वं तस्मात्पुंसः पुरुषस्य बिंदुं वीर्यं समाकुंच्य सम्यगाकृष्य नारी स्त्री यदि रजो वज्रोल्या वज्रोलीमुद्रया रक्षेत् सापि नारी योगिनी प्रशस्तयोगवती ज्ञेया 'पुंसो बिंदुसमायुक्तम्' इति पाठे तु एतद्रजसो विशेषणम् ॥ ९९ ॥

भाषार्थ—पुरुषको वज्रोलीके साधनको कहकर नारीकी वज्रोलीके साधनको वर्णन करते हैं कि, भलीप्रकारसे कियेहुये अभ्यासकी चतुरतासे पुरुषके बिंदुका भलीप्रकार आकर्षण करके यदि नारी वज्रोलीमुद्रासे अपने रजकी रक्षा करै तो वह भी योगिनी जाननी (पुंसो बिंदुसमायुक्तं) यह पाठ होय तो यह अर्थ समझना कि, पुरुषके बिंदुसे युक्त अपने रजकी रक्षा करै तो वह नारी योगिनी होती है ॥ ९९ ॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ॥
तस्या शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति ॥ १०० ॥

नारिकृताया वज्रोल्याः फलमाह—तस्या इति ॥तस्या वज्रोल्यभ्यसनशीलाया नार्या रजः किंचित् किमपि स्वल्पमपि नाशं न गच्छति नष्टं न भवति पतनं न प्राप्नोतीत्यर्थः। अत्र संशयो न संदेहो न । तस्या नार्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति मूलाधारादुत्थितो नादो हृदयोपरि बिंदुभावं गच्छति । बिंदुना सहैकीभवतीत्यर्थः । अमृतसिद्धौ—'बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम् ।' अनयोर्बाह्ययोगेन सृष्टिः संजायते नृणाम् ॥यदाभ्यंतरयोगः स्याच्चदा योगीति गीयते । बिंदुश्चंद्रमयः प्रोक्तो

रजः सूर्यमयं तथा ॥ अनयोः संगमादेव जायते परमं पदम् । स्वर्गदो मोक्षदो बिंदुर्धर्मदोऽधर्मदस्तथा ॥ तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठंते सूक्ष्मरूपतः ' इति ॥ १०० ॥

भाषार्थ–अब नारीकी कीहुई वज्रोलीके फलको कहते हैं कि, वज्रोलीके अभ्यास करनेमें शीलवती उस नारीका किंचित् भी रज नष्ट नहीं होता है अर्थात् अपने स्थानसे पतित नहीं होता इसमें संशय नहीं है और उस नारीके शरीरमें नादभी बिंदुरूपको प्राप्त होजाता है अर्थात् मूलाधारसे उठाहुआ नाद हृदयके ऊपर बिंदुके संग एक होजाता है अमृतसिद्धिग्रंथमें लिखा है कि पुरुषके वीर्यको बीज और नारीके वीर्यको रज कहते हैं इन दोनोंका देहसे बाहर योग होनेसे मनुष्योंके संतान होती है यदि दोनोंका भीतरही योग होजाय तो वह योगी कहा जाता है उन दोनोंमें बिंदु चंद्रमय है और रज सूर्यमय है इन दोनोंके संगमसे परम पद होता है और यह बिंदु स्वर्ग, मोक्ष, धर्म और अधर्मका दाता है उस बिंदुके मध्यमें सूक्ष्मरूपसे संपूर्ण देवता टिकते हैं ॥ १०० ॥

स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ॥
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥१०१॥

स बिंदुरिति ॥ स पुंसो बिंदुस्तद्रजो नार्या रजश्चैव वज्रोलीमुद्राया अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगस्तेनैकीभूय मिलित्वा स्वदेहगौ स्वदेहे गतौ सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः दत्तः ॥ १०१ ॥

भाषार्थ–पुरुषका वह बिंदु और नारीका वह रज दोनों एक होकर वज्रोलीमुद्राके अभ्यासयोगसे यदि अपने देहहीमें स्थित रहजायँ तो संपूर्ण सिद्धियोंको देते हैं ॥१०१॥

रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ॥
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥१०२॥

रक्षेदिति ॥ या नार्याकुंचनाद्योनिसंकोचनादूर्ध्वमुपरिस्थाने नीत्वा रजो रक्षेत् । हीति प्रसिद्धं योगशास्त्रे । सा योगिन्यतीतानागतं भूतं भविष्यं च वस्तु वेत्ति जानाति ॥ ध्रुवमिति निश्चितम् । खेऽन्तरिक्षे चरतीति खेचर्यंतरिक्षचरी भवेत् ॥ १०२ ॥

भाषार्थ–जो नारी अपनी योनिके संकोचसे रजको ऊर्ध्वस्थानमें लेजाकर रजकी रक्षा करै वह योगिनी होती है और भूत, भविष्यत्, वर्तमान वस्तुको जान सकती है और यह निश्चित है कि वह खेचरी होती है अर्थात् उसको आकाशमें गमन करनेका सामर्थ्य होजाता है ॥ १०२ ॥

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ॥
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥१०३॥

देहसिद्धिमिति ॥ वज्रोल्या अभ्यासस्य योगो युक्तिस्तस्माद्देहस्य सिद्धिं रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वरूपां लभते । अयं योगो वज्रोल्यभ्यासयोगः पुण्यकरोऽदृष्टविशेषजनकः । कीदृशो योगः भुज्यत इति भोगो विषयस्तस्मिन् भुक्तेऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ १०३ ॥

भाषार्थ-और वज्रोलीके अभ्यासयोगसे रूप, लावण्य, वज्रोलीकी तुल्यतारूप देहकी सिद्धिको प्राप्त होती है और यह वज्रोलीके अभ्यासका योग पुण्यका उत्पादक है और भोगोंके भोगनेपर भी मुक्तिको देता है ॥ १०३ ॥

अथ शक्तिचालनम् ।

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ॥
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥१०४॥

शक्तिचालनं विवक्षुस्तदुपोद्घाततया कुंडलीपर्यायान् तथा मोक्षद्वारविभेदनादिकं चाह सप्तभिः-कुटिलांगीति ॥ कुटिलांगी १, कुंडलिनी २, भुजंगी ३, शक्तिः ४, ईश्वरी ५, कुण्डली ६, अरुंधती ७, चैते सप्त शब्दाः पर्यायवाचका एकार्थवाचकाः ॥ १०४ ॥

भाषार्थ-शक्तिचालनमुद्रा कहनेके अभिलाषी आचार्य कुंडलिनीके पर्याय और कुंडलिनीसे मोक्षद्वारविभेदन (खोलना) आदिका वर्णन करते हैं कि, कुटिलांगी १, कुंडलिनी २, भुजंगी ३, शक्ति ४, ईश्वरी ५, कुंडली ६, अरुंधती ७, ये सात शब्द पर्यायवाचक हैं अर्थात् सातोंका एकही अर्थ है ॥ १०४ ॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ॥
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥१०५॥

उद्घाटयेदिति ॥ यथा येन प्रकारेण पुमान् कुंचिकया कपाटार्गलोत्सारणसाधनीभूतया हठाद्बलात्कपाटमररमुद्घाटयेदुत्सारयेत् । हठादिति देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र संबध्यते।तथा तेन प्रकारेण योगी हठाद्धठाभ्यासात्कुंडलिन्या शक्त्या मोक्षद्वारं मोक्षस्य द्वारं प्रापकं सुषुम्नामार्गं विभेदयेद्विशेषेण भेदयेत् । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः ॥१०५॥

भाषार्थ-जैसे पुरुष कपाटों (किवाँड) के अर्गल (ताला) आदिको

हठ (बल) से कुंचिका (ताली) से उद्घाटन करता है, तिसीप्रकार योगीभी हठयोगके अभ्याससे कुंडलिनीमुद्राकेद्वारा अर्थात् मोक्षके दाता सुषुम्नाके मार्गको भेदन करता है क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि, सुषुम्ना मार्गसे ऊपर (ब्रह्मलोक) को जाता हुआ मोक्षको प्राप्त होता है ॥ १०५ ॥

येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ १०६ ॥

येनेति ॥ आमयो रोगजन्यं दुःखं दुःखमात्रोपलक्षणं तस्मान्निर्गतं निरामयं दुःखमात्ररहितं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविर्भावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्मरंध्रम् । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । येन मार्गेण सुषुम्नामार्गेण गंतव्यं गमनार्हमस्ति तद्द्वारं तस्य मार्गस्य द्वारं प्रवेशमार्गं मुखेनास्येनाच्छाद्य रुद्ध्वा परमेश्वरी कुंडलिनी प्रसुप्ता निद्रितास्ति ॥ १०६ ॥

भावार्थ-रोगसे उत्पन्न हुआ दुःखरूप आमय जिसमें नहीं है ऐसा ब्रह्मस्थान जिस मार्गसे जाने योग्य होता है अर्थात् जिसमार्गसे ब्रह्मस्थानको जाते हैं क्योंकि श्रुतिमें लिखाहै कि, उस सुषुम्नाकी शिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित है उस सुषुम्ना मार्गके द्वारको मुखसे आच्छादन करके अर्थात् रोककर परमेश्वरी (कुंडलिनी) सोती है ॥ १०६ ॥

कंदोर्ध्वं कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ॥
बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ १०७ ॥

कंदोर्ध्वमिति ॥ कुंडली शक्तिः कंदोर्ध्वं कंदस्योपरिभागे योगिनां मोक्षाय सुप्ता मूढानां बंधनाय सुप्ता । योगिनस्तां चालयित्वा मुक्ता भवंति । मूढास्तदज्ञानाद्बद्धास्तिष्ठंतीति भावः । तां कुंडलिनीं यो वेत्ति स योगवित् । सर्वेषां योगतंत्राणां कुंडल्याश्रयत्वादित्यर्थः ॥ १०७ ॥

भावार्थ-कंदके ऊपरभागमें सोतीहुई कुंडलिनी योगीजनोंके मोक्षार्थ होती है और वह पूर्वोक्त कुण्डलिनी मूढोंके बन्धनार्थ होती है अर्थात् योगीजन कुण्डलिनीको चलाकर मुक्त होजाते हैं और उसके अज्ञानी मूढ बन्धनमें पडे रहते हैं उस कुण्डलिनीको जो जानता है वही योगका ज्ञाता है क्योंकि संपूर्ण योगके तंत्र कुण्डलिनीके अधीन हैं ॥ १०७ ॥

कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ॥
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥ १०८ ॥

कुंडलीति ॥ कुंडली शक्तिः सर्पवद्भुजगवत्कुटिल आकारः स्वरूपं यस्याः सा कुटिलाकारा परिकीर्तिता कथिता योगिभिः । सा कुंडली शक्तिर्येन पुंसा चालिता मूलाधारादूर्ध्वं नीता स मुक्तोऽज्ञानबंधान्निवृत्तः। अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न संदेहो नास्तीत्यर्थः । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः ॥ १०८ ॥

भाषार्थ–योगीजनोंने जो सूर्यके समान कुटिल है आकार जिसका ऐसी कहीहै वह कुण्डली शक्ति जिसने चलादी है अर्थात् मूलाधारसे ऊपर पहुँचादी है वह मुक्त है अर्थात् बन्धनसे निवृत्त है इसमें संशय नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त श्रुति है कि, उस सुषुम्नासे ऊपरको जाताहुआ योगी मोक्षको प्राप्त होता है ॥ १०८ ॥

गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनीम् ॥
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०९॥

गंगायमुनयोरिति ॥ गंगायमुनयोराधाराधेयभावेन तयोर्भावना-द्गंगायमुनयोरभेदेन भावनाद्वा गंगायमुने इडापिंगले तयोर्मध्ये सुषुम्ना-मार्गे तपस्विनी निरशनस्थितेः । बालरंडां बालरंडाशब्दवाच्यां कुंडलीं बलात्कारेण हठेन गृह्णीयात् । तत्तस्या गंगायमुनयोर्मध्ये ग्रहणं विष्णोर्हरेर्व्यापकस्यात्मनो वा परमं पदं परमपदप्रापकम् ॥ १०९ ॥

भाषार्थ–गंगा यमुना हैं आधार जिनके वा गंगा यमुनारूप जो इडा पिंगला नाडी हैं उनके मध्यसे अर्थात् सुषुम्नाके मार्गमें तपस्विनी अर्थात् भोजनरहित बालरण्डा हैं उसको बलात्कार (हठयोग) से ग्रहण करे वह कुण्डलीका जो बलाकात्कारसे ग्रहण है वही व्यापकरूप विष्णुके परमपदका प्रापक है ॥ १०९ ॥

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ॥
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुंडली ॥ ११० ॥

गंगायमुनादिपदार्थमाह–इडेति ॥ इडा वामनिःश्वासा नाडी भगवत्यै-श्वर्यादिसंपन्ना गंगा गंगापदवाच्या, पिंगला, दक्षिणनिःश्वासा यमुना यमुनाशब्दवाच्या नदी । इडापिंगलयोर्मध्ये मध्यगता या कुण्डली सा बालरंडा बालरंडाशब्दवाच्या ॥ ११० ॥

भाषार्थ–अब गंगा यमुना आदि पदार्थोंका वर्णन करते हैं कि, इडा अर्थात् वाम-निःश्वासकी नाडी भगवती गंगा कहाती है और पिंगलाके अर्थात् दक्षिणनिःश्वासकी नाडी यमुना नदी कहाती है और इडा और पिंगला मध्यसे वर्तमान जो कुण्डली है वह बाल-रण्डा कहाती है ॥ ११० ॥

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ॥
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ १११ ॥

शक्तिचालनमाह-पुच्छे इति ॥ सुप्तां निद्रितां भुजंगीं तां कुंडलिनीं पुच्छे प्रगृहीत्वोद्बोधयेत्प्रबोधयेत्सा, शक्तिः कुंडली निद्रां विहाय हठादूर्ध्वंतिष्ठत इत्यन्वयः । एतद्रहस्यं तु गुरुमुखादवगंतव्यम् ॥ १११ ॥

भाषार्थ-अब शक्तिचालनमुद्राका वर्णन करतेहैं कि सोती हुई भुजगी (कुंडली) के पुच्छको ग्रहण करके उस भुजगीका प्रबोधन करे (जगावे) तो वह कुंडली निद्राको त्यागकर हठसे ऊपरको स्थित होजाती है इसका रहस्य (गुप्तक्रिया) गुरुमुखसे जानने योग्य है ॥ १११ ॥

अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ॥
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ११२

अवस्थिता इति ॥ अवस्थितावाक् स्थिता मूलाधारास्थिता फणावती भुजंगी सा कुंडलिनी सूर्यादापूर्य सूर्यात्पूरणं कृत्वा परिधाने युक्तिस्तया परिधानयुक्त्या प्रगृह्य गृहीत्वा । सायं सूर्यास्तसमये प्रातः सूर्योदयवेलायां नित्यमहरहः प्रहरस्य यामस्यार्धं प्रहरार्धं प्रहरार्द्धमेव प्रहरार्धमात्रं परिचालनीया परितश्चालयितुं योग्या । परिधानयुक्तिर्देशिकाद्बोध्या ॥ ११२ ॥

भाषार्थ-नीचे मूलाधारमें स्थित वह फणावती कुंडलिनी सूर्यसे पूरण करनेके अनंतर परिधानमें जो युक्ति है उससे ग्रहण करके सायंकाल और प्रातःकालके समय प्रतिदिन आधे प्रहर पर्यंत चारों तर्फ चालन करने योग्य है परिधानकी युक्ति गुरुमुखसे जाननी चाहिये ॥ ११२ ॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ॥
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥ ११३ ॥

कंदसंपीडनेन शक्तिचालनं विवक्षुरादौ कंदस्य स्थानं स्वरूपं चाह-ऊर्ध्वमिति ॥ मूलस्थानाद्वितस्तिमात्रं वितस्तिप्रमाणमूर्ध्वमुपरि नाभिमेढ्रयोर्मध्ये । एतेन कंदस्य स्थानमुक्तम् । तथा चोक्तं गोरक्षशतके-"ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगांडवत् । तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः" इति । याज्ञवल्क्यः-"गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः। देहमध्यं तनोर्मध्यमनुजानामितीरितम् ॥

कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवांगुलम्। चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथाविधम्॥ अंडाकृतिवदाकारभूषितंच त्वगादिभिः। चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुंदमध्यगम्" इति। गुदाद्व्यंगुलोपर्येकांगुलं मध्यं तस्मान्नवांगुलं कंदस्थानं मिलित्वा द्वादशांगुलप्रमाणं वितस्तिमात्रं जातम्। चतुर्णामंगुलीनां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलप्रमाणं विस्तारम् विस्तारो दैर्घ्यस्याप्युपलक्षणम्। चतुरंगुलं दीर्घं च मृदुलं कोमलं धवलं शुभ्रं वेष्टितं वेष्टनाकारीकृतं यदंबरं वस्त्रं तस्य लक्षणं स्वरूपमिव लक्षणं स्वरूपं यस्य तादृशं प्रोक्तं कथितम्। कंदस्वरूपं योगिभिरिति शेषः॥ ११३॥

भाषार्थ-कंदके पीडनेसे शक्तिचालनके कथनाभिलाषी आचार्य प्रथम कंदके स्थान और स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, मूलस्थानसे वितस्तिभर ऊपर अर्थात् नाभिस्थल और लिंगके मध्यमें इसवर्णनसे कंदका स्थान कहा सोई गोरक्षनाथने कहाहै कि लिंगसे ऊपर और नाभिसे नीचे पक्षियोंके अंडेके समान कंदकी योनि है उसमें बहत्तर सहस्र नाडी उत्पन्नहुई हैं. याज्ञवल्क्यने कहाहै कि, गुदासे दो अंगुल ऊपर लिंगसे दो अंगुल नीचे मनुष्योंके देह (तनु) का मध्य कहा है मनुष्योंका कंदस्थान देहके मध्यसे नौअंगुल ऊपर चार अंगुल चौडा और चार अंगुल लंबा है और त्वचा आदिसे अंडाकारके समान शोभित है और चतुष्पद और तिरछी योनियोंके और पक्षियोंके तुंद मध्यमें होताहै अर्थात् गुदाके दो अंगुलोंसे ऊपर एक अंगुलका मध्य और उससे नौ अंगुल कंदस्थान हुआ. ये सब मिलकर बारह अंगुलका प्रमाण जिसका ऐसा वितस्तिमात्र हुआ और वह कंदस्थान चार अंगुल और कोमल और धवल और वेष्टित किये (लपेटे) वस्त्रके समान है रूप जिसका ऐसा योगीजनोंने कहाहै। भावार्थ यह है कि, मूलस्थानसे ऊपर वितस्तिमात्र चार अंगुलभर कोमल शुक्ल लपेटे हुये वस्त्रके समान कंदस्थान योगीजनोंने कहा है॥११३॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम्॥
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत्॥११४॥

सतीति॥ वज्रासने कृते सति कराभ्यां हस्ताभ्यां गुल्फौ पादग्रन्थी तयोर्देशौ तयोः समीपे गुल्फाभ्यां किंचिदुपरि। 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ' इत्यमरः।पादौ चरणौ दृढं गाढं धारयेत् गृह्णीयात्। चकारात्धृताभ्यां पादाभ्यां तत्र कंदस्थाने कंदं प्रपीडयेत्प्रकर्षेण पीडयेत्। गुल्फा-

दूर्ध्वं कराभ्यां पादौ गृहीत्वा नाभेरधोभागे कंदं पीडयेदित्यर्थः ॥११४॥

भाषार्थ-वज्रासन करनेके अनंतर हाथोंसे गुल्फोंके समीपके स्थानमें दोनों चरणोंको दृढतासे धारण करे अर्थात् गुल्फोंके कुछेक ऊपरके भागमें चरणोंको हाथोंसे खूब पकडे और हाथोंसे पकडे हुये पादोंसे कंदके स्थानमें कंदको पीडित करै अर्थात् गुल्फसे ऊपर पादोंको हाथोंसे पकडकर नाभिके अधोभागमें कंदको पीडित करै (दावै) ॥ ११४ ॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम्॥
कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ ११५ ॥

वज्रासन इति॥वज्रासने स्थितो योगी कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनमुद्रां कृत्वेत्यर्थः। अनंतरं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात्। एवंरीत्या कुंडलीं शक्तिमाशु शीघ्रं बोधयेत्प्रबुद्धां कुर्यात्। वज्रासने शक्तिचालनस्य पूर्वं विधानेऽपि पुनर्वज्रासनोपपादनं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रायां वज्रासनमेव कर्तव्यमिति नियमार्थम् ॥११५ ॥

भाषार्थ-वज्रासनमें स्थित (वैठाहुआ) योगी कुंडलीको चलाकर अर्थात् शक्तिचालन मुद्राको करके उसके अनंतर अर्थात् शक्तिचालनके पीछे भस्त्रानामके कुंभक प्राणायामको करै, इसरीतिसे कुंडलीका शीघ्र प्रबोधन करे यद्यपि वज्रासनमें शक्तिका चालन पहिले कह आयेहैं फिर जो वज्रासनका कथन है वह इसनियमके लिये है कि, शक्तिचालनके अनंतर भस्त्रामें वज्रासनही करना, अन्य नहीं ॥ ११५ ॥

भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः ॥
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ११६ ॥

भानोरिति॥भानोर्नाभिदेशस्थस्य सूर्यस्याकुंचनं कुर्यात्। नाभेराकुंचनेनैव तस्याकुंचनं भवति। ततो भानोराकुंचनात्कुंडलीं शक्तिं चालयेत्। एवं यः करोति मृत्योर्वक्त्रं मुखं गतस्यापि प्राप्तस्यापि तस्य पुंसो मृत्युभयं कालभयं कुतः। न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ११६ ॥

भाषार्थ-नाभिदेशमें स्थित सूर्यका आकुंचन करै और वह सूर्यका आकुंचन नाभिके आकुंचनसेही होताहै, फिर सूर्यके आकुंचनसे कुण्डली शक्तिका चालन करै, जो योगी इसप्रकारकी क्रियाको करताहै मृत्युके मुखमें गये हुयेभी उस योगीको कालका भय किसप्रकार हो सकताहै ? अर्थात् मृत्युका भय नहीं रहता ॥ ११६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥ ११७॥

मुहूर्तद्वयमिति॥मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यंतं तदवधि निर्भयं निःशंकं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्नायां समुद्गता सती किंचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ ११७ ॥

भाषार्थ–दो मुहूर्त अर्थात् चार घडीपर्यंत निर्भय (अवश्य) चलायमान करनेसे सुषुम्नामें प्राप्त हुई यह शक्ति (कुण्डली) किंचित् (कुछ) ऊपरको खिंच जातीहै ॥ ११७ ॥

तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम् ॥
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः॥ ११८ ॥

तेनेति॥तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुंडली तस्याःप्रसिद्धायाः सुषुम्नाया मुखं प्रवेशमार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति। तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतःस्वयमेव सुषुम्नां व्रजति गच्छति । सुषुम्नामुखात्प्रागेव कुण्डलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ ११८ ॥

भाषार्थ–तिस ऊपरको आकर्षण करनेसे उस प्रसिद्ध सुषुम्नाके मुख अर्थात् प्रवेशके मार्गको निश्चयसे त्याग देतीहै तिसमार्गके त्यागसे प्राणवायु स्वतः (स्वयं) ही सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै क्योंकि, कुण्डलिनी तो सुषुम्नाके मुखपरसे पहिलेही चली गई, अवरोधके अभाव होनेसे प्राणका स्वयंही प्रवेश होजाताहै ॥ ११८ ॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ॥
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ११९ ॥

तस्मादिति॥यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणःसुषुम्नां व्रजति तस्मात्सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुंधतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत् । तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ ११९ ॥

भाषार्थ–जिससे शक्तिके चालनसे प्राण सुषुम्नामें प्राप्त होताहै तिससे सुखसे सोई हुई अरुंधती (कुंडलिनी) को नित्य भलीप्रकार चलायमान करै क्योंकि तिसशक्तिके चलायमान करनेसेही रोगी कास श्वास जरा आदि रोगोंसे निवृत्त होजाताहै ॥ ११९ ॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥१२०॥

येनेति ॥ येन योगिना शक्तिः कुण्डली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति । अत्रास्मिन्नर्थे बहूक्तेन बहुप्रशंसनेन किं, न किमपीत्यर्थः । कालं मृत्युं लीलया क्रीडयानायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ १२० ॥

भाषार्थ-जिसयोगीने शक्ति चलायमान करली है वह योगी अणिमा आदि सिद्धियोंका पात्र होजाताहै और इसमें अधिक कहनेसे क्या है कालकोभी लीलासे अर्थात् अनायाससे जीत लेताहै ॥ १२० ॥

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः ॥१२१॥

ब्रह्मचर्येति ॥ ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तास्मिन् रतस्य तत्परस्य नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य कुण्डल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा तस्य मंडलाच्चत्वारिंशद्दिनात्मकादनंतरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते ॥ "नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घीकृतश्चंद्राभः परिपूरितामृततनुः प्राग्घंटिकायास्ततः । छित्वा कालविशालवह्निवशगं भ्रूरंध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कंधवत् ॥"॥१२१॥

भाषार्थ-श्रोत्र आदि इंद्रियोंसहित लिंगके संयममें तत्पर जो योगी है और नित्य हितकारी प्रमित अर्थात् चतुर्थांशसे न्यून भोजन करताहै शक्तिचालनके अभ्यासी उस योगीको मंडल (४० दिन) के अनन्तर प्राणायामकी सिद्धिको देखतेहैं सोई कहा है कि, नासिकाके दक्षिणमार्गमें वहनेवाले पवनसे अत्यंत बढाया और घंटिका (कण्ठ) से पूर्व चंद्रमाके समान अमृत है शरीर जिसका ऐसा प्राण जिसके अनंतर विशालकाल और अग्निके वशमें हुई उसकुण्डलीके अभ्यासशील योगीकी कायाको भ्रुकुटीके छिद्रमें वर्तमान नाडीमें पहुँचकर और कायाका छेदन करके इस, प्रकार पुनः अत्यन्त नवीन करताहै जैसे छेदन करनेसे वृक्षका स्कंध (डाला) नवीन होजाता है ॥ १२१ ॥

कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ॥
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ १२२ ॥

कुंडलीमिति ॥ कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा । अथानंतरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात् । नित्यं प्रतिदिनम् । एवमुक्तप्रकारे-

णाभ्यसतो यमिनो योगिनो यमभीर्यमाद्भयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः । योगिनो देहत्यागस्य स्वाधीनत्वादिति तात्पर्यम् ॥ १२२ ॥

भाषार्थ–कुण्डलीको चलायमान करके उसके अनन्तरही विशेषकर भस्त्रानामके कुम्भकप्राणायामको करै, इसप्रकार प्रतिदिन अभ्यास करताहुआ जो यमी (योगी) है उसको यमका भय कहां रहताहै, क्योंकि योगीके देहका त्याग अपने अधीन होताहै ॥ १२२ ॥

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ॥
कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥ १२३ ॥

द्वासप्ततीति ॥ द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि तेषां तत्संख्याकानां नाडीनां मलशोधने कर्तव्ये सति कुण्डल्यभ्यसनाच्छक्तिचालनाभ्यासादृते विना कुतः प्रक्षालनोपायः । न कुतोऽपि । शक्तिचालनाभ्यासेनैव सर्वासां नाडीनां मलशोधनं भवतीत्यभिप्रायः ॥ १२३ ॥

भाषार्थ–बहत्तर सहस्र नाडियोंकी मलशुद्धिके करनेमें शक्तिचालनके विना प्रक्षालन (धोना) का अन्य कौन उपाय है अर्थात् कोई नहीं है. शक्तिचालनमुद्राके करनेसेही संपूर्ण नाडियोंके मलकी शुद्धि होती है ॥ १२३ ॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ॥
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२४ ॥

इयं त्विति ॥ इयं मध्यमा नाडी सुषुम्ना योगिनां दृढाभ्यासेनासनं स्वस्तिकादि प्राणसंयामः प्राणायामः मुद्रा महामुद्रादिका तैः सरला ऋज्वी भवेत् ॥ १२४ ॥

भाषार्थ–यह सुषुम्नारूप मध्यमनाडी योगियोंके दृढअभ्याससे स्वस्तिक आदि आसन प्राणायाम और महामुद्रा इनके करनेसे सरल होजाती है ॥ १२४ ॥

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ॥
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥ १२५ ॥

अभ्यास इति ॥ समाधिनेतरवृत्तिनिरोधरूपेणैकाग्र्येण मनो धृत्वांतःकरणं धारणानिष्ठं कृत्वाभ्यासे मनःस्थितौ यत्ने विगता निद्रा येषां ते तथा तेषाम् । निद्रापदमालस्योपलक्षणम् । अनलसानामित्यर्थः । रुद्राणी शांभवी मुद्रा वा अथवा परान्या उन्मन्यादिका भद्रां शुभां सिद्धिं योगसिद्धिं प्रयच्छति ददाति । एतेन हठयोगोपकारको राजयोगः प्रोक्तः ॥ १२५ ॥

भाषार्थ-अन्यविषयोंसे वृत्तिके रोकनेसे चित्तकी एकाग्रतारूप समाधिसे मनको धारणामें स्थित करके अभ्यास करनेमें जो निद्रा और आलस्यसे रहित हैं उनको शांभवी मुद्रा वा अन्यउन्मनी आदि मुद्रा शोभन योगसिद्धिको देती हैं इससे यह कहा कि, हठयोग राजयोगका उपकारक है ॥ १२५ ॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ॥
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥ १२६ ॥

राजयोगं विना आसनादीनां वैयर्थ्यमौपचारिकश्लेषेणाह-राजयोगमिति॥वृत्त्यंतरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्ती राजयोगः। 'हठं विना राजयोगः' इत्यत्र सूचितस्तत्साधनाभ्यासो वा तं विना तमृते पृथ्वीशब्देन स्थैर्यगुणःराजयोगादासनं लक्ष्यते। राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धिरिति हेतुरग्रेऽपि योजनीयः राजयोगं विना निशेव निशा कुंभको न राजते निशायां प्रायेण राजजनसंचाराभावात्। निशाशब्देन प्राणसंचाराभावलक्षणः कुंभको लक्ष्यते। राजयोगं विना मुद्रा महामुद्रादिरूपा विचित्रापि विविधापि विलक्षणापि वा न राजते न शोभते। पक्षांतरे। राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो राजसंबंधस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते।'शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसंभवात्'। राजा चन्द्रः। 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' इति श्रुतेः। तस्य योगं संबंधं विना निशा रात्रिर्न राजते। राजयोगं विना नृपसंबंधं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणश्चिह्नविशेषः। विचित्रापि। पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणापि। निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्रापि। मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्रापि न राजते ॥ १२६ ॥

भाषार्थ-अब राजयोगके विना आसन आदिकी निष्फलताको उपचारसे वर्णन करते हैं कि, अन्यवृत्तियोंको रोककर आत्मविषयक जो धारावाहिक निर्विकल्प मनकी वृत्ति उसे राजयोग कहते हैं और वह राजयोग-'हठके विना राजयोग वृथा है' इस वचनमें सूचित कर आये हैं उस राजयोगके वा उसके साधनोंके विना पृथ्वी (स्थिरता) शोभित नहीं होतीहै यहां पृथ्वीशब्दसे स्थिरता और राजयोगपदसे आसन लेना अर्थात् राजयोगके विना परमपुरुषार्थ (मोक्ष) रूप मोक्ष नहीं होसकता. यह हेतु आगेभी सम्पूर्ण वाक्योंमें समझना और राजयोगके विना निशा शोभित नहीं होती अर्थात् निशाके समान कुंभकप्राणायाम शोभित नहीं होता है, क्योंकि जैसे निशामें राजपुरुषोंका संचार नहीं होता है इसीप्रकार कुंभकमें प्राणोंका संचार नहीं होताहै इससे निशापदसे कुंभक लेते हैं और राज-

योगके विना विचित्र भी मुद्रा अर्थात् अनेक प्रकारकी वा विलक्षण महामुद्रा आदि मुद्रा शोभित नहीं होतीहैं । पक्षांतरमें इस श्लोकका यह अर्थ है कि, राजाके संबन्ध विना रत्न आदिके उत्पन्न करनेवालीभी पृथ्वीकी शोभा नहीं है क्योंकि राजाकी शिक्षाके विना नाना-उपद्रव भूमिमें होते हैं और राजा (चन्द्रमा) के सम्बन्ध विना ग्रहनक्षत्रोंसे विचित्रभी निशाकी शोभा नहीं होती है इस श्रुतिसे यहां राजपदसे चन्द्रमा लेते हैं कि, 'सोम हम ब्राह्मणोंका राजाहै' और राजाके योगविना मुद्राकी शोभा नहीं अर्थात् रेखा आदिसे विचित्रभी मुद्रा राजाके हाथसे किये हुये चिह्नविशेषरूप राजसम्बन्धके विना ग्रहण करने योग्य नहीं होती है ॥ १२६ ॥

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ॥
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ १२७ ॥

मारुतस्येति॥मारुतस्य वायोः सर्वं विधिं कुंभकमुद्राविधानं मनोयुक्तं मनसा युक्तं समभ्यसेत्सम्यगभ्यसेत् । मनीषिणा बुद्धिमता पुंसा इतरत्र मारुतस्य विधेरन्यस्मिन्विषये मनोवृत्तिर्मनसो वृत्तिः प्रवृत्तिर्न कर्तव्या न कार्या ॥ १२७ ॥

भाषार्थ-प्राणवायुकी जो कुंभकमुद्रा आदि संपूर्ण विधि है उसकी मनसे युक्त होकर (मन लगाकर) भलीप्रकार अभ्यास करे और प्राणवायुकी विधिसे अन्य जो विषय उनमें मनकी प्रवृत्तिको न करै ॥ १२७ ॥

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ॥
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ १२८ ॥

मुद्रा उपसंहरति॥इतीति॥आदिनाथेन सर्वेश्वरेण शंभुना शं सुखं भवत्यस्मादिति शंभुस्तेन । इत्युक्तरीत्या दश दशसंख्याका मुद्राः प्रोक्ताः कथिताः । तासु मुद्रासु मध्ये एकैकापि प्रत्येकमपि या काचन मुद्रा यमिनां यमवतां योगिनां महासिद्धिप्रदायिन्यणिमादिप्रदात्री वा॥१२८॥

भाषार्थ-अब मुद्राओंकी समाप्तिका वर्णन करते हैं कि, आदिनाथ, (महादेव) ने ये दश मुद्रा कही हैं उन मुद्राओंमें एक २ भी मुद्रा (प्रत्येक) अर्थात् जो कोई मुद्रा योगीजनोंको अणिमा आदि महासिद्धियोंकी प्रदायिनी (देनेवाली) है ॥ १२८ ॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ॥
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ १२९ ॥

मुद्रोपदेष्टारं गुरुं प्रशंसति-उपदेशमिति ॥ यः पुमान्मुद्राणां महामुद्रादीनां संप्रदायाद्योगिनां गुरुपरंपरारूपादागतं सांप्रदायिकमुपदेशं दत्ते ददाति। स एव स पुमानेव श्रीगुरुः श्रीमान् गुरुः सर्वगुरुभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः। स्वामी प्रभुः स एव साक्षात्प्रत्यक्ष ईश्वर एव सः। ईश्वराभिन्न एव स इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

भाषार्थ-सांप्रदायिक (योगियों गुरुपरम्परासे चले आये) महामुद्रा आदिके उपदेशको जो पुरुष देता है वही श्रीमान् गुरु अर्थात् सब गुरुओंमें श्रेष्ठ है और वही स्वामी अर्थात् प्रभु है और वही साक्षात् परमेश्वरस्वरूप है ॥ १२९ ॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ॥
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ॥ १३० ॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

तस्येति ॥ तस्य मुद्राणामुपदेष्टुर्गुरोर्वाक्यपरो वाक्यमासनकुंभकाद्यनुष्ठान विषयकं युक्ताहारविहारचेष्टादिविषयकं च तस्मिन् परस्तत्परः तत्परश्चादरवान्। आदरश्च विहिततपःकरणं भूत्वा संभूय मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासः पौनःपुन्येनावर्तनं तस्मिन् मुद्राभ्यासे समाहितः सावधानः पुरुषोऽणिमादिगुणैरणिमादिसिद्धिभिः सार्धं साकं कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं लभते प्राप्नोति ॥ १३० ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां मुद्राकथनं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

भाषार्थ-तिन मुद्राओंके उपदेशकर्ता गुरुके वाक्यमें अर्थात् आसन कुंभक आदिके अनुष्ठान विषयकी और युक्ताहार विहारकी चेष्टा आदि विषयोंकी आज्ञामें तत्पर (आदरवान्) और शास्त्रोक्त तप करनेरूप उस आदरके अनंतर बारंबार महामुद्रा आदिके अभ्यासमें सावधान होकर मनुष्य अणिमा आदि सिद्धियों सहित कालके वंचनको प्राप्त होता है अर्थात् उसको सिद्धि और कालसे निर्भयता ये दोनों प्राप्त होते हैं ॥ १३० ॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठयोगप्रदीपिकायां पं० मिहरचंद्रकृतभाषाविवृतिसहितायां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः समाप्तः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोपदेशः ४.

नमः शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने ॥
निरंजनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ॥ १ ॥

प्रथमद्वितीयतृतीयोपदेशोक्तानामासनकुंभकमुद्राणां फलभूतं राजयोगं विवक्षुः स्वात्मारामः श्रेयांसि बहुविघ्नानीति तत्र विघ्नबाहुल्यस्य संभवा त्तन्निवृत्तये शिवाभिन्नगुरुनमस्कारात्मकं मंगलमाचरति ॥ नम इति ॥ शिवाय सुखरूपायेश्वराभिन्नाय वा । तदुक्तम् । 'नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे' इति गुरवे देशिकाय यद्वा गुरवे सर्वांतर्यामितया निखिलोपदेष्ट्रे शिवायेश्वराय । तथा च पातंजलसूत्रम्—'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु । कीदृशाय शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने कांस्यघंटानिर्ह्रादवदनुरणनं नादः। बिंदुरनुस्वारोत्तरभावी ध्वनिः । कला नादैकदेशस्ता आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा तस्मै । नादबिंदुकलात्मना वर्तमानायेत्यर्थः । तत्र नादबिंदुकलात्मनि शिवे गुरौ नित्यं प्रतिदिनं परायणोऽवहितः पुमान् । एतेन नादानुसंधानपरायण इत्युक्तं पूर्वपादेन गुरुशिवयोरभेदश्च सूचितः । अंजनं मायोपाधिस्तद्रहितं निरंजनं शुद्धं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं ब्रह्म याति प्राप्नोति । तथा च वक्ष्यति–'नादानुसंधानसमाधिभाजम्' इत्यादिना ॥ १ ॥

भाषार्थ–प्रथम, द्वितीय, तृतीय उपदेशोंमें कहे जो आसन कुंभक मुद्रा हैं उनका फलरूप जो राजयोग है उसके कथनका अभिलाषी स्वात्माराम ग्रंथकार 'श्रेयकर्मोंमें वहुत विघ्न हुआ करते हैं' इस न्यायसे अनेक विघ्नोंका संभव होसकता है उन विघ्नोंकी निवृत्तिके लिये शिवरूप गुरुके नमस्कारात्मक मंगलको करते हैं कि, शिवरूप अर्थात् सुखरूप वा ईश्वररूप सोई कहा है कि, हे नाथ ! हे भगवन् ! शिवरूप गुरु जो आप हैं उनको नमस्कार है गुरुको अथवा सबके उपदेशक अंतर्यामिरूपसे शिवरूपसे ईश्वरको। सोई पातंजलसूत्रमें कहा है कि, कालसे अवच्छेदके न होनेसे वह ईश्वर पहिले सब आचार्योंकाभी गुरु है उस गुरु वा ईश्वरको नमस्कार है. जो गुरु नादबिंदुकलारूप है कांसीके घंटाके समान जो अनुरणन अर्थात् शब्द उसको नाद कहते हैं और अनुस्वारके अनंतर जो ध्वनि होती है उसको विंदु कहते हैं और नादके एकदेशको कला कहते हैं ये तीनों जिस गुरु वा ईश्वरके रूप हैं अर्थात् जो नाद विंदु कलारूपसे वर्तमान हैं और 'जिस जिस नाद विंदु कलारूप शिवरूप गुरुमें प्रतिदिन परायण (सावधान)

मनुष्य' इस कथनसे नादके अनुसंधानमें परायण और पूर्व पादसे शिव और गुरुका भेद सूचित किया उस मायोपाधिरूप अंजनसे रहित शुद्ध ब्रह्मपदको प्राप्त होता है जिसको योगीजन प्राप्त होते हैं उसको पद कहते हैं सोई कहेंगे नादका जो अनुसंधानी और जो समाधिका ज्ञाता है वह योगी है--भावार्थ यह है कि, शिवरूप और नाद विंदुकला जिसकी आत्मा है ऐसे उस गुरुको नमस्कार है जिसमें प्रतिदिन तत्पर मनुष्य शुद्धरूप ब्रह्मपदको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ॥
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानंदकरं परम् ॥ २ ॥

समाधिक्रमं प्रतिजानीते–अथेति ॥ अथासनकुंभकमुद्राकथनानंतरमिदानीमस्मिन्नवसरे समाधिक्रमं प्रत्याहारादिरूपं प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण विविच्य वक्ष्यामीत्यन्वयः । कीदृशं समाधिक्रमम् । उत्तमं श्रीआदिनाथोक्तसंपादनकोटिसमाविप्रकारेषूत्कृष्टम् । पुनः कीदृशं मृत्युं कालं हंति निवारयतीति मृत्युघ्नं स्वेच्छया देहत्यागजनकं तत्त्वज्ञानोदयमनोनाशवासनाक्षयैः सुखस्य जीवन्मुक्तिसुखस्योपायम् । प्राप्तिसाधनं पुनः कीदृशं परं ब्रह्मानंदकरं प्रारब्धकर्मक्षये सति जीवब्रह्मणोरभेदे नात्यंतिकब्रह्मानंदप्राप्तिरूपविदेहमुक्तिकरम् । तत्र निरोधः समाधिना चित्तस्य ससंस्काराशेषवृत्तिनिरोधे शांतघोरमूढावस्थानिवृत्तौ 'जीवन्नेवेह विद्वान् हर्षशोकाभ्यां विमुच्यते' इत्यादिश्रुत्युक्तानिर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवति । परममुक्तिस्तु प्राप्तभोगांतेऽतःकरणगुणानां प्रतिप्रसवेनोपाधिकरूपात्यंतिकनिवृत्तावात्यंतिकं स्वरूपावस्थानं प्रतिप्रसवासिद्धम् । व्युत्थाननिरोधसमाधिसंस्कारा मनसि लीयंते । मनोऽस्मितायामस्मिता महति महान् प्रधान इति चित्तगुणानां प्रतिप्रसवः प्रतिसर्गः स्वकारणे लयः । ननु जीवन्मुक्तस्य व्युत्थाने ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमित्यादिव्यवहारदर्शनाच्चित्तादिभिरौपाधिकभावजननादम्लेन दुग्धस्येव स्वरूपच्युतिः स्यादिति चेन्न । संप्रज्ञातसमाधावनुभूतात्मसंस्कारस्य तात्त्विकत्वनिश्चयात् । अतात्त्विकान्यथाभावस्याविकारित्वाप्रयोजकत्वात् । अम्लेन दुग्धस्य दधिभावस्तु तात्त्विक इति । दृष्टांतवैषम्याच्च पुरुषस्य त्वंतःकरणोपाधिकोऽहं

ब्राह्मण इत्यादिव्यवहारः स्फटिकस्य जपाकुसुमसन्निधानोपाधिरूपक एव न तात्त्विकः जपाकुसुमापगमे स्फटिकस्य स्वस्वरूपावस्थितिवदंतःकरणस्य सकलवृत्तिनिरोधे स्वरूपावस्थितिरच्युतैव पुरुषस्य ॥ २ ॥

भाषार्थ--अब आचार्य समाधिका जो क्रम उसके वर्णनकी प्रतिज्ञा करते हैं कि, इसके अनंतर अर्थात् आसन कुंभकमुद्रा वर्णन करनेके अनंतर इदानीं (इस अवसरमें) प्रत्याहार आदिरूप उस समाधिके क्रमको प्रकर्षतासे (पृथक्) कहता हूँ जो समाधिका क्रम आदिनाथकी कहीहुई संपादन कोटीरूप समाधियोंके प्रकारों (भेदों) में उत्तम है और जो मृत्युका निवारणकर्ता है अर्थात् अपनी इच्छासे देहके त्यागका जनक है और जो उत्पत्ति, मनका नाश, वासनाका क्षय इन तीनोंके होनेपर जीवन्मुक्तिरूप सुखका उपाय (साधन) है और जो परमब्रह्मानंदका कर्ता है अर्थात् प्रारब्ध कर्मका क्षय होनेपर जीव ब्रह्मको अभेदका ज्ञान होनेसे आत्यंतिक ब्रह्मानंदकी प्राप्तिरूप जो मुक्ति उसको करता है। वहां प्रथम समाधिसे चित्तका निरोध होता है और संस्कारसहित सम्पूर्णवृत्तियोंका निरोध होनेपर शांत घोर मूढ अवस्थाओंकी निवृत्ति होतसंते इत्यादि श्रुतिओंमें कहीहुई कि, 'जीवताहुआही ज्ञानी हर्षशोकसे छूटजाता है' निर्विकार स्वरूपमें स्थितिरूप जीवन्मुक्ति होजातीहै और परममुक्ति तो यह है कि, प्राप्त हुये भोगके अन्तमें अन्तःकरणके गुणोंका प्रतिप्रसव होनेसे औपाधिकरूपकी अत्यन्त निवृत्ति होनेपर आत्यंतिक स्वरूपमें अवस्थान प्रतिप्रसवसे सिद्ध है और व्युत्थान निरोध समाधि संस्कार ये सब मनमें लीन होजाते हैं और मन अस्मितामें अस्मिता महान्में महान् प्रधानमें लीन होजाता है. इसप्रकार चित्तके गुणोंका प्रतिप्रसव अर्थात् अपने २ कारणमें लयरूप प्रतिसर्ग होता है, कदाचित् कोई शंका करे कि, समाधिसे व्युत्थान (उठना) के समय मैं ब्राह्मण हूं मैं मनुष्य हूं इत्यादि व्यवहारके देखनेसे चित्त आदिसे औपाधिक भावके पैदा होनेसे अम्लसे दूधके समान अपने ब्रह्मस्वरूपसे च्युति (पतन) होजायगा--सो ठीक नहीं है क्योंकि संप्रज्ञात समाधिमें अनुभूत (ज्ञात) जो आत्मसंस्कार उसके तात्त्विकत्व (यथार्थता) का निश्चय होजाता है और अतात्त्विक जो अन्यथाभाव है वह अधिकारित्वका प्रयोजक नहीं होता है--अम्लसे जो दूधका दधिभाव है वह तात्त्विक है इससे दृष्टांतभी विषम है--मनुष्यको तो अन्तःकरणरूप उपाधिसे मैं ब्राह्मण हूँ इत्यादि व्यवहार होता है--और वह स्फटिकको जपाकुसुमकी संनिधानरूप उपाधिके समानही है तात्त्विक नहीं है--जपाकुसुमके हटानेपर स्फटिककी अपने स्वरूपमें स्थितिके समान अन्तःकरणकी सम्पूर्ण वृत्तियोंके निरोध होनेपर अपने स्वरूपमें स्थिति नष्ट नहीं होती है अर्थात् जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें मनुष्य ब्रह्मरूपमें स्थित रहता है--भावार्थ यह है कि, इसके अनन्तर उत्तम मृत्युके नाशक सुखका उपाय और परम ब्रह्मानन्दका जनक जो समाधिका क्रम उसको मैं अब वर्णन करता हूँ ॥ २ ॥

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ॥
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥ ३ ॥
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालंबं निरंजनम् ॥
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥

समाधिपर्यायान् विशेषेणाह–राजयोग इत्यादिना श्लोकद्वयेन ॥ स्पष्टम् ॥ ३ ॥ ॥ ४ ॥

भाषार्थ–अब समाधिके पर्यायोंका वर्णन करते हैं कि, राजयोग–समाधि–उन्मनी–मनोन्मनी–अमरत्व–लय–तत्त्व–शून्याशून्यपरंपद–अमनस्क–अद्वैत–निरालंब–निरंजन–जीवन्मुक्ति–सहजा–तुर्या–ये सब एक समाधिकेही वाचक हैं। इन सब भेदोंका आगे वर्णन करेंगे ॥ ३ ॥ ४ ॥

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ॥
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥ ५ ॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ॥
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥ ६ ॥
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ॥
प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ ७ ॥

त्रिभिः समाधिमाह–सलिल इति ॥ यदेति ॥ तत्सममिति ॥ यद्वद्यथा सैंधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं सलिले जले योगतः संयोगात्साम्यं सलिलसाम्यं सलिलैक्यत्वं भजति प्राप्नोति तथा तद्वदात्मा च मनश्चात्ममनसी तयोरात्ममनसोरैक्यमेकाकारता । आत्मनि धारितं मन आत्माकारं सदात्मसाम्यं भजति तादृशमात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते समाधिशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥ ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥

भाषार्थ–जिसप्रकार सिंधुदेशमें उत्पन्न हुआ लवण जलकेविषे संयोगसे साम्यको भजता है अर्थात् जलका संयोग होनेसे जलके सङ्ग एकताको प्राप्त होजाता है तिसीप्रकारसे जो आत्मा और मनकी एकता है अर्थात् आत्मामें धारण किया हुआ मन आत्माकार होनेसे आत्मरूपको प्राप्त होजाता है उसी प्रकार आत्मा मनकी एकताको समाधि कहते हैं। जब प्राण भलीप्रकार क्षीण होजाता है और मनकाभी लय होजाता है उस समयमें

हुई जो समरसता उसकोभी समाधि कहते हैं और जीवात्मा और परमात्मा इन दोनोंकी एकतारूप कोही समता कहते हैं और उससमय नष्ट हुये हैं सम्पूर्ण संकल्प जिसमें उसको समाधि कहते हैं ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ॥
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ॥८॥

अथ राजयोगप्रशंसा–राजयोगस्येति ॥ राजयोगस्थानंतरमेवोक्तस्य माहात्म्यं प्रभावं तत्त्वतो वस्तुतः को वा जानाति ? न कोऽपि जानातीत्यर्थः । तत्त्वतो वक्तुमशक्यत्वेऽप्येकदेशेन राजयोगप्रभावमाह- ज्ञानं स्वस्वरूपापरोक्षानुभवः मुक्तिर्विदेहमुक्तिः स्थितिर्निर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिः सिद्धिरणिमादिर्गुरुवाक्येन गुरुवचसा लभ्यते । राजयोगादिति शेषः ॥ ८ ॥

भाषार्थ–अब राजयोगकी प्रशंसाका वर्णन करते हैं कि, इसके अनंतर कहे हुये राजयोगके माहात्म्यको यथार्थरूपसे कौन जानता है अर्थात् कोई भी नहीं जानता है तत्त्वसे कहनेके अयोग्य भी एकदेशरूपसे राजयोगके प्रभावको वर्णन करते हैं कि, ज्ञान अर्थात् अपने आत्मास्वरूपका अपरोक्ष अनुभव और विदेहमुक्ति और निर्विकारस्वरूपमें अवस्थितिरूप जीवन्मुक्ति और अणिमाआदि सिद्धि ये सब गुरुके वाक्यसे प्राप्त हुये राजयोगकेद्वारा प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ॥
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥ ९ ॥

दुर्लभ इति ॥ विशेषेण सिन्वंत्यवबध्नंति प्रमातारं स्वसंगेनेति विषया ऐहिका दारादय आमुष्मिकाः सुधादयस्तेषां त्यागो भोगेच्छाभावो दुर्लभः । तत्त्वदर्शनमात्मापरोक्षानुभवः दुर्लभं सहजावस्था तुर्यावस्था सद्गुरोः 'दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यम्' इति वक्ष्यमाणलक्षणस्य करुणां दयां विनेति सर्वत्र संबध्यते । दुर्लभा लब्धुमशक्या 'दुःस्यात्कष्टनिषधयोः' इति कोशः । गुरुकृपया तु सर्वं सुलभमिति भावः ॥ ९ ॥

भाषार्थ–अपने प्रमाता (भोक्ता) को जो अपने संगसे विशेष करके बांधे उन्हें विषय कहते हैं और वे विषय इसलोकके स्त्री आदि और परलोकके अमृत आदि होते हैं उन विषयोंका त्याग दुर्लभ है और आत्माके अपरोक्षानुभवरूप तत्त्वका दर्शन दुर्लभ है-- और सहजावस्था (तुरीया अवस्था) दुर्लभ है अर्थात् ये पूर्वोक्त तीनों

सद्गुरुकी दयाके विना दुर्लभ हैं और गुरुकी दयासे तो संपूर्ण सुलभ है और सद्गुरुका स्वरूप यह कहेंगे कि, 'देखनेयोग्य पदार्थके विनाही जिसकी दृष्टि स्थिर हो' वह सद्गुरु होता है ॥ ९ ॥

विविधैरासनैः कुंभैर्विचित्रैः करणैरपि ॥
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ॥१०॥

विविधैरिति ॥ विविधैरनेकविधैरासनैर्मत्स्येंद्रादिपीठैर्विचित्रैर्नानाविधैः कुम्भकैः । विचित्रैरिति काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र संबध्यते । विचित्रैरनेकप्रकारकैः । करणैर्हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकैर्महामुद्रादिभिर्महाशक्तौ कुंडलिन्यां प्रबुद्धायां गतनिद्रायां सत्यां प्राणो वायुः शून्ये ब्रह्मरंध्रे प्रलीयते लयं प्राप्नोति। व्यापाराभावः प्राणस्य प्रलयः १०

भाषार्थ—अनेक प्रकारके मत्स्येंद्र आदि आसन और विचित्र २ कुम्भक प्राणायाम और विचित्र अर्थात् अनेक प्रकारके हठसिद्धिमें कहे हुये महामुद्रा आदि इनसे जब महाशक्ति (कुण्डलिनी) प्रबुद्ध होजाती है अर्थात् निद्राको त्याग देती है तब प्राणवायु शून्य (ब्रह्मरंध्र) में लय होजाता है और व्यापारके अभावकोही प्राणका लय कहते हैं ॥ १० ॥

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ॥
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥११॥

उत्पन्नेति ॥ उत्पन्नो जातः शक्तिबोधः कुण्डलीबोधो यस्य तस्य त्यक्तानि परिहृतानि निःशेषाणि समग्राणि कर्माणि येन तस्य योगिनः । आसनेन कायिकव्यापारे त्यक्ते प्राणेंद्रियेषु व्यापारस्तिष्ठति । प्रत्याहारधारणाध्यानसंप्रज्ञातसमाधिभिर्मानसिकव्यापारे त्यक्ते बुद्धौ व्यापारस्तिष्ठति 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेरपरिणामी शुद्धः पुरुषः सत्त्वगुणात्मिका परिणामिनी बुद्धिरिति ॥११ ॥

भाषार्थ—उत्पन्न हुआ है कुण्डलिनीरूप शक्तिका बोध जिसको और त्याग दिये हैं संपूर्ण कर्म जिसने ऐसे योगीको स्वयंही सहजावस्था होजाती है-क्योंकि आसन बांधनेसे देहके व्यापारका त्याग होनेपर प्राण और इन्द्रियोंमें व्यापार बना रहता है और प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-संप्रज्ञातसमाधि इनसे मानसिक व्यापारके त्याग होनेपर बुद्धिमें व्यापार टिकता है, क्योंकि इस श्रुतिमें असंग यह पुरुष है यह कहा है इससे पुरुष

अपरिणामी और शुद्ध है और सत्त्वगुणरूप बुद्धि परिणामवाली है और उत्तमवैराग्यसे व दीर्घकालतक संप्रज्ञात समाधिके अभ्याससे बुद्धिके व्यापार कभी त्याग होनेपर नीर्विकार-स्वरूपमें स्थिति होजाती है वही सहजावस्था, तुर्यावस्था, जीवन्मुक्ति अन्यप्रयत्नके विनाही होजाती है क्योंकि इस श्रुतिमें लिखा है कि, जिससे त्यागता है उसकोभी त्यागकर बुद्धिसे संगरहित होजाय ॥ ११ ॥

सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ॥
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥ १२ ॥

परवैराग्येण दीर्घकालसंप्रज्ञाताभ्यासेनैव वा बुद्धिव्यापारे परित्यक्ते निर्विकार स्वरूपावस्थितिर्भवति सैव सहजावस्था तुर्यावस्था जीवन्मुक्तिः स्वयमेव प्रयत्नांतरं विनैव प्रजायते प्रादुर्भवति । 'येन त्यजसि तत्त्यजेति निःसंगः प्रज्ञया भवेत्' इति च श्रुतेः ॥ सुषुम्नेति । प्राणे वायौ सुषुम्नावाहिनि मध्यनाडीप्रवाहिनि सति मानसेऽन्तःकरणे शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदहीने ब्रह्मणि विशति सति तदा तस्मिन् काले योगविच्चित्तवृत्तिनिरोधज्ञः सर्वाणि कर्माणि समारब्धानि निर्मूलानि करोति निर्मूलयति 'निर्मूलशब्दात् तत्करोति' इति णिच् ॥ १२ ॥

भाषार्थ-प्राणवायु जब सुषुम्नामें वहने लगता है और मन, देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे शून्यब्रह्ममें प्रविष्ट होजाता है उस समय चित्तवृत्तिके निरोधका ज्ञाता योगी प्रारब्धसहित संपूर्णकर्माको निर्मूल (नष्ट) करदेता है ॥ १२ ॥

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः ॥
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ॥ १३ ॥

समाध्यभ्यासेन प्रारब्धकर्मणोऽप्यभिभवाज्जितकालं योगिनं नमस्करोति अमरायेति ॥ न म्रियत इत्यमरः । तस्मा अमराय चिरंजीविने तुभ्यं योगिने नमः । सोऽपि दुर्वारोऽपि कालो मृत्युस्त्वया योगिना जितोऽभिभूतः । इदं वाक्यं नमस्करणे हेतुः । स कः यस्य कालस्य वदने मुखे एतद्दृश्यमानं चराचरं स्थावरजंगमं जगत्संसारः पतितः सोऽपि जगद्भक्षकोऽपीत्यर्थः ॥ १३ ॥

भाषार्थ-समाधिके अभ्याससे प्रारब्धकर्मकाभी तिरस्कार हो जाता है इससे जिसने कालकोभी जीत लिया है उस योगीको सब नमस्कार करते हैं कि, तिस अमर (चिरजीवी) आपको नमस्कार है, जिसने दुःखसे निवारण करने योग्यभी वह काल (मृत्यु) जीत लिया जिसे कालके मुखमें यह स्थावर जंगमरूप चराचर जगत् पतित है ॥ १३ ॥

चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे ॥
तदामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥ १४ ॥

पूर्वोक्तममरोल्यादिकं समाधिसिद्धावेव सिद्ध्यतीति समाधिनिरूपणानंतरं समाधिसिद्धौ तत्सिद्धिरित्याह-चित्त इति ॥ चित्तेऽतःकरणे समत्वं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहत्वं आपन्ने प्राप्ते सति वायौ प्राणे मध्यमे सुषुम्नायां व्रजति सतीति चित्तसमत्वे हेतुः । तदा तस्मिन् काले अमरोली वज्रोली सहजोली च पूर्वोक्ताः प्रजायंते नाजितप्राणस्य न चाजितचित्तस्य सिद्ध्यंतीति भावः ॥ १४ ॥

भाषार्थ-पूर्वोक्त अमरोली आदि मुद्रा समाधिके सिद्ध होनेपरही सिद्ध हो जाती हैं इससे समाधिनिरूपणके अनंतर समाधिके सिद्ध होनेपर उनकीभी सिद्धिका वर्णन करते हैं, कि जब अंतःकरणरूप चित्त ध्यान करने योग्य वस्तुके आकारवृत्ति प्रवाहको प्राप्त होजाता है अर्थात् ब्रह्माकार होजाता है और प्राणवायु सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाता है अर्थात् इसप्रकार चित्तकी समता होनेपर उसकालमें अमरोली, वज्रोली, सहजोली ये पूर्वोक्त मुद्रा भलीप्रकार होजाती हैं और जिसने प्राण और चित्तको नहीं जीता उसको सिद्ध नहीं होती है ॥ १४ ॥

ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह ताव-
त्प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् ॥
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः ॥ १५ ॥

हठाभ्यासं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यतीत्याह-ज्ञानमिति ॥ यावत्प्राणो जीवति । अपिशब्दादिंद्रियाणि जीवंति न तु म्रियंते । यावन्मनो न म्रियते किंतु जीवत्येव । इडापिंगलाभ्यां वहनं प्राणस्य जीवनं स्वस्वविषयग्रहणमिंद्रियाणां जीवनं नानाविषयाकारवृत्त्युत्पादनं मनसो जीवनं तत्तद्भावतत्तन्मरणमत्र विवक्षितम् । ननु स्वरूपतस्तेषां नाशस्तवन्मनस्यंतःकरणे ज्ञानमात्मापरोक्षानुभवः कुतः संभवति न । कर्तापि प्राणेंद्रियमनोवृत्तीनां ज्ञानप्रतिबंधकत्वादिति भावः । प्राणो मनः इदं द्वयं यो योगी विलयं नाशं नयेत्स मोक्षमात्यंतिकस्वरूपावस्थानलक्षणं गच्छति प्राप्नोति । ब्रह्मरंध्रे निर्व्यापारस्थितिः प्राणस्य लयः । ध्येयाकारावेशात् । विषयांतरेणापारेण मनसो लयोऽन्यः । अलीनप्राणोऽलीनमनाश्च कथञ्चिदुपायशतेनापि न मोक्षं प्राप्नोती-

स्थैर्यं । तदुक्तं योगबीजे—नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः । तस्मात्तस्य जयः प्रायः प्राणस्य जय एव हि' इति । नानामार्गैः सुखःदुखप्रायं कैवल्यं परमं पदं 'सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिव-भाषितम्' इति च । सिद्धमार्गो योगमार्गः । एतेन योगं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यतीति सिद्धम् । श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु चेदं प्रसिद्धम् । तथाहि अथ 'तद्दर्शनाभ्युपायो योग' इति तद्दर्शनमात्म-दर्शनम् । 'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' इति । 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेद' इति 'यदा पंचावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम् ॥ तां योग-मिति मन्यंते स्थिरामिंद्रियधारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवति' इति । 'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दयोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ब्रह्मणे त्वा महस ओमित्यात्मानं युंजीतेति त्रिरुन्नतः स्थाप्य समशरीरः हृदींद्रियाणि मनसा सन्निवेश्य ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भया-वहानि' इति । 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' इत्याद्याः श्रुतयः ॥ यतिधर्मप्रकरणे. मनुः—'सतमाध्यनवेक्षेत योगेन परमात्मनः । देहद्वयं विहायाशु मुक्तो भवति बंधनात् ॥' याज्ञवल्क्यस्मृतौ—इज्याचारदमाहिं-सादानस्वाध्यायकर्मणाम् । अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥' महर्षिमातंगः—'अग्निष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय द्विजसत्तम' । योगा-भ्यासरतः शांतः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशू-द्राणां च पावनम् । शांतये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये ॥' दक्ष-स्मृतौ व्यतिरेकमुखेनोक्तम्—'स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा । अयोगी नैव जानाति जात्यंधो हि यथा घटम्' इत्याद्याः स्मृतयः ॥ महाभारते योगमार्गे व्यासः—'अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकां-क्षिणी । तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥ यदि वा सर्वधर्मज्ञो यदि वाप्यकृती पुमान् । यदि वा धार्मिकः श्रेष्ठो यदि वा पापकृत्तमः ॥ यदि वा पुरुषव्याघ्रो यदि वा क्लैब्यधारकः । नरः सेव्यं महादुःखं जरा-मरणसागरम् ॥ अपि जिज्ञासमानोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥' इति ॥ भगवद्गीतायाम्—'युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः । शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ यत्सांख्यैः प्राप्यते

स्थानम्' इत्यादि च॥ आदित्यपुराणे-'योगात्संजायते ज्ञानं योगो मय्ये-काचित्तता॥' स्कंदपुराणे-'आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते नहि । स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिद्ध्यति॥' कूर्मपुराणे शिववाक्यम्-'अतःपरं प्रवक्ष्यामि योगं परमदुर्लभम् । येनात्मानं प्रपश्यंति भानुमंतमिवेश्वरम् । योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपंजरम् ॥ प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति॥' गरुडपुराणे-'तथा यतेत मतिमान्यथा स्यान्निर्वृतिः परा । योगेन लभ्यते सा तु न चान्येन तु केनचित् ॥ भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम् । परावरप्रसक्ता धीर्यस्य निर्वेदसंभवा॥स च योगाग्निना दग्धसमस्तक्लेशसंचयः।निर्वाणं परमं नित्यं प्राप्नोत्येव न संशयः॥संप्राप्तयोगसिद्धिस्तु पूर्णो यस्त्वात्मदर्शनात् । न किंचिद्दृश्यते कार्यं तेनैव सकलं कृतम्॥आत्मारामःसदा पूर्णः सुखमात्यंतिकं गतः । अतस्तस्यापि निर्वेदः परानंदमयस्य च॥तपसा भावितात्मानो योगिनः संयतेंद्रियाः । प्रतरंति महात्मानो योगेनैव महार्णवम् ॥ ' विष्णुधर्मेषु-'यच्छ्रेयः सर्वभूतानां स्त्रीणामप्युपकारकम् । अपि कीटपतंगानां तन्नः श्रेयः परं वद ॥ इत्युक्तः कपिलः पूर्वं देवैर्देवर्षिभिस्तथा । योग एव परं श्रेयस्तेषामित्युक्तवान् पुरा॥' वासिष्ठे-'दुःसहो राम संसारविषवेगविषूचिका।योगगारुडमंत्रेण पावनेनोपशाम्यति॥' ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यैरपरोक्षप्रमाणं भवतीति किमर्थमतिश्रमसाध्ये योगे प्रयासः कार्यः । न च वाक्यजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वे प्रमाणासंभव इति वाच्यम्।तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानमपरोक्षम्।अपरोक्षविषयकत्वात् । चाक्षुषघटादिप्रत्यवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात्।न च विषयगतापरोक्षत्वस्य नीरूपत्वाद्धेतुत्वासिद्धिरितिवाच्यम् । अज्ञानविषयचित्ततत्तादात्म्यापन्नत्वान्यतररूपस्य तस्य सुनिरूपत्वात्।यथा हि घटादौ चक्षुःसन्निकर्षेणांतःकरणवृत्तिदशायांतदधिष्ठानचैतन्याज्ञानानिवृत्तौ तच्चैतन्यस्याज्ञानविषयतातद्धटस्याज्ञानविषयचैतन्यतादात्म्यापन्नत्वं चापरोक्षत्वम् ।तथा तत्त्वमस्यादिवाक्येन शुद्धचैतन्याकारांतःकरणवृत्त्युत्थापनेसति तदज्ञानस्य विवृत्तत्वेनैव तत्त्वस्याज्ञानविषयत्वाच्चैतस्यस्यापरोक्षत्वमिति न हेत्वासिद्धिः। न चाप्रयोजकत्वं ज्ञानगम्यत्वापरोक्षत्वं प्रत्यक्षपरोक्षविषयकत्वेन प्रयोजकत्वात् । नत्विन्द्रियजन्यत्वं मनस इंद्रियत्वाभावेन सुखादिपरत्वे व्यभिचारात्।अथवाभिव्यक्तचैतन्याभिन्नतया भासमानत्वं विषयस्यापरोक्षत्वम् ।अभिव्यक्तत्वं च निवृत्त्यावर-

णकत्वं परोक्षवृत्तिस्थले वावरणनिवृत्त्यभावान्नातिव्याप्तिः।सर्पादिभ्रमजनकदोषवतस्तु नायं सर्पःकिंतु रज्जुरिति वाक्येन जायमाना वृत्तिस्तु नावरणं निवर्तयतीति तत्र परोक्ष एव विषयः।वेदांतवाक्यजन्यं च ज्ञानमावरणनिवर्तकत्वादपरोक्षमेव तन्मननादेः पूर्वमुत्पन्नम् । ज्ञाननिवर्तकप्रमाणासंभावनादिदोषसामान्याभावविशिष्टस्यैव तस्याज्ञाननिवर्तकत्वात् । किंच 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्रुतिप्रतिपन्नमुपनिषन्मात्रागम्यत्वं योगगम्यत्वेनोपपन्नं स्यात् । तस्मात्तत्त्वमस्यादिवाक्यादेवापरोक्षमिति चेन्न । अनुमानस्याप्रयोजकत्वात् । न च प्रत्यक्षं प्रति निरुक्ताक्षसामान्यं प्रतींद्रियत्वेन कारणतया तज्जन्यत्वस्यैव प्रयोजकत्वान्नित्यानित्यसाधारणप्रत्यक्षत्वे तु न किंचित्प्रयोजकत्वमिति । तन्मते तु प्रत्यक्षविशेषं इंद्रियं कारणं ताद्विशेषे च शब्दविशेष इत्येवं कार्यकारणभावद्वयं स्यात् । न च मनसोऽनिंद्रियत्वं मनस इंद्रियत्वे बाधकाभावादिंद्रियाणां मनो नाथ इति मनुष्यामिवोद्दिश्य मनुष्याणामयं राजेत्यादिवदिंद्रियेष्वेव किंचिदुत्कर्षं ब्रवीति । न तु तस्याप्यनिंद्रियत्वं तत्त्वं च षट्खंडोपाधिविशेष एव । अत एव 'कर्मेंद्रियं तु पाय्वादि मनोनेत्रादि धींद्रियम्' इति 'प्रत्यक्षं स्यादैंद्रियकमप्रत्यक्षमतींद्रियम्' इति च शाक्तिप्रमाणभूतकोशेऽपींद्रियाप्रमाणकज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वं वदन् मनस इंद्रियत्वज्ञापकत्वं संगच्छते । 'इंद्रियाणि दशैकं च' इति गीतावचनं मनस इंद्रियत्वे प्रमाणम् । किंच तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानं शाब्दम् । शब्दजन्यत्वात् 'यजेत' इत्यादिवाक्यजन्यज्ञानवदित्यनेनापरोक्षविरोधिशाब्दत्वसाधकेन सत्प्रतिपक्षः।न चेदमप्रयोजकम् । शाब्दं प्रत्येव शब्दस्य जनकत्वेन लाघवमूलकानुकूलतर्कात्।त्वन्मते तु शब्दादपि प्रत्यक्षस्वीकारेण कार्यकारणभावद्वयकल्पने गौरवम्। अपि च मनननिदिध्यासनाभ्यां पूर्वमप्युत्पन्नम्।तव मते परोक्षमपि नाज्ञाननिवर्तकमित्यज्ञाननिवृत्तिं प्रति बाधज्ञानत्वेनैव हेतुत्वमिति गौरवम् । मम तु समाध्यभ्यासपरिपाकेनासंभावनादिसकलमलरहितेनांतःकरणेनात्मनि दृष्टे सति दर्शनमात्रादेवाज्ञाने निवृत्ते न कश्चिद्गौरवावकाशः। 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः । यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ' इत्यारभ्याज्ञाननिवृत्त्यर्थकेन 'मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' इत्यंतेन कठवल्लीस्थश्रुत्युपदेशेन संमतोऽयमर्थ इति न कश्चिदत्र विवादः इति।यदि तु मननादेः

पूर्वमुत्पन्नं ज्ञानं परोक्षमेवेति न प्रतिबद्धत्वकृतगौरवमिति मतमाद्रियते तदपि श्रवणादिभिर्मनःसंस्कारे सिद्धेऽव्यवहितोत्तरमात्मदर्शनसंभवात्तदुत्तरं वाक्यस्मरणादिकल्पनं महद्गौरवापादकमेव । ननु न वयं केवलेन तर्केण शब्दजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वं वदामः किंतु श्रुत्यापि । तथाहि—'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्रुत्या चौपानिषदत्वं पुरुषस्य नोपानिषज्जन्यबुद्धिविषयत्वमात्रं प्रत्यक्षादिगम्येप्यौपनिषदत्वे व्यवहारपत्तेः । यथा हि द्वादशकपालेऽष्टानां कपालानां सत्त्वेऽपि द्वादशकपालसंस्कृतेनाष्टाकपालादिव्यवहारः । यथा द्विपुत्रादावेकपुत्रादिव्यवहारस्तथात्रापि । नान्यत्र तथा व्यवहार इति । उपनिषन्मात्रगम्यत्वमेव प्रत्ययार्थः । तच्च मनोगम्यत्वेऽनुपपन्नमिति चेन्न । नहि प्रत्ययेनोपनिषद्भिन्नं सर्वं कारणत्वेन व्यावर्त्यते । शब्दापरोक्षवादिना त्वयाप्यात्मपरोक्षे मनआदीनां करणत्वस्यांगीकारात् । किंतु पुराणादिशब्दांतरमेव 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' इति स्मरणात्स चार्थो ममापि संमत इति न किंचिदेतत् । प्रमाणांतरव्यावृत्तौ तात्पर्यकल्पनं चात्मपरोक्षे शब्दस्य प्रमाणत्वे सिद्ध एव वक्तुमुचितम् । शब्दांतरव्यावृत्तितात्पर्यं तु श्रुत्यादिसंमतत्वात्कल्पयितुमुचितमेव । एवं स्थिते मनसैवानुद्रष्टव्यं मनसैवेदमाप्तव्यम् ' इत्यादिश्रुतयोऽव्याजरूपेन प्रतिपादिता भवेयुः । यत्तु कैश्चिदुक्तम् । दर्शनवृत्तिं प्रति मनोमात्रस्योपादानत्वपरायत्ताः श्रुतयाने विरुध्यंत इति तदतीव विचारासहम् । यतः प्रमाणकांक्षायां प्रवृत्तास्ताः कथमुपादानपरा भवेयुः । 'कामः संकल्पो विचिकित्सा ' इत्यादिश्रुत्या सावधारणया सर्वासां वृत्तीनां मनोमात्रोपादानकत्वे बोधिते आकांक्षाभावेनोपादानतात्पर्यकत्वेन वर्णयितुं कथं शक्नुयेरन् । पूर्वं द्वितीयवल्यां प्रणवस्य ब्रह्मबोधकत्वेनोक्तेस्तस्याप्यपरोक्षहेतुत्वमिति शंकां निवारयितुं मनसैवानुद्रष्टव्यम् ' इत्यादिसावधारणवाक्यानीत्येव वर्णयितुं शक्यानि स्युरित्यलमतिवाग्जालेन । वस्तुतस्तु योगिनां समाधौ दूरविप्रकृष्टपदार्थज्ञानं सर्वशास्त्रप्रसिद्धं न परोक्षम् । तदानीं परोक्षसामग्र्यभावात् । नापि स्मरणम् । तेषां पूर्वविशिष्यानुभवात् । नापि सुखादिज्ञानवत्साक्षिरूपम् । अपसिद्धांतात् नाप्यप्रमाणकं प्रमासामान्ये करणनियमात् । नापि चक्षुरादिजन्यम् । तेषामसन्निकर्षात् । तस्मान्मानसिकी प्रमैव सा वाच्येति मनस इन्द्रियत्वं प्रमाणत्वं च दूरमपह्नवमेवेति । येऽपि योगश्रुत्योः समुच्चयं कल्पयंति तेषामपि पूर्वोक्तदूषणगणस्तदवस्थ एव ।

तस्माद्योगजन्यसंस्कारसचिवमनोमात्रगम्य आत्मेति सिद्धम् । न च कामिनीं भावयतो व्यवहितकामिनीसाक्षात्कारस्येव भावनाजन्यत्वेनात्मसाक्षात्कारस्याप्रमात्वप्रसंगः। अबाधितविषयत्वात् दोषजन्यत्वाभावाच्च। कामिनीसाक्षात्कारस्य तु बाधितविषयत्वाद्दोषजन्यत्वाच्चाप्रामाण्यं न। भावनाजन्यत्वात् । न च भावनासमाधेर्ज्ञापकत्वे प्रमाणांतरापातः । तस्या मनःसहकारित्वात्प्रमाणनिरूपणानिपुणैर्नैयायिकादिभिरपि योगजप्रत्यक्षस्यालौकिकप्रत्यक्षेऽतर्भावः कृतः । योगजालौकिकसन्निकर्षेण योगिनो व्यवहितविप्रकृष्टसूक्ष्मार्थमात्मानमपि यथार्थं पश्यंति । तथा च पातंजले सूत्रे-"ऋतंभरा तत्र प्रज्ञाश्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात् " तत्र समाधौ या प्रज्ञास्याः श्रुतं श्रवणं शाब्दबोधः । अनुमननमनुमानं यौक्तिकज्ञानं तद्रूपप्रज्ञाभ्यामन्यविषया । कुतः । विशेषार्थत्वात् । विशेषो निर्विकल्पोऽर्थो विषयो यस्याः सा तथा तस्या भावस्तथात्वं तस्माच्छब्दस्यापदार्थतावच्छेदकपुरस्कारेणैवानुमानस्य व्यापकत्वावच्छेदकपुरस्कारेणैव बीजनकत्वनियमेन तद्ग्रहणे योग्यविशेष्यमात्रपरत्वादित्यर्थः। अत्र बादरायणकृतं भाष्यम्-श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयं नह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुं कस्मान्नहि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इत्यारभ्य समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य] एव सविशेषो भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वेति॥योगबीजे-'ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेंद्रियः । विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये॥'किंच-'तदेव सक्तः सह कर्मणेति लिंगं मनो यत्र निषिक्तमस्य' इति श्रुतेः । 'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इति स्मृतेश्च देहावसानसमये यत्र रागाद्युद्बुद्धो भवति तामेव योनिं जीवः प्राप्नोतीति योगहीनस्य जन्मांतरं स्यादेव मरणसमये समुद्भूतवैक्लव्यस्यायोगिना वारयितुमशक्यत्वात्।तदुक्तं योगबीजे 'देहावसानसमये चित्ते यद्यद्विभावयेत् । तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकारणम्॥ देहांते किं भवेज्जन्म तन्न जानंति मानवाः। तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जपश्च केवलं श्रमः ॥ पिपीलिका यदा लग्ना देहे ज्ञानाद्विमुच्यते । असौ किं वृश्चिकैर्दष्टो देहांते वा कथं सुखी ॥ ' इति । योगिनां तु योगबलेनांतकालेऽप्यात्मभावनया मोक्ष एवेति न स्याज्जन्मांतरम्। तदुक्तं भगवता-'प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।' इत्यादिना ।'शतं चैका हृदयस्य नाड्यः'इत्यादि श्रुतेश्च । न च तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वे तद्विचारस्य वैयर्थ्यमेवेति

शक्यम्। वाक्यार्थविचारजन्यज्ञानस्य योगद्वाराऽपरोक्षज्ञानसाधनत्वात्। अत्र च योगबीजे गौरीश्वरसंवादो महानस्ति ततः किंचिल्लिख्यते। देव्युवाच॥ ज्ञानिनस्तु मृता ये वै तेषां भवति कीदृशी गतिः कथय देवेश कारुण्यामृतवारिधे॥ ईश्वर उवाच॥ देहांते ज्ञानिना पुण्यात्पापात्फलमवाप्यते। यादृशं तु भवेत्तत्तद्भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत्॥ पश्चात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम्। ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा॥ ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम्॥ देव्युवाच॥ ज्ञानादेव हि मोक्षं च वदंति ज्ञानिनः सदा। न कथं सिद्धयोगेन योगः किं मोक्षदो भवेत्॥ ईश्वर उवाच॥ ज्ञानेनैव हि मोक्षो हि तेषां वाक्यं तु नान्यथा। सर्वे वदंति खड्गेन जयो भवति तर्हि किम्॥ विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात। तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत्॥' इत्यादि। ननु जनकादीनां योगमंतरेणाप्रतिबद्धज्ञानमोक्षयोः श्रवणात्कथं योगादेवाप्रतिबद्धज्ञानं मोक्षश्चेति चेत्। उच्यते। तेषां पूर्वजन्मानुष्ठितयोगजसंस्काराज्ज्ञानप्राप्तिरिति पुराणादौ श्रूयते। तथाहि-'जैगीषव्यो यथा विप्रो यथा चैवासितादयः। क्षत्रिया जनकाद्यास्तु तुलाधारादयो विशः॥ संप्राप्ताः परमां सिद्धिं पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः। धर्मव्याधादयः सप्त शूद्राः पैलवकादयः॥ मैत्रेयी सुलभा शार्ङ्गी शांडिली च तपस्विनी। एते चान्ये च बहवो नीचयोनिगता अपि॥ ज्ञाननिष्ठां परां प्राप्ताः पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः॥' इति। किंच। पूर्वजन्मानुष्ठितयोगाभ्यासपुण्यतारतम्येन केचिद्ब्रह्मत्वं केचिद्ब्रह्मपुत्रत्वं केचिद्देवर्षित्वं केचिद्ब्रह्मर्षित्वं केचिन्मुनित्वं केचिद्भक्तत्वं च प्राप्ताः संति। तत्रोपदेशमंतरेणैवात्मसाक्षात्कारवंतो भवेयुः। तथाहि-हिरण्यगर्भवसिष्ठनारदसनत्कुमारवामदेवशुकादयो जन्मसिद्धा इत्येव पुराणादिषु श्रूयते। यत्तु ब्राह्मण एव मोक्षाधिकारीति श्रूयते पुराणादौ तद्योगिपरम्। तदुक्तं गरुडपुराणे-"योगाभ्यासो नृणां येषां नास्ति जन्मांतरादृतः। योगस्य प्राप्तये तेषां शूद्रवैश्यादिकक्रमः॥ स्त्रीत्वाच्छूद्रत्वमभ्येति ततो वैश्यत्वमाप्नुयात्। ततश्च क्षात्त्रियो विप्रः क्रियाहीनस्ततो भवेत्॥ अनूचानः स्मृतो यज्वा

कर्मन्यासी ततः परम् । ततो ज्ञानित्वमभ्येति योगी मुक्तिं क्रमाल्लभेदित्यर्थः । इत्थं च योगे सर्वाधिकारश्रवणाद्योगोत्पन्नतत्त्वज्ञानेन सर्व एव मुच्यते इति सिद्धम् । योगिनस्तु भ्रष्टस्यापि न शूद्रादिक्रमः । 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ अथवा योगिनामेव' इत्यादि भगवद्वचनादित्यलम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ-अब हठाभ्यासके विना ज्ञान और मोक्ष सिद्ध नहीं होते इसका वर्णन करते हैं कि, जबतक प्राण और इंद्रिय जीवते हैं और मनभी नहीं मरता है अर्थात् जीवता है इडा और पिंगलामें प्राणके बहनेको प्राणका जीवन और अपने २ विषयोंका ग्रहण करना इंद्रियोंका जीवन और नाना प्रकारके विषयोंको उत्पन्न करना मनका जीवन कहाताहै-और तिस २ भावको प्राप्त हो जानाही यहां तिस २ का मरण विवक्षित है कुछ स्वरूपसे इनका नाश विवक्षित नहीं है-तबतक मनरूप अन्तःकरणमें अपरोक्षानुभवरूप ज्ञान कैसे हो सकता है अर्थात् कदाचित्भी नहीं हो सकताहै, क्योंकि प्राण, इंद्रिय, मन इनकी जो वृत्ति हैं वे ज्ञानकी प्रतिबन्धक होती हैं-और जो योगी प्राण और मन इन दोनोंका विशेषकर लय करदेता है वह योगी आत्यंतिक स्वरूपमें स्थितिरूप मोक्षको प्राप्त होताहै-और ब्रह्मरंध्रमें जो विना व्यापार प्राणकी स्थिति वही प्राणका लय कहाता है और ब्रह्मसे भिन्न विषयोंमें व्यापाररहित होनाही मनका लय कहाता है और जो अन्य है अर्थात् जिसके प्राण और मनका लय नहीं हुआहै वह योगी सैकड़ों उपायोंसेभी किसीप्रकार मोक्षको प्राप्त नहीं होताहै सोई योगबीजमें कहाहै कि, नानाप्रकारके विचारोंसे तो मन साध्य नहीं होताहै तिससे तिस मनका जयही प्राणका जय है अनेकप्रकारके मार्गोंसे बहुधा जिसमें सुख दुःख है वह जन्म होताहै और योगमार्गसे कैवल्य (मोक्ष) रूप परमपद मिलताहै अन्यथा नहीं मिलताहै यह शिवजीका कथन है इससे यह सिद्धभया कि, योगके विना ज्ञान और मोक्ष सिद्ध नहीं होते हैं और श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदिकोंमें भी यही प्रसिद्ध है कि इसके अनंतर आत्मदर्शनका उपाय योग है और अध्यात्मयोगकी प्राप्तिसे देवको मानकर धीरमनुष्य हर्ष और शोकको त्यागताहै और श्रद्धा भक्ति ध्यान योगसे आत्माको जानता भया-और जब मनसहित पांचों ज्ञान इंद्रिय विषयोंसे रहित टिकती हैं और बुद्धि भी चेष्टा न करती हो उसको परमगति योगीजन कहते हैं-और उस स्थिर इंद्रियोंकी चोरणाकोही योग मानते हैं और उससमय योगी अप्रमत्त होजाताहै और जीव दयावान् आत्मतत्व (आत्मज्ञान) से योगी ब्रह्मतत्त्वको देखताहै तब अज और नित्य जो संपूर्णतत्त्वोंसे विशुद्ध देव है उसको जानकर संपूर्णबंधनोंसे छुटता है ब्रह्मरूप तेज युक्त आत्माकी ओंकाररूपसे उपासना करै-और तिन उन्नत (सीधे) और सम शरीरको स्थापन करके और मन सहित इंद्रियोंको हृदयमें प्रविष्ट करके ब्रह्मनामसे भयके दाता संपूर्ण स्रोतोंको विद्वान् योगी तरै-ओंकाररूपसे आत्माका ध्यान करो-और

यतिधर्म प्रकरणमें मनुने लिखा है कि, परमात्माके योगसे भूत और भावी पदार्थोंको देखे तो स्थूल सूक्ष्मरूप दोनों देहोंको शीघ्र त्यागकर बन्धनसे छुट जाता है--याज्ञवल्क्यस्मृतिमें लिखा है कि, यज्ञ, आचार, इंद्रियोंका दमन, अहिंसा, दान, स्वाध्याय, कर्म--इनका यही परमधर्म है कि, योगसे आत्माको देखना--मातंगमहर्षिका वाक्य है ब्राह्मण अग्नि होम आदि संपूर्ण यज्ञोंको छोडकर योगाभ्यासमें तत्पर हुआ शांत होकर परब्रह्मको प्राप्त होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री और शूद्र इनके लिये पवित्रकर्मोंकी शांति और मुक्तिके अर्थ योगसे अन्य कोई वस्तु नहीं है--दक्षस्मृतिमें निषेधमुखसे कहा है कि, स्वसंवेद्य (स्वयं जानाजाय) जो वह ब्रह्म उसको योगीसे भिन्न इस प्रकार नहीं जानते हैं जैसे कुमारी (कन्या) स्त्रीके सुखको और जन्मांध वटको नहीं जानता है--इत्यादि स्मृतियोंमें और महाभारतमें भी योगमार्गमें व्यासने कहा है कि, वर्णावकृष्ट (पतित) वा धर्मकांक्षिणी नारी हो वे दोनों भी इस मार्गसे परमगतिको प्राप्त होते हैं संपूर्णधर्मोंका ज्ञाता हो वा अकृती (पुण्यहीन) हो धार्मिक हो वा अत्यंत पापी हो पुरुष हो वा नपुंसक हो ऐसा मनुष्यभी जरामरणसमुद्रके महादुःखके सेवनके जाननेका अभिलाषी शब्दब्रह्मका अवलम्बन करता है भगवद्गीतामें भी लिखा है कि, वशीभूत है मन जिसके ऐसा मनुष्य सदा इसप्रकार आत्मयोगको करता हुआ मेरेमें स्थितिरूप और मोक्ष है परम जिसमें ऐसे शान्तिरूप स्थानको प्राप्त होता है जो स्थान सांख्योंको प्राप्त होता है उसीमें योगीभी जाते हैं--आदित्यपुराणमें लिखा है, कि योगसे ज्ञान होताहै और मेरेमें एक रस चित्त रखनेको योग कहते हैं। स्कंदपुराणमें लिखा है कि, आत्मज्ञानसे मुक्ति होती है वह आत्मज्ञान योगके विना नहीं हो सकता और वह योग चिरकालके अभ्याससेही सिद्ध होता है--कूर्मपुराणमें शिवजीका वाक्य है कि, इससे आगे परमदुर्लभ योगको कहताहूँ जिससे सूर्यके समान ईश्वर आत्माको योगी देखते हैं और योगरूप अग्नि शीघ्रही सम्पूर्ण पापके पंजरको दग्ध करती है और प्रसन्न ज्ञान होता है और ज्ञानसे मोक्ष होजाता है--गरुणपुराणमें कहा है कि, बुद्धिमान् मनुष्य तिसप्रकार यत्न करे जैसे परमसुखहो और वह सुख योगसे मिलता है अन्य किसीसे नहीं--संसारके तापोंसे तपायमान मनुष्योंके लिये योग परम औषध है जिसकी निर्वेद (वैराग्य) से उत्पन्न हुई बुद्धि परब्रह्ममें प्रसक्त है योगरूप अग्निसे दग्धहुये हैं समस्त क्लेशसंचय जिसके ऐसा वह परमनिर्वाणपदको सदैव प्राप्त होता है इसमें संशय नहीं है--प्राप्त हुईही है योगसिद्धि जिसको उसको और आत्माके दर्शनसे पूर्ण जो है उसको कुछभी कर्तव्य नहीं देखते उसने सब कर लिया--आत्माराम और सदा पूर्णरूप और आत्यंतिक सुखको प्राप्त है इससे परमानंदरूप उसको निर्वेद (सुख), हो जाता है--तपसे जाना है आत्मा जिन्होंने और वशमें हैं इन्द्रियें जिनके ऐसे महात्म

योगीजन योगसेही महासमुद्र (जगत्) को तर जाते हैं--और विष्णुधर्मोंमें लिखा है कि, जो सब भूतोंका श्रेय है और स्त्रियोंका और कीट पतंगोंका भी उपकार है उस परमश्रेयको हमारे प्रति कहो. इस प्रकार देव और देवर्षियोंने कहा है जिनको ऐसे कपिलमुनि पहिले समयमें योगकोही श्रेय कहते भये--वासिष्ठमें लिखा है कि, हे राम !. संसारके विषका जो वेग उसकी विसूचिका दुःसह है वह योगरूप और पवित्र गारुडमंत्रसेही शांत होती है कदाचित् कोई शंका करै कि तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे भी अपरोक्ष प्रमाण (ज्ञान) होता है तो किसलिये अत्यंतश्रमसे साध्ययोगमें प्रयास कहते हो--कदाचित् कहो कि वाक्यसे जन्य ज्ञानके अपरोक्ष होनेमें प्रमाणका असंभव है सो नहीं--क्योंकि, तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अपरोक्ष है--अपरोक्ष विषयक होनेसे--चक्षुसे हुये घट आदिके प्रत्यक्षकी तुल्य यह अनुमान प्रमाण है कदाचित् कहो कि, विषयकी अपरोक्षताके नीरूप (रूपहीन) होनेसे हेतुकी असिद्धि है सो ठीक नहीं. क्योंकि अज्ञानका विषय चित्, और चित्तके संग तादात्म्यरूपको प्राप्तत्व, ये दोनों हैं रूप जिसके ऐसी जो विषयकी अपरोक्षता वह भलीप्रकार निरूपण करने योग्य है जैसे घट आदिमें जब चक्षुकी संनिकर्ष दशामें उसके अधिष्ठानरूप चैतन्यकी अज्ञाननिवृत्तिके होनेपर उसका चैतन्य अज्ञानका विषय होना, और उस घटका अज्ञान विषय चैतन्यके संग तादात्म्यकी प्राप्ति होना, ये दोनों अपरोक्ष हैं- तिसीप्रकार तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे शुद्ध चैतन्याकार वृत्तिके होनेपर उसके अज्ञानकी निवृत्ति होनेसेही तत्त्व अज्ञानका विषय नहीं रहा इससे चैतन्य अपरोक्ष है; इससे हेतुकी असिद्धि नहीं है-कदाचित् कहो कि, हेतु अप्रयोजक है अर्थात् अपने साध्यको सिद्ध नहीं करसकता, अपरोक्षता ज्ञानसे होती है इससे प्रत्यक्ष जो परोक्ष उसका विषयक होनेसे हेतु प्रयोजक है कुछ इन्द्रियजन्यही अपरोक्ष नहीं होता, क्योंकि मन इंद्रिय नहीं है उसकोभी सुख आदिकी विषयकता होनेसे व्यभिचार होजायगा अथवा अभिव्यक्त (प्रकट) चैतन्यके अभिन्नरूपसे जो भासमान होना वही विषयकी अपरोक्षता है और आवरणकी निवृत्ति होनेकोभी अभिव्यक्त कहते हैं-और परोक्ष वृत्तिके स्थलमें आवरण निवृत्तिका अभाव है इससे वहां अतिव्याप्तिरूप दोष नहीं है. जो मनुष्य रज्जु आदिमें सर्प आदि भ्रमके उत्पादक दोषवाला है उसको जो यह सर्प नहीं किंतु रज्जु है इस वाक्यसे उत्पन्न हुई जो वृत्ति वह आवरणको निवृत्त नहीं करती है इससे वहां परोक्षही विषय है और वेदांतके वाक्योंसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है आवरणका निवर्तक होनेसे वह अपरोक्षही है क्योंकि वह मनन आदिसे पूर्व उत्पन्न हुआ है और ज्ञाननिवर्तक प्रमाणकी असंभावना

आदि सम्पूर्ण दोषोंके अभाव विशिष्टही उस वेदांतवाक्योंसे जन्यज्ञानको अज्ञानकी निवर्तकताहै और उस उपनिषदोंसे प्रतिपादन किये पुरुषको पूछताहूँ इस श्रुतिसे प्रतिपन्न (सिद्ध) उपनिषद मात्रसे जो जाना जाताहै वह योगसेही जानाजायगा तिससे तत्त्वमसि आदि वाक्यसेही अपरोक्षज्ञान होताहै-सो ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमान अप्रयोजक है, क्योंकि प्रत्यक्षके प्रति और पूर्वोक्त अक्ष (इन्द्रिय) सामान्यके प्रति इन्द्रियरूपसे कारणताहै इससे इंद्रियसे जन्यत्वही प्रयोजक है और नित्य अनित्य साधारण प्रत्यक्षमें तो कुछ प्रयोजक नहीं होताहै और उनके मतमें तो किसी प्रत्यक्षमें इंद्रिय कारण है और किसी प्रत्यक्षमें शब्दविशेष कारण है इसप्रकार दो कार्य कारणभाव होजायँगे अर्थात् एक कार्यके दो कारण मानने पडेंगे-कदाचित् कहो कि मन इंद्रिय नहीं है सो भी नहीं क्योंकि, मन इंद्रियोंका नाथ है यह वचन मनुष्यके समान उद्देश करके मनुष्योंका यह राजाहै इसके समान मनुष्योंमें ही कुछ उत्कर्षको कहताहै कुछ मनको इंद्रियभिन्न नहीं कहताहै और तत्त्व तो यह है कि, मन इंद्रियोंमें एक अखंडोपाधिरूपही है इसीसे पायु (गुदा) आदि कर्मेंद्रिय और नेत्र आदि ज्ञानेंद्रिय हैं और जो प्रत्यक्षहो वह ऐंद्रियक और जो अप्रत्यक्ष हो वह अतींद्रिय कहाताहै इन शक्तिके निर्णायक कोशोंमें इंद्रियाप्रमाणक ज्ञानको अप्रत्यक्ष कहते हुये मनको इंद्रिय होना प्रतीत कराते हैं और दश और एक इंद्रिय है यह गीता वचनभी मनके इंद्रिय होनेमें प्रमाण है और तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे पैदा हुआ ज्ञान-शब्दसे उत्पन्न है, शब्दसे उत्पन्न होनेसे,-यज्ञ करे इत्यादि .वाक्योंसे उत्पन्न ज्ञानके समान-इस अप्रत्यक्ष विरोधि शब्दजन्यके साधक अनुमानसे सत्प्रतिपक्षभी है विरोधि पदार्थके साधक हेतुको सत्प्रतिपक्ष कहतेहैं-कदाचित् कहो कि, यह अनुमान अप्रयोजक है सोभी नहीं क्योंकि शब्दजन्य ज्ञानकाही शब्द जनक होताहै यह लाघवमूलक अनुकूल तर्क इस अनुमानमेंहै तेरे मतमें तो शब्दसेभी प्रत्यक्षके स्वीकार करनेसे दो कार्य कारण भाव होजायँगे इससे गौरवहै-और मनन, निदिध्यासनसे पहिले भी उत्पन्न है और तेरे मतमें परोक्षभी उक्तज्ञान अज्ञानका निवर्तक नहीं होगा इससे अज्ञाननिवृत्तिके प्रति बाधज्ञानरूपसेही हेतु मानना पडेगा यह भी गौरव है. मेरे मतमें तो समाधिका जो अभ्यास उसके परिपाकसे असंभावना आदि संपूर्ण मलोंसे रहित अर्थात् अन्तःकरणसे आत्माके देखनेपर और दर्शनमात्रसेही अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है इससे कोई भी गौरवका अवकाश नहीं है-और संपूर्ण भूतोंमें यह गुप्त आत्मा प्रकाशित नहीं होता है, परन्तु सूक्ष्मदर्शी मनुष्य इस आत्माको सूक्ष्म और मुख्य जो बुद्धि उससे देखते हैं-धीर मनुष्य वाणी और मनको रोके इन वचनोंसे लेकर अज्ञानकी निवृत्ति है अर्थ जिसका ऐसे इस कठवल्लीके मृत्युके मुखसे छुटताहै मृत्युके उपदेशकोभी

यह बात संमत है इससे इसमें कोई विवाद नहीं है—और यदि मनन आदिसे पूर्व उत्पन्न हुआ ज्ञान परोक्षही है इससे प्रतिबन्धका किया गौरव नहीं है इस मतको मानोगे तो तब भी श्रवण आदिसे मनका संस्कार सिद्ध होनेपर उसके अनन्तर कालहीमें आत्माका दर्शन संभवहै इससे उसके अनन्तर वाक्योंके स्मरण आदिको कल्पना करनेमें भी महान् गौरवहै-कदाचित् शंका करो कि हम केवल तर्कसे शब्दजन्य ज्ञानको अपरोक्ष नहीं कहते हैं किंतु श्रुति भी कहती हैं सोई दिखातेहैं कि, उस उपनिषदोंसे कहे हुये पुरुषको मैं पूछता हूँ इस श्रुतिसे जो पुरुषको औपनिषदरूप कहाहै वह कुछ उपनिषदोंसे उत्पन्न जो बुद्धि उसकी विषयमात्र नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदिसे जानने योग्यमें औपनिषद् यह व्यवहार हो-जायगा जैसे बारह कपालोंमें आठ कपालोंके होनेपरभी द्वादश कपालोंमें संस्कार किये पदा-र्थमें आठ कपालोंमें संस्कृत यह व्यवहार नहीं होताहै और जैसे द्विपुत्र मनुष्यमें एकपुत्र व्यवहार नहीं होताहै तैसेही यहां भी समझना और अन्यत्र तैसा व्यवहार नहीं होताहै इससे उपनिषदमात्रसे जानने योग्यही यहां प्रत्ययका अर्थ है और मनसे जानने योग्य आत्माको मानोंगे तो वह सिद्ध नहीं होगा यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्ययसे, उपनिषदसे भिन्न जो सबकारण हैं उनकी निवृत्ति (निषेध) नहीं होती है, क्योंकि शब्दके अपरोक्ष-वादी अपने भी आत्माके परोक्षज्ञानमें मन आदि करण माने हैं किन्तु प्रत्ययसे पुराण आदि जो अन्य शब्द हैं उनकीही व्यावृत्ति होती है, क्योंकि श्रुतिके वाक्योंसे आत्मा सुनने योग्य है यह कहाहै और वह अर्थ मुझे भी संमत है इससे आपका कथन तुच्छ है और प्रमाणां-तरकी व्यावृत्तिमें श्रुतिके तात्पर्यकी कल्पना तभी कहनी योग्य है जब शब्दरूप प्रमाण सिद्ध होजाय और पुराण आदि शब्दांतरकी व्यावृत्तिमें तात्पर्य तो श्रुति आदिका संमत होनेसे कल्पना करनेको उचितही है ऐसा सिद्ध होनेपर यह आत्मा मनसेही देखने योग्य है इत्यादि श्रुतिभी अनायाससे लगसकती है जो किसीने यह कहा है कि, दर्शनवृत्तिके प्रति जो मनमात्रकोही उपादान कहती हैं उन श्रुतियोंके संग कुछ विरोध नहीं है । यह उनका कहना तो अत्यंतही विचारमें नहीं आसकता क्योंकि,प्राणकी आकां-क्षामें प्रवृत्त हुई ये श्रुति उपादानमें तत्पर कैसे होसकती हैं क्योंकि काम, संकल्प, विचि-कित्सा (संदेह) ये सब मनहीसे हैं इत्यादि श्रुतिसे निश्चयपूर्वक सब वृत्तियोंका मनकोही उपादान कारण बोधन करदिया तब आकांक्षाके अभावसे उपादानमें तात्पर्यको श्रुति कैसे वर्णन करसकती है । पहिले दूसरी वल्लीमें ओंकारको ब्रह्मबोधक कहा है इससे ओंकारभी अपरोक्षज्ञानका हेतु होजायगा, इस शंकाके निवारण करनेके लिये मनसे ही

आत्मा देखने योग्य है. इत्यादि निश्चायक वचन हैं इसरीतिसे संपूर्ण श्रुति वर्णन करने (लगाने) को शक्य हैं इसप्रकार वाक्जालसे अलं है अर्थात् वाणीके जालको समाप्त करते हैं सिद्धांत तो यह है कि, योगियोंको समाधिकेविषे दूर और विप्रकृष्टपदार्थोंका जो ज्ञान है संपूर्ण शास्त्रोंमें प्रसिद्ध वह ज्ञान परोक्ष नहीं है, क्योंकि उससमय कोई परोक्षकी सामग्री नहीं है और स्मरण भी नहीं है क्योंकि उनका पहिले पृथक २ अनुभव नहीं है और सुखआदिके ज्ञान समान वह साक्षिस्वरूपभी नहीं है क्योंकि इसमें सिद्धांतका विघात. है और प्रमाणरहितभी नहीं है क्योंकि संपूर्ण प्रमाणोंमें कारणका नियम है और चक्षुआदिसे उत्पन्न भी वह ज्ञान नहीं है क्योंकि चक्षुआदिका उस समय संनिकर्ष नहीं है तिससे वह मानसिक प्रमाही कहनी चाहिये इससे मन प्रमाणरूप और इंद्रिय है यह निर्दोष है—और भी जो योग और श्रुतिके समुच्चयकी कल्पना करते हैं उनके भी मतमें पूर्वोक्त दूषणोंका गण तदवस्थही है तिससे यह सिद्धभया कि, योगजन्य संस्कार है सहायक जिसका ऐसे मनसेही आत्मा जानने योग्य है कदाचित् कोई कहै कि, कामिनीकी भावना करनेवाले पुरुषको जैसे व्यवहित (दूरस्थित) कामिनीका साक्षात्कार अप्रमा होता है उसीप्रकार भावनासे उत्पन्न आत्मसाक्षात्कारभी अप्रमा होजायगा सोभी ठीक नहीं क्योंकि आत्मसाक्षात्कारका विषय (आत्मा) बाधित नहीं है और न दोषसे जन्य है कामिनीका साक्षात्कार तो बाधित विषयक है और दोषजन्यभी है इससे अप्रमाण है तिससे भावनासे जन्य आत्मसाक्षात्कार अप्रमाण नहीं है कदाचित् कहो कि, भावनाको समाधिका ज्ञापक मानोगे तो यह भी एक प्रमाण होजायगा सो ठीक नहीं क्योंकि, भावना मनकी सहकारिणी है इससे प्रमाणके निरूपणमें अनिपुण नैयायिक आदिकोंने भी योगजप्रत्यक्षका अलौकिक प्रत्यक्षमें अन्तर्भाव किया है और योगसे उत्पन्न हुये अलौकिक संनिकर्षसे योगिजन व्यवहित विप्रकृष्ट और सूक्ष्म पदार्थरूप भी आत्माको यथार्थरीतिसे देखते हैं—सोई इस पातंजलसूत्रमें कहा है कि, उक्त समाधिमें जो सत्यप्रज्ञा (बुद्धि) है उसके शब्दबोध और अनुमानसे अर्थात् युक्ति सिद्धज्ञान है उनसे वह प्रज्ञा अन्यविषयक होजाती है अर्थात् भिन्न अर्थकोभी विषय करलेती है क्योंकि उसका विषय निर्विकल्प अर्थ है-तिससे शब्द पदार्थ वृत्तिधर्म (घटत्व आदि) पुरस्कारके) विनाही और अनुमानव्यापकमें वर्तमान धर्मके पुरस्कार (ज्ञान) सेही बोधके जनक नियमसे है इससे अर्थके ग्रहणमें योग्य विशेष्यमेंही तत्पर है अर्थात् योगविषयकोही ग्रहण करते हैं यहां व्यासजीका रचा यह भाष्य है कि, श्रुतनाम आगमविज्ञान है—वह आगमविज्ञान सामान्य विषय है क्योंकि आगम विशेषको नहीं कहसकता, क्योंकि विशेषरूपसे शब्दका संकेत नहीं होता है--इससे आरम्भ करके समाधि प्रज्ञासे भलीप्रकार ग्रहण करने योग्य

वह विशेष है और वह पुरुषगत है वा भूतसूक्ष्मगत है-योगवीजमें कहा है कि, ज्ञाननिष्ठहो वा विरक्तहो धर्मज्ञहो वा जितेंद्रियहो योगके विना देव भी हे प्रिये ! मोक्षको प्राप्त नहीं होता है और यह श्रुति भी है कि, कर्मके संग उसीबातके करनेमें यह मनुष्य असक्त है जिसमें इसका मनरूप लिंग प्रविष्ट है और स्मृति भी है कि सत् असत् योनियोंके जन्मोंमें इसको गुणोंका संगही कारण है--देहके मरणसमयमें जिसविषयमें राग आदिसे उद्बुद्ध होता है उसीयोनिको जीव प्राप्त होता हैं इससे योगहीनका अन्य जन्म होता है, क्योंकि, मरणके समयमें हुई जो विक्लवता उसको अयोगी नहीं हटा सकता है सोई योगवीजमें कहा है कि, देहके अन्तसमयमें जिस २ को विचारता है वही वह जीव होजाता है यही जन्मका कारण है देहके अन्तमें कौन जन्म होगा यह मनुष्य नहीं जानते हैं--तिससे ज्ञान, वैराग्य, जप ये केवल श्रम हैं जब पिपीलिका (चेंटी) देहमें लग जाती है और ज्ञानसे छुटजाती है तो वृश्चिकोंसे डसा हुआ यह जीव देहके अन्तमें कैसे सुखी हो सकता है--योगियोंको तो योगके वलसे अन्तकालमें भी आत्मविचारसे मोक्षही होता है जन्मांतर नहीं होता है, सोई भगवान्ने कहा है कि मरण समयमें अचल मनसे भक्तिसे युक्त वा योगके वलसे मोक्ष होता हैं और यह श्रुतिभी हैं कि एकसौ एक हृदयकी नाडी हैं कदाचित् कहो कि, तत्वमसि आदि वाक्यको अपरोक्षज्ञानका जनक मानोगे तो उसका विचार करना व्यर्थ है,--सो ठीक नहीं क्योंकि वाक्यके विचारसे उत्पन्न जो ज्ञान है वह योगके द्वारा अपरोक्ष साधन है इसविषयमें योगवीजमें गौरी और महादेवका वहुत संवाद हैं उसमेंसे कुछ यहां लिखते हैं कि पार्वती बोली जो ज्ञानी मरते हैं उनकी कैसी गति होती है--हे देवेश ! हे दयारूप अमृतके समुद्र ! इसको कहो, ईश्वर बोले कि, देहके अन्तमें ज्ञानीको पुण्य पापसे जो फल प्राप्त होता है उसको भोगकर फिर ज्ञानी होजाता है फिर पुण्यसे सिद्धोंके संग संगतिको प्राप्त होता है फिर सिद्धोंकी कृपासे योगी होताहै अन्यथा नहीं होता, फिर संसार नष्ट होजाता है अन्यथा नहीं । यह शिवका कथन है. पार्वती बोली ज्ञानी सदा ज्ञानसेही मोक्षको कहते हैं तो सिद्धयोगसे योग मोक्षका दाता कैसे होजाता है ? ईश्वर वोले ज्ञानसे मोक्ष होता है यह उनका वचन अन्यथा नहीं हैं--जैसे सव कहते हैं कि, खङ्गसे जय होता है तो युद्ध और वीर्यके विना जयकी प्राप्ति कैसे होगी--तैसेही योगरहित ज्ञानसे मोक्ष नहीं होता है इत्यादि--कदाचित् कोई शंका करै कि, जनक आदिकोंको योगके विनाही प्रतिवंधरहित ज्ञान और मोक्ष सुने जाते हैं तो कैसे योगसेही प्रतिवंधरहित ज्ञान और मोक्ष होंगे--इसशंकाका उत्तर देते हैं कि, उनको पूर्वजन्ममें किये योगसे उत्पन्न जो

संस्कार उससे ज्ञानकी प्राप्ति पुराण आदिमें सुनी जाती है सोई दिखाते हैं कि जैसे जैगीषव्य ब्राह्मण और असित आदि ब्राह्मण और जनक आदि क्षत्रिय और तुलाधार आदि वैश्य ये पूर्वजन्ममें किये अभ्यासके योगसे परमसिद्धिको प्राप्त हुये और धर्मव्याध आदि सात शूद्र पैलवकआदि--और मैत्रेयी सुलभा शार्ङ्गी शांडिली ये तपस्विनी--ये और अन्य बहुतसे नीचयोनिमें गतभी पूर्वजन्ममें किये अभ्यासके योगसे परमज्ञान निष्ठाको प्राप्त हुये--और पूर्वजन्ममें किये योगके पुण्यके अनुसार कोई ब्रह्मा कोई ब्रह्माके पुत्र कोई देवर्षि कोई ब्रह्मर्षि कोई मुनि कोई भक्तरूपको प्राप्त हुये हैं-और उपदेशके विनाही आत्मसाक्षात्कार वाले हो जायँगे सोई दिखाते हैं कि हिरण्यगर्भ, वसिष्ठ, नारद, सनत्कुमार, वामदेव, शुक आदिये पुराण आदिमें जन्मसेही सिद्ध सुने हैं और जो पुराण आदिमें यह सुना है कि ब्राह्मणही मोक्षका अधिकारी है-वह योगीसे भिन्नके विषयमें समझना सोई गरुडपुराणमें कहा है कि, जन्मांतरमें किया योगाभ्यास जिन मनुष्योंको नहीं है उनको योगप्राप्तिके लिये शूद्र वैश्य आदिका क्रम है वे स्त्रीसे शूद्र होते हैं और शूद्रसे वैश्य होते हैं और दयासे रहित क्षत्रिय होजाते हैं फिर अनूचान (विद्यावान्)-यज्ञका कर्ता-फिर कर्मसन्यासी होते हैं फिर ज्ञानी योगी होकर क्रमसे मुक्तिको प्राप्त होजाते हैं अर्थात् शूद्र वैश्य आदि क्रमसे योगी होकर मुक्तिको प्राप्त होजाते हैं इसप्रकार सब जातियोंका अधिकार सुननेसे योगसे उत्पन्न तत्त्वज्ञानके द्वारा सब मुक्त होते हैं यह सिद्ध भया-और भ्रष्टभी योगीको तो शूद्र आदिका क्रम नहीं है क्योंकि भगवान्का यह वचन है कि, योगसे भ्रष्टमनुष्य, शुद्ध जो धनी उनके कुलमें पैदा होता है अथवा बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें पैदा होता है-इति अलम्--भावार्थ--यह है कि, जबतक प्राण जीवै और मन न मरै तबतक इसलोकमें ज्ञान कहांसे होसकता है और जो मनुष्य प्राण और मनका लयकरदे वह मोक्षको प्राप्त होता है अन्यमनुष्य किसीप्रकार भी प्राप्त नहीं होता है ॥ १५ ॥

ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरंध्रे निरोधयेत् ॥ १६ ॥

प्राणमनसोर्लयं विना मोक्षो न सिध्यतीत्युक्तम्। तत्र प्राणलयेन मनसोऽपि लयः सिध्यतीति तल्लयरीतिमाह-ज्ञात्वेति ॥ सदैव सर्वदेव सुस्थाने शोभने स्थाने 'सुराज्ये धार्मिके देशे' इत्याद्युक्तलक्षणे स्थित्वा स्थितिं कृत्वा वसतिं कृत्वेत्यर्थः। सुषुम्ना मध्यनाडी तस्याः सद्भेदं शोभनं भेदनप्रकारं ज्ञात्वा गुरुमुखाद्विदित्वा वायुं प्राणं मध्यगं मध्यनाडीसंचारिणं कृत्वा ब्रह्मरंध्रे मूर्धावकाशे निरोधयेन्नितरां रुद्धं कुर्यात्। प्राणस्य ब्रह्मरंध्रे निरोधो लयःप्राणलये जाते मनोऽपि लीयते

तदुक्तं वासिष्ठे–'अभ्यासेन परिस्पंदे प्राणानां क्षयमागते । मनः प्रशमायाति निर्वाणमवाशिष्यते ॥' इति। प्राणमनसोर्लये सति भावनाविशेषरूपसमाधिसहकृतेनांतःकरणेनाबाधितात्मसाक्षात्कारो भवति तदा जीवन्नेव मुक्तः पुरुषो भवति ॥ १६ ॥

भाषार्थ–प्राण और मनके लयविना मोक्ष सिद्ध नहीं होता यह कहा उनमें प्राणके लयसे मनकाभी लय सिद्ध होता है इससे प्राणके लयकी रीतिका वर्णन करते हैं कि, सदैव उत्तमस्थानमें अर्थात् उत्तमराज्य और धार्मिकदेशमें स्थित होकर सुषुम्ना नाडीके भेदनको भलीप्रकार गुरुमुखसे जानकर और प्राणवायुको मध्यनाडीमें गत (संचारी) करके ब्रह्मरंध्र (मूर्द्धाके अवकाश) में निरुद्ध करे (रोकै) प्राणका ब्रह्मरंध्रमें जो निरोध वही लय है और प्राणके लय होनेपर मनका भी लय होजाता है सोई वासिष्ठमें कहा है कि अभ्याससे जब प्राणोंकी क्रियाका क्षय होजाताहै तब मन शांत होजाता है और निर्वाणही शेष रहजाता है और प्राण और मनका लय होनेपर भावना विशेषरूप समाधि है सहकारी जिसकी ऐसे अंतःकरणसे अबाधित आत्मसाक्षात्कार जब होजाता है तब पुरुष जीवन्मुक्त होजाता है ॥ १६ ॥

सूर्याचंद्रमसौ धत्तः कालं रात्रिंदिवात्मकम् ॥
भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥ १७ ॥

प्राणलये कालजयो भवतीत्याह–सूर्याचंद्रमसाविति ॥ सूर्यश्च चंद्रमाश्च सूर्याचंद्रमसौ ॥ "देवताद्वंद्वे च" इत्यानङ् । रात्रिश्च दिवा च रात्रिंदिवम् 'अचतुर' इत्यादिना निपातितः । रात्रिंदिवं आत्मा स्वरूपं यस्य स रात्रिंदिवात्मकस्तं रात्रिंदिवात्मकं कालं समयं धत्तो विधतः कुरुतः । सुषुम्ना सरस्वती कालस्य सूर्याचंद्रमोभ्यां कृतस्य, रात्रिंदिवात्मकस्य समयस्य भोक्त्री भक्षिका विनाशिका । एतद्गुह्यं रहस्यमुदाहृतं कथितम् । अयं भावः । सार्धं घटिकाद्वयं सूर्यो वहति सार्धं घटिकाद्वयं चंद्रो वहति । यदा सूर्यो वहति तदा दिनमुच्यते । यदा चंद्रो वहति तदा रात्रिरुच्यते । पंचघटिकामध्ये रात्रिंदिवात्मकः कालो भवति । लौकिकाहोरात्रमध्ये योगिनां द्वादशाहोरात्रात्मकः कालव्यवहारो भवति । तादृशकालमानेन जीवानामायुर्मानमस्ति । यदा सुषुम्नामार्गेण वायुर्ब्रह्मरंध्रे लीनो भवति । तदा रात्रिंदिवात्मकस्य कालस्याभावादुक्तम् 'भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य' इति। यावद्ब्रह्मरंध्रे वायुर्लीयते तावद्योगिन आयुर्वर्धते दीर्घकालाभ्य-

स्तसमाधिर्योगी पूर्वमेव मरणकालं ज्ञात्वा ब्रह्मरंध्रे वायुं नीत्वा कालं निवारयति स्वेच्छया देहत्यागं च करोतीति ॥ १७ ॥

भाषार्थ-अब प्राणका लय होनेपर कालका जय होताहै इसको वर्णन करतेहैं कि सूर्य और चंद्रमा, रात्रिदिन हैं स्वरूप जिसके ऐसे कालको करतेहैं और सुषुम्ना जो नाडी है वह सरस्वतीरूप नाडी सूर्य और चंद्रमाके किये रात्रिदिनरूप कालको भक्षण करनेवाली है अर्थात् नाशिका है यह गुप्त वस्तु कही है तात्पर्य यह है कि, अढाई घडीतक सूर्य वहताहै और अढाई घडीतक चंद्रमा वहताहै जब सूर्यस्वर वहताहै वह दिन कहाता है और जब चंद्रमा वहताहै तब रात्रि कहातीहै. इसप्रकार पांच घडीके मध्यमेंही रात्रिदिनरूप काल होजाताहै लौकिक अहोरात्रके मध्यमें योगियोंके बारह अहोरात्र होतेहैं और उसी लौकिक कालके मानसे जीवोंकी आयुका प्रमाण है जब सुषुम्नाके मार्गसे वायु ब्रह्मरन्ध्रमें लीन होजाताहै तब रात्रिदिनरूप कालके अभावसे कहा है कि, सुषुम्ना कालकी भोक्ती है जितने कालतक वायु ब्रह्मरन्ध्रमें लीन रहता है उतनेही कालतक योगियोंकी आयु बढतीहै बहुत कालतक कियाहै समाधिका अभ्यास जिसने ऐसा योगी पहिलेही अपने मरणसमयको जानकर और ब्रह्मरन्ध्रमें प्राण वायुको लेजाकर कालका निवारण करताहै और अपनी इच्छासे देहका त्याग करता है ॥ १७ ॥

द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पंजरे ॥
सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥१८॥

द्वासप्ततीति ॥ पंजरे पंजरवच्छिरास्थिभिर्बद्धे शरीरे द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीनां शिराणां द्वाराणि वायुप्रवेशमार्गाः संति सुषुम्ना मध्यनाडी शांभवी शक्तिरस्ति शं सुखं भवत्यस्माद्भक्तानामिति शंभुरीश्वरस्तस्येयं शांभवी। ध्यानेन शंभुप्रापकत्वात्। शंभोराविर्भावजनकत्वाद्वा शांभवी। यद्वा शं सुखरूपो भवति तिष्ठतीति शंभुरात्मा तस्येयं शांभवी चिदभिव्यक्तिस्थानत्वाद्ध्यानेनात्मसाक्षात्कारहेतुत्वाच्च। शेषा इडापिंगलादयस्तु निरर्थका एवं निर्गतोऽर्थः प्रयोजनं यासां ता निरर्थकाः। पूर्वोक्तप्रयोजनाभावात् ॥ १८ ॥

भाषार्थ-इस मनुष्यके पंजरमें अर्थात् पंजरके समान शिरा अस्थियोंसे बँधेहुये शरीरमें बहत्तर सहस्र नाडियोंके द्वार हैं अर्थात् वायुप्रवेश होनेके मार्ग हैं उनमें सुषुम्ना जो मध्यनाडी है वह शांभवी शक्ति है अर्थात् तिससे भक्तोंको सुखहो ऐसे शम्भु (शिवजी) की शक्ति है क्योंकि वह नाडी ध्यानसे शम्भुको प्राप्त करती है वा शम्भुकी प्रकटताको पैदा

करती है इसीसे शांभवी कहाती है अथवा शं (सुख) रूप जो टिके उस आत्माको शम्भु कहतेहैं उसकी जो शक्ति वह शांभवी कहाती है क्योंकि वह चैतन्यकी अभिव्यक्ति (प्रकटता) का स्थान है और ध्यानसे आत्माके साक्षात्कारका हेतु भी सुषुम्ना है और शेष जो इडा पिंगला आदि नाडी हैं वे सब निष्प्रयोजन हैं अर्थात् उनसे पूर्वोक्त प्रयोजन सिद्ध नहीं होताहै ॥ १८ ॥

वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुंडलीम् ॥
बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥ १९ ॥

वायुरिति ॥ यस्मात्परिचितोऽभ्यस्तो वायुस्तस्मादग्निना जठराग्निना सह कुण्डलीं शक्तिं बोधयित्वा अनिरोधतोऽप्रतिबंधात्सुषुम्नायां सरस्वत्यां प्रविशेत् वायोः सुषुम्नाप्रवेशार्थमभ्यासः कर्तव्य इत्यर्थः ॥१९॥

भाषार्थ-जिससे परिचित अर्थात् अभ्यास किया वायु जठराग्निके संग कुण्डलीशक्तिको बोधन (जगा) करके निरोध (रोक) के अभावसे सरस्वतीरूप सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै इससे वायुका सुषुम्नामें प्रवेशके लिये अभ्यास करना उचित है ॥ १९ ॥

सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी ॥
अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥ २० ॥

सुषुम्नेति ॥ प्राणे सुषुम्नावाहिनि सति मनोन्मनी उन्मन्यवस्था सिद्ध्यत्येव । अन्यथा प्राणे सुषुम्नावाहिन्यसति तु इतराभ्यासाः सुषुम्नेतराभ्यासा योगिनां योगाभ्यासिनां प्रयासायैव श्रमायैव भवंतीत्यर्थः ॥ २० ॥

भाषार्थ-जब प्राण सुषुम्नामें वहने लगताहै तब मनोन्मनी अवश्य सिद्ध होजाती है और प्राणके सुषुम्नावाही न होनेपर तो सुषुम्नाके अभ्याससे भिन्न जितने अभ्यास योगियोंके हैं वे सब वृथा हैं अर्थात् परिश्रमके ही जनक होनेसे उनसे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होताहै ॥ २० ॥

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ॥
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥ २१ ॥

पवन इति ॥ येन योगिना पवनः प्राणवायुर्बध्यते बद्धः क्रियते तेनैव योगिना मनो बध्यते । येन मनो बध्यते तेन पवनो बध्यते । मनःपवनयोरेकतरे बद्धे उभयं बद्धं भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

भाषार्थ-योगी जिससे पवनका बंधन करलेताहै उसीसे मनको भी बंधन करलेता है

और जिस कारणसे मनका बंधन करसकता है उसी रीतिसे प्राणकोभी बांध सकता है अर्थात् मन और पवन इन दोनोंमेंसे एकके बन्धनसे दोनोंका बन्धन हो सकता है ॥ २१ ॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ॥
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः ॥ २२ ॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्येति ॥ चित्तस्य प्रवृत्तौ हेतुद्वयं कारणद्वयमस्ति किं तदित्याह-वासना भावनाख्यः संस्कारः समीरणः प्राणवायुश्च तयोर्वासनासमीरणयोरेकस्मिन्विनष्टे सति क्षीणे सति तौ द्वावपि विनश्यतः। अयमाशयः। वासनाक्षये समीरणचित्ते क्षीणे भवतः। समीरणे क्षीणे चित्तवासने क्षीणे भवतः। चित्ते क्षीणे समीरणवासने क्षीणे भवतः। तदुक्तं वासिष्ठे-'द्वे बीजे रामचित्तस्य प्राणस्पंदनवासने। एकस्मिंश्च तयोर्नष्टे क्षिप्रं द्वेअपि नश्यतः ॥' तत्रैव व्यतिरेकेणोक्तम्-'यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः। न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति ॥ न यावद्याति विज्ञानं न तावच्चित्तसंक्षयः। यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम् ॥ यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः। यावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः ॥ तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च। मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः। त्रय एते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः तावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाश्रितैः ॥' इति ॥ २२ ॥

भाषार्थ-चित्तकी प्रवृत्तिमें दो हेतु हैं एक तो वासना अर्थात् भावना नामका संस्कार और प्राणवायु, वासना और प्राणवायु इन दोनोंमेंसे एकके नष्ट होनेपर वे दोनोंभी नष्ट हो जाते हैं-यहां यह आशय है कि, वासनाके क्षय होनेपर-पवन और चित्त नष्ट होजाते हैं-और पवनके क्षीण होनेपर चित्त और वासना नष्ट होजातेहैं-और चित्तके क्षीण होनेपर पवन और वासना क्षीण होजातेहैं-सोई वासिष्ठमें कहाहै कि, हे राम! प्राणकी क्रिया और वासना ये दोनों चित्तके बीज हैं उन दोनोंके मध्यमें एकके नष्ट होनेपर वे दोनोंभी नष्ट होजातेहैं-और वासिष्ठमें ही व्यतिरेक (निषेध) के द्वारा कहा है कि जबतक मनका लय नहीं होता तबतक वासनाका क्षय नहीं होताहै और इतने वासनाका क्षय नहीं होता तब तक चित्त शांत नहीं होताहै और जबतक विज्ञान नहीं होता तबतक चित्तका संक्षय नहीं होता है-और जबतक चित्त शांत नहीं होता तबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता है और जबतक वासनाका नाश न हो तबतक तत्त्वका आगमन कहां-और जबतक तत्त्वका आगम (प्राप्ति) न हो तबतक वासनाका क्षय नहीं होता-इससे तत्त्वज्ञान मनका नाश-और

वासनाका क्षय ये तीनों परस्पर कारण होकर दुःखसे साध्यरूप होकर स्थित हैं इससें जब तक इन तीनोंका समरीतिसे वारंवार अभ्यास न किया जाय तबतक अन्य कारणोंसे तत्त्व (ब्रह्मज्ञान) की संप्राप्ति नहीं होती है ॥ २२ ॥

मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ॥
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥ २३ ॥

मन इति ॥ यत्र यस्मिन्नाधारे मनो लीयते तत्र तस्मिन्नाधारे पवनो विलीयत इत्यन्वयः ॥ २३ ॥

भाषार्थ–जिसमें मनका लय होता है वहांही पवनका लय हो जाता है और जहां पवनका लय होता है वहां ही मनभी लीन हो जाता है ॥ २४ ॥

दुग्धांबुवत्संमिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि॥
यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥२४॥

दुग्धांबुवदिति ॥ दुग्धांबुवत्क्षीरनीरवत्संमिलितौ सम्यक् मिलितौ तावुभौ द्वावपि मानसमारुतौ मानसं च मारुतश्च मानसमारुतौ चित्तप्राणौ तुल्यक्रियौ तुल्या समा क्रिया प्रवृत्तिर्ययोस्तादृशौ भवतः तुल्यक्रियत्वमेवाह–यत इति। यतः यत्र सार्वविभक्तिकस्तसिः। यस्मिन् चक्रे मरुद्वायुः प्रवर्तते तत्र तस्मिन् चक्रे मनःप्रवृत्तिः मनसः प्रवृत्तिर्भवति। यतो यस्मिन् चक्रे मनः प्रवर्तते तत्र तस्मिश्चक्रे मरुत्प्रवृत्तिवायोः प्रवृत्तिर्भवतीत्यर्थः। तदुक्तं वासिष्ठे–'अविनाभाविनी नित्यं जंतूनां प्राणचेतसी। कुसुमादेवन्मिश्रे तिलतैले इवास्थिते॥ कुरुतश्च विनाशेन कार्यं मोक्षाख्यमुत्तमम्' इति ॥ २४ ॥

भाषार्थ--दूध और जलके समान मिलेहुये मन और पवनरूप जो चित्त और प्राण हैं वे दोनों तुल्यक्रिय हैं अर्थात् दोनोंकी प्रवृत्ति तुल्य होती है अर्थात् जिस नाडियोंके चक्रमें वायु प्रवृत्त होताहै उसी चक्रमें मनकी प्रवृत्ति होती है और जिस चक्रमें मन प्रवृत्त होता है उसी चक्रमें वायुकी प्रवृत्ति होती है सोई वासिष्ठमें कहा है कि, प्राणियोंके प्राण और चित्त दोनों अविनाभावी हैं अर्थात् एकके विना एक नहीं होसकता है और पुष्प और सुगंधके समान मिलेहुए तिल और तेलके समान स्थित है और ये अपने विनाशसे मोक्षरूप उत्तम कार्यको करते हैं ॥ २४ ॥

तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ॥
अध्वस्तयोश्चेंद्रियवर्गवृत्तिः प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः॥२५॥

तत्रेति ॥ तत्र तयोर्मानसमारुतयोर्मध्ये एकस्य मानसस्य मारुतस्य वा नाशाल्लयादपरस्यान्यस्य मारुतस्य मानसस्य वा नाशो लयो भवति। एकप्रवृत्तेरेकस्य मानसस्य मारुतस्य वा प्रवृत्तेर्व्यापारादपरप्रवृत्तिरपरस्य मारुतस्य मानसस्य वा प्रवृत्तिर्व्यापारो भवति। अध्वस्तयोरलीन-योर्मानसमारुतयोः सतोरिंद्रियवर्गवृत्तिरिंद्रियसमुदायस्य स्वस्वविषये प्रवृत्तिर्भवति। प्रध्वस्तयोः प्रलीनयोस्तयोः सतोर्मोक्षपदस्य मोक्षाख्य-पदस्य सिद्धिर्निष्पत्तिर्भवति। तयोर्लये पुरुषस्य स्वरूपेऽवस्थानादित्यर्थः। 'तत्रापि साध्यः पवनस्य नाशः षडंगयोगादिनिषेवणेन। मनोविनाशस्तु गुरोः प्रसादान्निमेषमात्रेण सुसाध्य एव' ॥ योगबीजे मूलश्लोकस्याय-मुत्तरः श्लोकः ॥ २५ ॥

भाषार्थ-उन दोनों पवन और मनके मध्यमें एक मन वा पवनके नाशसे दूसरे पवन वा मनका नाश होता है और एक मन वा पवनके व्यापारसे दूसरे मन वा पवनका व्यापार होता है और जबतक मन और पवन नष्ट नहीं होते तबतक संपूर्ण इन्द्रियोंका समुदाय अपने २ विषयमें प्रवृत्त होता है और जब मन और प्राणका अधिकार लय होजाता है तब मोक्षरूप पदकी सिद्धि होती है, क्योंकि इन दोनोंका लय होनेपर पुरुषकी अपने स्वरूपमें स्थिति होजाती है और इस मूलके श्लोकका उत्तरश्लोक योगबीजमें यह लिखा है कि, षडंगयोग आदिके सेवनसे पवनका नाश साधन करने योग्य है और मनका विनाश तो गुरुके प्रसादद्वारा निमेषमात्रसे सुसाध्य है ॥ २५ ॥

रसस्य मनसश्चैव चंचलत्वं स्वभावतः ॥
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्ध्यति भूतले ॥२६॥

रसस्येति ॥ रसस्य पारदस्य मनसो मानसस्य स्वभावतः स्वभावा-च्चंचलत्वं चांचल्यमस्ति। रसः पारदो बद्धश्चेन्मनश्चित्तं बद्धं भवति। ततोभूतले पृथिवीतले किं न सिद्ध्यति सर्वं सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

भाषार्थ-और रस (पारा) और मन ये दोनों स्वभावसे चंचल हैं। यदि रस और मन ये दोनों बंधजायँ तो भूतलमें ऐसी वस्तु कौन है जो सिद्ध न हो सकै अर्थात् सब पदार्थ सिद्ध होसकते हैं ॥ २६ ॥

मूर्च्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ॥
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ॥२७॥

तदेवाह-मूर्च्छित इति॥ औषधिविशेषयोगेन गतचापलो रसो मूर्च्छितः कुम्भकांते रेचकनिवृत्तो वायुर्मूर्च्छित इत्युच्यते। हे पार्वतीति

पार्वतीसुबोधायेश्वरवाक्यम् । मूर्च्छितो रसः पारदो वायुः प्राणश्च व्याधीन् रोगान् हरते नाशयति । भस्मीभूतो रसो ब्रह्मरंध्रे लीनो वायुश्च मृतः स्वयमात्मना स्वसामर्थ्येनेत्यर्थः । जीवयति दीर्घकालं जीवनं करोति । क्रियाविशेषेण गुटिकाकारकृतो रसः बद्धो भ्रूमध्यादौ धारणाविशेषेण धृतो वायुश्च बद्धः खेचरतामाकाशगामित्वं धत्ते विधत्ते करोतीत्यर्थः । तदुक्तं गोरक्षकशतके—'यद्भिन्नांजनपुंजसन्निभमिदं वृत्तं भ्रुवोरंतरे तत्त्वं वायुमयं यकारसहितं तत्रेश्वरो देवता । प्राणं तत्र विलाप्य पंचघटिकं चित्तान्वितं धारयेदेषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायुना धारणा' इति ॥ २७ ॥

भावार्थ—औषधिविशेषके योगसे नष्ट हुई है चपलता जिसकी ऐसा रस मूर्च्छित कहाता है और कुंभकके अंतमें रेचकसे निवृत्त वायुको मूर्च्छित कहते हैं. हे पार्वती ! मूर्च्छित कियाहुआ पारद और प्राणवायु संपूर्ण रोगोंको नष्ट करता है और माराहुआ अर्थात् भस्म कियाहुआ पारा और ब्रह्मरंध्रमें लीन प्राणवायु, यह अपने सामर्थ्यसे मनुष्यको दीर्घ-कालतक जिला सकता है और बद्ध किये हुए वे दोनों अर्थात् क्रियाविशेषसे गुटिकाकार किया हुआ पारा और भ्रुकुटिके धारणविशेषसे धारण किया हुआ प्राणवायु ये दोनों आकाशगतिको करते हैं अर्थात् वह योगी पक्षियोंके समान आकाशमें उडसकता है सोई गोरक्षकशतकमें कहा है कि, भिन्नांजन पुंजके समान अर्थात् पिसे हुए अंजनके समूहके तुल्य गोलाकार वायुरूप और यकार रहित तत्त्व (प्राण) भ्रुकुटियोंके मध्यमें है उस तत्त्वका ईश्वर देवता है उस ईश्वरमें प्राणको चित्तसहित लय करके पांच घडी पर्यंत धारण करै, यह वायुके संग चित्तकी धारणा योगीजनोंका आकाशमें गमन करती है ॥ २७ ॥

मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेत् ॥
बिंदुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिंडस्थैर्यं प्रजायते ॥ २८ ॥

मनःस्थैर्य इति ॥ मनसः स्थैर्ये सति वायुः प्राणः स्थिरो भवेत् । ततो वायुस्थैर्याद्बिंदुर्वीर्यं स्थिरो भवेत् । बिंदोः स्थैर्यात्सदा सर्वदा सत्त्वं बलं पिंडस्थैर्यं देहस्थैर्यं प्रजायते ॥ २८ ॥

भावार्थ—मनकी स्थिरता होनेपर प्राणभी स्थिर होता है और वायुकी स्थिरतासे वीर्यकी स्थिरता होती है और वीर्यकी स्थिरतासे सदैव बल होता है और उससेही देहकी स्थिरता होती है ॥ २८ ॥

इंद्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ॥
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥ २९ ॥

इंद्रियाणामिति ॥ इंद्रियाणां श्रोत्रादीनां मनोऽतःकरणं नाथः प्रवर्तकः । मनोनाथो मनसो नाथो मारुतः प्राणः । मारुतस्य प्राणस्य लयो मनोविलयो नाथः । लयो मनोलयः नादमाश्रितो नादे मनो लीयत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

भावार्थ-श्रोत्र आदि इंद्रियोंका नाथ (प्रवर्त्तक) अन्तःकरण-मनहै और मनका नाथ प्राणहै और प्राणका नाथ मनका लयहै और वह मनका लय नादके आश्रित हैं अर्थात् नादमें मनका लय होताहै ॥ २९ ॥

सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतांतरे ॥
मनःप्राणलये कश्चिदानंदः संप्रवर्तते ॥ ३० ॥

सोऽयमिति ॥ सोऽयमेव चित्तलय एव मोक्षाख्यो मोक्षनामकः । मतांतरेऽन्यमते मास्तु वा । चित्तलयस्य सुषुप्तावपि सत्त्वान्मनःप्राणयोर्लये सति कश्चिदनिर्वाच्य आनंदः संप्रवर्तते सम्यक् प्रवृत्तो भवति । अनिर्वाच्यानंदाविर्भावे जीवन्मुक्तिसुखं भवत्येवेति भावः ॥ ३० ॥

भावार्थ-सो यही चित्तका लय मोक्षरूप है अर्थात् इसकोही मोक्ष कहते हैं अथवा मतांतरमें इसको मोक्ष मत मानो, क्योंकि चित्तका लय सुषुप्तिमें भी होताहै तो भी मन और प्राणके लय होनेपर जो कुछ अकथनीय आनंद प्रकट होताहै उस अनिर्वचनीय आनंदके प्रकट होनेपर जीवन्मुक्ति रूप सुख अवश्य होताहै ॥ ३० ॥

प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः ॥
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥ ३१ ॥

प्रनष्टेति ॥ श्वासश्च निश्वासश्च श्वासनिश्वासौ प्रनष्टौ लीनौ श्वासनिश्वासौ यस्मिन् स तथा बाह्यवायोरंतःप्रवेशनं श्वासः अंतःस्थितस्य वायोर्बहिर्निःसरणं निश्वासः प्रध्वस्तः प्रकर्षेण ध्वस्तो नष्टो विषयाणां शब्दादीनां ग्रहो ग्रहणं यस्मिन् निर्गता चेष्टा कायक्रिया यस्मिन् निर्गतो विकारोऽतःकरणक्रिया यस्मिन् एतादृशो योगिनां लयोऽतःकरणवृत्तेर्ध्येयाकारा वृत्तिर्जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते ॥ ३१ ॥

भावार्थ-जिसमें श्वास और निःश्वास भलीप्रकार नष्ट होजाय अर्थात् बाहरकी पवनका जो भीतर प्रवेश वह श्वास, और भीतरकी पवनका बाहर निकासना यह निःश्वास, यह दोनों जिसमें न रहैं और इंद्रियोंसे विषयोंका ग्रहण करनाभी जिससे भलीप्रकार नष्ट होजाय, और देहकी क्रियारूप चेष्टाभी जिसमें न रहै, और अन्तःकरणका क्रियारूप विकारभी

जिसमें न हो, ऐसा जो योगियोंका लय है अर्थात् ध्यान करने योग्य वस्तुके आकारकी जो अन्तःकरणवृत्ति है वह सबसे उत्तमहै ॥ ३१ ॥

उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ॥
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ॥३२॥

उच्छिन्नेति ॥ उच्छिन्ना नष्टाः सर्वे संकल्पा मनःपरिणामा यस्मिन् स तथा निर्गतः शेषो येभ्यस्तानि निःशेषाण्यशेषाणि चेष्टितानि यस्मिन् स तथा स्वेनैवावगंतुं बोद्धुं शक्यः स्वावगम्यः वाचामगोचरो विषयः कोऽपि विलक्षणो लयः जायते योगिनां प्रादुर्भवति ॥ ३२ ॥

भाषार्थ–जिसमे मनके परिणाम रूप संपूर्ण संकल्प नष्ट होगये हों और जिसमें संपूर्ण चेष्टित न रहे हों अर्थात् कर चरण आदिका व्यापार निवृत्त हो और जो अपने आपही जानने योग्य हो अर्थात् जिसको अन्य पुरुष न जानसके और जो वाणीकाभी अगोचर हो अर्थात् वाणीभी जिसको न कहसके ऐसा विलक्षण लय योगीजनोंको प्रगट (उत्पन्न) होताहै ॥ ३२ ॥

यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेंद्रियसनातनी ॥
सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते ॥ ३३ ॥

यत्र दृष्टिरिति ॥ यत्र यस्मिन्विषये ब्रह्मणि दृष्टिरंतःकरणवृत्तिस्तत्रैव लयो भवति । भूतानि पृथिव्यादीनि इंद्रियाणि श्रोत्रादीनि सनातनानि शाश्वतानि यस्यां सा सत्कार्यवादेऽविद्यायां कार्यजातस्य सत्त्वात् । जीवभूतानां प्राणिनां शक्तिर्विद्या इमे द्वे अलक्ष्ये ब्रह्मणि लयं गते योगिनामिति शेषः ॥ ३३ ॥

भाषार्थ–जिस ब्रह्मरूप विषयमें अन्तःकरणकी वृत्ति होतीहै उसमें मन लय होताहै और पृथ्वी आदि पंच महाभूत और श्रोत्र आदि इंद्रिय ये जिसमें न हो वह अविद्या क्योंकि सत्कार्यवाद मतमें अविद्यामें सम्पूर्ण कार्यका समूह रहता है. सत्कार्यवाद यहहै कि, घट आदिकार्य सत्रूप है-और प्राणियोंकी शक्तिरूप विद्या, ये अविद्या और विद्यारूप दोनों अलक्ष्य ब्रह्ममेंही योगियोंके लय हो जातेहैं ॥ ३३ ॥

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम् ॥
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ॥ ३४ ॥

लय इति ॥ लय इति प्राहुर्वदंति बहवः । लयस्य लक्षणं लयस्वरूपं

कीदृशमिति प्रश्नपूर्वकं लयस्वरूपमाह–अपुनरिति । अपुनर्वासनोत्थानात्पुनर्वासनास्थानाभावाद्विषयविस्मृतिर्विषयाणां शब्दादीनां ध्येयाकारस्य विषयस्य वा विस्मृतिर्लयो लयशब्दार्थ इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ–बहुतसे मनुष्य लय ऐसा कहते हैं परन्तु लयका लक्षण (स्वरूप) क्या है ऐसा कोई पूछे तो शब्द आदि सम्पूर्ण विषयोंकी वा ध्यान करनेयोग्य विषयकी जो विस्मृति उसको लय कहते हैं क्योंकि उस मनमें फिर वासना नहीं उठती है वा वह मन फिर वासनाओंका स्थान नहीं रहता है ॥ ३४ ॥

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ॥
एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ३५ ॥

वेदेति॥वेदाश्चत्वारःशास्त्राणि षट् पुराणान्यष्टादश सामान्या गणिका इव वेश्या इव । बहुपुरुषगम्यत्वात् । एका शांभवी मुद्रैव कुलवधूरिव कुलस्त्रीव गुप्ता । पुरुषविशेषगम्यत्वात् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ–चारों वेद और छहोंशास्त्र और अष्टादश १८ पुराण वे सब सामान्य गणिका (वेश्या) के समान हैं क्योंकि ये अनेक पुरुषोंके जानने योग्य हैं-और एक पूर्वोक्त शांभवीमुद्राही कुलवधूके समान गुप्त हैं क्योंकि उसको कोई विरला मनुष्यही जानसकता है ३५

अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ॥
एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥ ३६ ॥

चित्तलयाय प्राणलयसाधनीभूतां मुद्रां विवक्षुस्तत्र शांभवीं मुद्रामाह–अंतर्लक्ष्यमिति ॥ अंतः आधारादिब्रह्मरंध्रांतेषु चक्रेषु मध्ये स्वाभिमते चक्रे लक्ष्यमंतःकरणवृत्तिः । बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे दृष्टिः चक्षुःसंबंधः कीदृशी दृष्टिः निमेषोन्मेषवर्जिता निमेषः पक्ष्मसंयोगः उन्मेषः पक्ष्मसंयोगविश्लेषः ताभ्यां वर्जिता रहिता चित्तस्य ध्येयाकारावेशे निमेषोन्मेषवर्जिता दृष्टिर्भवति । सोक्तैषा मुद्रा शांभवी शंभोरियं शांभवी शिवप्रिया शिवाविर्भावजनिका वा भवति । कीदृशी वेदशास्त्रेषु गोपिता वेदेषु ऋगादिषु शास्त्रेषु सांख्यपातंजलादिषु गोपिता रक्षिता ॥ ३६ ॥

भाषार्थ–चित्तके लयार्थ प्राणलयका साधन जो शांभवीमुद्रा उसके कथनके अभिलाषी आचार्य -प्रथम शांभवीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, भीतरके जो आधार आदि चक्र हैं उनके मध्यमें अपनेको अभीष्ट जो चक्रहो उसमें लक्ष्म (अंतःकरणकी (वृत्ति) हो और बाहिरके विषयोंमें जो दृष्टि हो वह निमेष और उन्मेषसे वर्जित हो अर्थात् पक्ष्म (पलक) के

संयोग और वियोगसे हीन हों, क्योंकि चित्तमें ध्यान करनेके योग्य जो वस्तु उसके आकारके आवेश होनेसे निमेष उन्मेष रहित प्रकाशितही नेत्र बने रहतेहों--वेद और शास्त्रोंमें गुप्त यह मुद्रा अर्थात् ऋग्वेद आदि वेद और सांख्य पातंजल आदिशास्त्रोंमें भी छिपीहुई यह मुद्रा शांभवी कहाती है कि, इससे शंभुका आविर्भाव (प्रकटता) होता है वा यह मुद्रा शंभु भगवान्‌ने कही है ॥ ३६ ॥

अंतर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ॥
मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्त्वं परं शांभवम् ॥ ३७ ॥

शांभवीं मुद्रामभिनीय दर्शयति–अंतर्लक्ष्यमिति ॥ यदा यस्यामवस्थायामंतः अनाहतपद्मादौ यल्लक्ष्यं सगुणेश्वरमूर्त्यादिकं तत्त्वमस्यादिवाक्यलक्ष्यं जीवेश्वराभिन्नमहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थभूतं ब्रह्म वा तस्मिन्विलीनौ विशेषेण लीनौ चित्तपवनौ मनोमारुतौ यस्य स तथा योगी वर्तते निश्चलतारया निश्चला स्थिरा तारा कनीनिका यस्य तादृश्या दृष्ट्या बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे पश्यन्नपि चक्षुःसंबंधं कुर्वन्नपिअपश्यन् बाह्यविषयग्रहणमकुर्वन् वर्तते आस्ते । खल्विति वाक्यालंकारे । इयमुक्ता शांभवी मुद्रा शांभवीनामिका मुद्रयति क्लेशानि मुद्रा गुरोर्देशिकस्य प्रसादात्प्रीतिपूर्वकादनुग्रहाल्लब्धा प्राप्ता चेत्तदिदमिति वक्तुमशक्यं शांभवं शांभवीमुद्रायां भासमानं पदं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदमात्मस्वरूपं शून्याशून्यविलक्षणं ध्येयाकारवृत्तेःसद्भावाच्छून्यविलक्षणं तस्या अपि भानाभावादशून्यविलक्षणं तत्त्वं वास्तविकं वस्तु स्फुरति प्रतीयते । तथाचोक्तम्–'अन्तर्लक्ष्यमनन्यधीरविरतं पश्यन्मुद्रा संयमी दृष्ट्युन्मेषनिमेषवर्जितमियं मुद्रा भवेच्छाम्भवी॥गुप्तेयं गिरिशेन तंत्रविदुषा तंत्रेषु तत्त्वार्थिनामेषा स्याद्यमिनां मनोलयकरी मुक्तिप्रदा दुर्लभा ॥ १ ॥ ऊर्ध्वदृष्टिरधोदृष्टिरूर्ध्ववेधो ह्यधःशिराः । राधायंत्रविधानेन जीवन्मुक्तो भवेत्क्षितौ । २ । ॥ ३७ ॥'

भाषार्थ–अब शांभवीमुद्राके स्वरूपको घटाकर दिखाते हैं कि, जिस कालमें योगी इसप्रकार वर्ते अर्थात् स्थित रहै कि. भीतर अनाहत (निश्चल) पद्म आदिमें जो सगुण मूर्ति आदि लक्ष्य है वा तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे लक्ष्य जो जीव ईश्वरके अभेदरूप मैं ब्रह्म हूँ इस वाक्यका अर्थरूप ब्रह्म है उसमेंही विशेषकर जिसके चित्त

और पवन (प्राण) ये दोनों लीनहों और निश्चय हैं तारे जिसमें ऐसी दृष्टि (नेत्र) से देहसे बाहिरके देशमें देखताहुआभी अद्रष्टाके समान हो अर्थात् बाहिरके विषयको न जानताहुआ अधोदृष्टि रहताहै–यह पूर्वोक्त शांभवी नामकी मुद्रा है और जो क्लेशोंको छिपाले उसे मुद्रा कहते हैं–यदि यह मुद्रा गुरुके प्रसादसे प्राप्त होजाय तो वह शांभव शम्भुभगवान्का तत्व जिसको इसप्रकार नहीं बता सकते कि, यहहै शांभवीमुद्रामें भासमान वह योगियोंको प्राप्त होनेयोग्य आत्मरूप तत्त्व अर्थात् ध्येयाकार वृत्तिके होनेसे शून्यसे विलक्षण और अन्तमें ध्येयाकार वृत्तिकेभी अभावसे अशून्यसे विलक्षण वास्तविक वस्तु योगीजनोंके मनमें स्फुरती है अर्थात् प्रतीत होती है–सोई कहा है कि अनन्यबुद्धि होकर अर्थात् अन्य विषयमें बुद्धिको न लगाकर भीतरके लक्ष्य (ब्रह्म) को दृष्टिके उन्मेष निमेषसे वर्जित नेत्रोंसे निरंतर आनंदसे देखताहुआ संयमी (योगी) होयतो यह शांभवी मुद्रा होती है और तंत्रके ज्ञाता गिरीश (शिव) ने यह गुप्त रक्खी है और यह दुर्लभमुद्रा तत्त्वके अभिलाषी योगीजनोंके मनको लय करती है और मुक्तिको भलीप्रकार देती है और ऊर्ध्व और अधोदृष्टि होकर और ऊर्ध्ववेध और अधः–शिर होकर स्थित योगी इस राधायंत्रके विधानसे भूमिमें रहताहुआभी जीवन्मुक्त होताहै–भावार्थ यह है कि, भीतरके लक्ष्यमें लयहुये हैं चित्त पवन जिसके और निश्चल हैं तारा जिसके ऐसी दृष्टिसे बाहिरके विषयको देखताहुआभी न देखनेके समान हो ऐसे योगीकी यह शांभवीमुद्रा होती है यदि यह गुरुके प्रसादसे प्राप्त हो जाय तो योगीको शून्य अशून्यसे विलक्षण जो शंभुका पदरूप परम तत्त्व है वह प्रतीत होताहै ॥ ३७ ॥

श्रीशांभव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः ॥
भवेच्चित्तलयानंदः शून्ये चित्सुखरूपिणि ॥ ३८॥

श्रीशांभव्या इति ॥ श्रीशांभव्याः श्रीमत्याः शांभवीमुद्रायाः खेचरीमुद्रायाश्चावस्थाधामभेदतः अवस्थाऽवस्थितिर्धाम स्थानं तयोर्भेदाच्छांभव्यां बहिर्दृष्ट्या बहिःस्थितिः खेचर्यां भ्रूमध्यदृष्ट्याऽवस्थितिः। शांभव्यां हृदयभावनादेशः खेचर्यां भ्रूमध्य एव देशः। तयोर्भेदाभ्यां शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्ये सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्ये य चित्सुखरूपिणी चिदानंदस्वरूपिण्यात्मनि चित्तलयानंदो भवेत्स्यात्। श्रीशांभवीखेचर्योरवस्थाधामरूपसाधनांशे भेदः, नतु चित्तलयानंदरूपफलांश इति भावः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–इस पूर्वोक्त श्रीमती शांभवीमुद्राके और खेचरीमुद्राके द्वारा अवस्था और धाम स्थान) के भेदसे अर्थात् शांभवीमुद्रामें बाहिर दृष्टिसे बहिःस्थिति और खेचरीमुद्रामें

भाषार्थ-आधे उन्मीलित किये (खोले) हैं नेत्र जिसने और निश्चल है मन जिसका और नासिकाके बारह अंगुलपर्यंत अग्रभागमें लगाये हैं नेत्र जिसने–सोई वसिष्ठने कहा है कि, द्वादश अंगुल पर्यंत निर्मल जो नासिकाके अग्रभागमें आकाश उसमें यदि ज्ञान, दृष्टि दोनों भलीप्रकार शांत होजायँ तो प्राणोंका स्पंद (गति) रुक जाती है–ऐसा योगी और देह इंद्रिय मन इनके निस्पंदभाव (निश्चलता) से चंद्रमा और सूर्यकी भी लीनताको करताहुआ अर्थात् देह, मन, इंद्रियोंकी निश्चलतासे प्राणके संचारको भी रोकताहुआ सोई कहभी आये हैं कि, जहां मनभी विलय हो जाता है--इसपूर्वोक्त प्रकारका योगाभ्यासी ज्योतिके समान सबका प्रकाशक--और आकाश आदिकी उत्पत्तिके द्वारा सबका कारण और अखिल (पूर्ण) रूप और अत्यंत प्रकाशमान और देह इंद्रिय मन इनका साक्षीरूप पर--और वास्तविक तत्त्वस्वरूप--जो वह पद है जिनको यह नहीं कह सकते कि,--वह यह है--और योगीजन जिसमें जायं उसे पद कहते हैं–उस परम (सबसे उत्तम) आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है अर्थात् उन्मनी अवस्थामें योगी अपने स्वरूपमें स्थित होता है--इसमें अधिक और क्या कहने योग्य है अन्यवस्तुओंकी तो अवश्यही प्राप्ति होती है--भावार्थ यह है कि, जिसके आधे नेत्र खुले हों मन स्थिरहो नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि हो और जिसने देह आदिकी निश्चलतासे प्राणकोभी लीन करालियाहो ऐसा योगी, ज्योतिस्वरूप सबके कारण, पूर्ण देदीप्यमान साक्षीरूप जो तत्त्व उस परमपदको प्राप्त होता है इसमें अधिक क्या कहने योग्य है ॥ ४१ ॥

दिवा न पूजयेल्लिंगं रात्रौ चैव न पूजयेत् ॥
सर्वदा पूजयेल्लिंगं दिवारात्रिनिरोधतः ॥ ४२ ॥

उन्मनीभावनायाः कालनियमभावमाह–दिवा नेति ॥ दिवा सूर्यसंचारे लिंगं सर्वकारणमात्मानम् । 'एतस्मादात्मान आकाशः संभूतः' इत्यादि श्रुतेः । न पूजयेत् न भावयेत् । ध्यानमेवात्मपूजनम् । तदुक्तं वासिष्ठे–ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानमस्य महार्चनम् । विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो' इति । रात्रौ चंद्रसंचारे च नैव पूजयेन्नैव भावयेत् । चंद्रसूर्यसंचारे चित्तस्थैर्याभावात् । 'चले वाते चलं चित्तम्' इत्युक्तत्वात् । दिवारात्रिनिरोधतः सूर्यचंद्रौ निरुध्य । ल्यब्लोपे पंचमी तस्यास्तसिल् । सर्वदा सर्वस्मिन् काले लिंगमात्मानं पूजयेद्भावयेत् । सूर्यचंद्रयोर्निरोधे कृते सुषुम्नांतर्गते प्राणे मनःस्थैर्यात् तदुक्तम्–'सुषुम्नांतर्गते वायौ मनःस्थैर्यं प्रजायते' इति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ-अब उन्मनीभावनामें कालके नियमका अभाव वर्णन करते हैं कि दिनमें

अर्थात् सूर्यके संचारमें लिंगका पूजन न करै अर्थात् सबके कारण लिंगरूप आत्माका ध्यान करै सोई कहा है कि, इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ और यहां ध्यानही पूजनशब्दसे लेना पुष्प आदिसे पूजन नहीं सोई वासिष्ठमें वसिष्ठजीने कहा है कि, आत्माका उपहार (भेंट) ध्यानही है और ध्यानही इसका अर्चन (पूजा) है उसके विना यह आत्मा प्राप्त नहीं होता है और रात्रिमें अर्थात् चंद्रमाके वारमेंभी लिंगरूप आत्माका पूजन न करै क्योंकि, चंद्र और सूर्यके वारमें चित्तकी स्थिरता नहीं रहती है कहभी आये हैं कि प्राणवायुके चलायमान होनेसे चित्तभी चलायमान होजाता है और दिवा और रात्रिके निरोधको करके सबकालमें लिंगका पूजन करै क्योंकि सूर्य और चंद्रका विरोध होनेपर प्राण सुषुम्नाके अंतर्गत होजाता है और उससे मनकी स्थिरता होजाती है उससमय लिंगरूप आत्माका ध्यान करे सोई कहा है कि, सुषुम्नाके अंतर्गत सूर्यके होनेपर मनकी स्थिरता होजाती है--भावार्थ यह है कि, सूर्य और चंद्रमाके संचारमें आत्माका ध्यान करै और सूर्य और चंद्र संचारको रोककर सबकालमें आत्माका ध्यान करै ॥ ४२ ॥

सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः ॥ ४३ ॥

खेचरीमाह– सव्येति ॥ सव्यदक्षिणनाडिस्थो वामतदितरनाडिस्थो मारुतो वायुर्यत्र मध्ये चरति यस्मिन्मध्यप्रदेशे गच्छति तस्मिन्स्थाने तस्मिन्प्रदेशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरा भवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्य- योश्च' इत्यात्मनेपदम् । न संशयः उक्तेऽर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

भाषार्थ–अब खेचरीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, इडा पिंगला नामकी जो सव्य दक्षिण नाडी हैं उनमें स्थित प्राणवायु जिस मध्य प्रदेशमें गमन करता है उसी स्थानमें खेचरीमुद्रा स्थिर होजाती है इसमें संशय नहीं है ॥ ४३ ॥

इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनःपुनः ॥ ४४ ॥

इडापिंगलयोरिति ॥ इडापिंगलयोः सव्यदक्षिणनाड्योर्मध्ये यच्छून्यं खम् । कर्तृ । अनिलं प्राणवायुं यत्र ग्रसेत् शून्ये प्राणस्य स्थिरीभाव एव ग्रासः । तत्र तस्मिञ्छून्ये खेचरी मुद्रा तिष्ठते । पुनः पुनः सत्यमिति योजना ॥ ४४ ॥

भाषार्थ-इडा पिंगला जो सव्य दक्षिण नाडी हैं उनके मध्यमें जो शून्य (आकाश) है वह शून्य जिसमें प्राणवायुको ग्रसले और शून्यमें प्राणकी जो स्थिरता उसकोही ग्रास कहते हैं उस शून्यमें खेचरीमुद्रा स्थिर होती है यह बात वारंवार सत्य है ॥ ४४ ॥

सूर्याचंद्रमसोर्मध्ये निरालंबांतरं पुनः ॥
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥ ४५ ॥

सूर्याचंद्रमसोरिति ॥ सूर्याचंद्रमसोरिडापिंगलयोर्मध्ये निरालंबं यदंतरमवकाशस्तत्र । पुनः पादपूरणे । व्योम्नां खानां चक्रे समुदाये । भ्रूमध्ये सर्वखानां समन्वयात् । तदुक्तम्–'पंचस्रोतःसमन्विते' इति । या संस्थिता सा मुद्रा खेचरीनाम ॥ ४५ ॥

भाषार्थ-सूर्य और चंद्रमा अर्थात् इडा और पिंगलाके मध्यमें जो निरालंब अंतर (अवकाश) है उस आकाशोंके समुदायरूप चक्रमें क्योंकि, भ्रुकुटीके मध्यमें सब आकाशोंका समन्वय (मेल) है सोई कहा है कि, पांच स्रोतोंसे युक्त भ्रूका मध्य है उस उक्त अवकाशमें जो भलीप्रकार स्थित हो वह खेचरी नामकी मुद्रा होती है ॥ ४५ ॥

सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा ॥
पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे ॥ ४६ ॥

सोमादिति ॥ सोमाच्चंद्राद्यत्र यस्यां खेचर्यां धाराऽमृतधारा उदितोद्भूता सा खेचरी साक्षाच्छिववल्लभा शिवस्य प्रियेति पूर्वेणान्वयः । अतुलां निर्मलां निरुपमां दिव्यां सर्वनाड्युत्तमां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे पूरयेत् जिह्वयेति शेषः ॥ ४६ ॥

भाषार्थ-जिस खेचरीमुद्रामें चंद्रमासे अमृतकी धारा उत्पन्न होती है वह खेचरीमुद्रा साक्षात् शिवजीको वल्लभ (प्यारी) है और अतुल अर्थात् जिसकी उपमा न हो और दिव्यरूप अर्थात् सब नाडियोंमें उत्तम जो सुषुम्ना है उसको पश्चिम मुखके विषे जिह्वासे पूर्ण करै ॥ ४६ ॥

पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ॥
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी संप्रजायते ॥ ४७ ॥

पुरस्ताच्चैवेति ॥ पुरस्ताच्चैव पूर्वतोऽपि पूर्येत । सुषुम्नां प्राणेनेति शेषः । यदि तर्हि निश्चिताऽसंदिग्धा खेचरी खेचर्याख्या मुद्रा भवेदिति । यदि तु पुरस्तात्प्राणेन पूर्येत जिह्वामात्रेण पश्चिमतः पूर्येत तर्हि मूढाव-

स्थाजनिका। न निश्चिता खेचरी स्यादिति भावः । खेचरीमुद्राप्यभ्यस्ता सती उन्मनी संप्रजायते चित्तस्य ध्येयाकारावेशात्तुर्यावस्था भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

भाषार्थ-और पूर्वमुखके विषेभी पूर्ण करै अर्थात् सुषुम्नाको प्राणसे पूर्ण करै तो निश्चयसे अर्थात् निःसंदेह खेचरी नामकी मुद्रा होती है और यदि पूर्वमुखमें प्राणसे पूर्ण न करै और पश्चिम मुखमें केवल जिह्वासेही पूर्ण करदे तो खेचरीमुद्रा मूढ अवस्थाको पैदा करती है इससे वह निश्चित नहीं है और अभ्यास कीहुई खेचरीमुद्राभी उन्मनी होजाती है अर्थात् चित्तके ध्येयाकार होनेसे तुर्यावस्था होजाती है ॥ ४७ ॥

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ॥
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥ ४८ ॥

भ्रुवोरिति ॥ भ्रुवोर्मध्ये भ्रुवोरंतराले शिवस्थानं शिवस्येश्वरस्य स्थानं शिवस्य सुखरूपस्यात्मनोऽवस्थानमिति शेषः। तत्र तस्मिन् शिवे मनो लीयते शिवाकारवृत्तिप्रवाहवद्भवति तच्चित्तलयरूपं तुर्यं पदं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभ्यश्चतुर्थाख्यं ज्ञातव्यम्। तत्र तस्मिन् पदे कालो मृत्युर्न विद्यते। यद्वा सूर्यचंद्रयोर्निरोधादायुःक्षयकारकः कालः समयो न विद्यत इत्यर्थः ॥ तदुक्तम्। 'भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य' इति ॥ ४८ ॥

भाषार्थ-दोनों भ्रुकुटियोंके मध्यमें शिवरूप ईश्वरका वा सुखरूप आत्माका स्थान है उस शिव वा आत्मामें मन लीन होताहै अर्थात् मनकी वृत्तिका प्रवाह शिवाकार होजाताहै और वह चित्तका लय तुर्यपद अर्थात् जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिसे चौथा पद जानना और उस पदमें काल (मृत्यु) नहीं है अथवा सूर्य और चंद्रके निरोधसे अवस्थाके क्षयका कारक समय नहीं हैं सोई कह आये हैं कि, सुषुम्ना कालके भोगनेवाली है ॥ ४८ ॥

अभ्यसेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ॥
संप्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥ ४९ ॥

अभ्यसेदिति ॥ तावत्खेचरीं मुद्रामभ्यसेत् यावद्योगनिद्रितः। योगः सर्ववृत्तिनिरोधः सैव निद्रा योगनिद्राऽस्य संजाता इति योगनिद्रितः तादृशःस्यात्। संप्राप्ता योगनिद्रा येन स संप्राप्तयोगनिद्रस्तस्य कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये कालो मृत्युर्नास्ति ॥ ४९ ॥

भाषार्थ-योगी जबतक योगनिद्रित हो अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका निरोधरूप जो योग वह निद्रारूप जिसको हो वह योगनिद्रित कहाताहै तबतक खेचरीमुद्राका अभ्यास करै और

जिस योगीको योगनिद्रा भलीप्रकार प्राप्त होगई हो उसकी किसी कालमें भी मृत्यु नहीं होती ॥ ४९ ॥

निरालंबं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥
स बाह्याभ्यंतरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥ ५० ॥

निरालंबमिति ॥ यो निरालंबमालंबशून्यं मनः कृत्वा किंचिदपि न चिंतयेत् खेचरीमुद्रायां जायमानायां ब्रह्माकारामपि वृत्तिं परवैराग्येण परित्यजेदित्यर्थः । स योगी बाह्याभ्यंतरे बाह्ये बहिर्भवे आभ्यंतरेऽभ्यंतर्भवे च व्योम्न्याकाशे घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् । निश्चितमेतत् । यथाकाशे घटो बहिरंतश्चाकाशपूर्णो भवति तथा खेचर्यामालंबनपरित्यागेन योगी ब्रह्मणा पूर्णस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ५० ॥

भाषार्थ–जो योगी निरालंब (निराश्रय) मनको करके किंचित् भी चिंता नहीं करताहै अर्थात् खेचरीमुद्राके सिद्ध होनेपर ब्रह्माकार वृत्तिकाभी परमवैराग्यसे त्याग करता है वह योगी बाहिर और भीतरके आकाशमें घटके समान निश्चयकर टिकताहै अर्थात् जैसे घट आकाशके विषय बाहिर और भीतर आकाशसे पूर्ण होताहै तिसीप्रकार खेचरीमुद्राके होनेपर आलंबनके परित्यागसे योगीभी ब्रह्मसे पूर्ण टिकताहै ॥ ५० ॥

बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः ॥
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥ ५१ ॥

बाह्येति ॥ बाह्यो देहाद्बहिर्भवो वायुर्यथा लीनो भवति खेचर्याम् । तस्यांतःप्रवृत्त्यभावात् तथा मध्यो देहमध्यवर्ती वायुर्लीनो भवति तस्य बहिःप्रवृत्त्यभावात् । न संशयः । अस्मिन्नर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः । स्थीयते स्थिरीभूयतेऽस्मिन्निति स्थानं स्वस्य प्राणस्य स्थानं स्थैर्याधिष्ठानं ब्रह्मरंध्रं तत्र मनसा चित्तेन सह पवनः प्राणः स्थिरतां निश्चलतामेति प्राप्नोति ॥ ५१ ॥

भाषार्थ–खेचरीमुद्राके विषय देहसे बाहिरका पवन जिसप्रकार लीन होताहै क्योंकि, उसकी भीतर प्रवृत्ति नहीं होती, तिसीप्रकार देहके मध्यका वायुभी लीन होजाताहै क्योंकि, उसकी बाहिर प्रवृत्ति नहीं होती इसमें संशय नहीं है किंतु मनसहित पवन प्राणकी स्थिरताका स्थान जो ब्रह्मरंध्र है उसमें निश्चलताको प्राप्त होजाताहै ॥ ५१ ॥

एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ॥
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥ ५२ ॥

एवमिति ॥ एवमुक्तप्रकारेण वायुमार्गे प्राणमार्गे सुषुम्नायामित्यर्थः। दिवानिशं रात्रिंदिवमभ्यसमानस्याभ्यासं कुर्वतो योगिनोऽभ्यासाद्यत्र यस्मिन्नाधारे वायुः प्राणो जीर्यते क्षीयते, लीयत इत्यर्थः। तत्रैव वायोर्लयाधिष्ठाने मनश्चित्तं लीयते जीर्यत इत्यर्थः ॥५२॥

भाषार्थ-इसपूर्वोक्त प्रकारसे प्राणरूप वायुका मार्ग जो सुषुम्ना उसमें रात्रिदिन अभ्यास करतेहुए योगीके अभ्याससे जिस आधारमें प्राणवायु जीर्ण हो जाता है अर्थात् लय हो जाता है उसीवायुके लयाधिष्ठान (स्थान) में मनभी लीन हो जाता है ॥ ५२ ॥

अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ॥
सिद्ध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥५३॥

इति खेचरी।

अमृतैरिति॥ अमृतैः सुषिरनिर्गतैः पादतलं च मस्तकं च पादतलमस्तकम्। 'द्वंद्वश्च प्राणितूर्यसेनांगानाम्' इत्येकवद्भावः। पादतलमस्तकमभिव्याप्येत्यापादतलमस्तकं देहमाप्लावयेदाप्लावितं कुर्यात्। महानुत्कृष्टः कायो यस्य स महाकायः महांतौ बलपराक्रमौ यस्येत्येतादृशो योगी सिद्ध्यत्येव। अमृतप्लावनेन सिद्धो भवत्येव ॥ ५३ ॥

भाषार्थ-योगी पादतल और मस्तक पर्यंत देहको सुषिर (चन्द्रमा) से निकसे जो अमृत उनसे सेचन करे तो उत्तम है काया जिसकी और अधिक बल पराक्रम जिसके ऐसा योगी पूर्वोक्त अमृतके स्नानसे शुद्ध हो जाता है ॥ ५३ ॥

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ॥
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥ ५४ ॥

शक्तिमध्य इति॥ शक्तिःकुण्डलिनी तस्या मध्ये मनः कृत्वा तस्यां मनो धृत्वा तदाकारं मनः कृत्वेत्यर्थः। शक्तिं मानसमध्यगां कृत्वा। शक्तिध्यानावेशाच्छक्तिं मनस्येकीकृत्य तेन कुण्डलीं बोधयित्वेति यावत्। 'प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह' इति गोरक्षोक्तेः मनसांतःकरणेन मन आलोक्य बुद्धिं मनसाऽवलोकनेन स्थिरीकृत्वेत्यर्थः। परमं पदं सर्वोत्कृष्टं स्वरूपं धारयेद्धारणाविषयं कुर्यादित्यर्थः ॥ ५४ ॥

भाषार्थ-शक्ति (कुण्डलिनी) के मध्यमें मनको धरकर अर्थात् कुण्डलीके आकारका मनको करके और शक्तिको मनके मध्यमें करके अर्थात् शक्ति ध्यानके आवेशसे शक्तिको

मनमें एककरके और उससे कुण्डलीका बोधन करके सोई गोरक्षने कहा है कि, मन और पवन सहित कुण्डली वह्निके योगसे प्रबुद्ध होती है और अन्तःकरणरूप मनसे मनको देखकर अर्थात् मनसे देखनेके द्वारा बुद्धिको स्थिर करके सर्वोत्तम स्वरूप जो परमपद है उसकी धारणा करे अर्थात् ब्रह्ममें मनको लगावै ॥ ५४ ॥

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ॥
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ ५५ ॥

खमध्य इति॥खमिव पूर्णं ब्रह्म खं तन्मध्ये आत्मानं स्वस्वरूपं कुरु। ब्रह्माहमिति भावयेत्यर्थः। आत्ममध्ये स्वस्वरूपे च खं पूर्णं ब्रह्म कुरु। अहं ब्रह्मेति च भावयेत्यर्थः। सर्वं च खमयं कृत्वा ब्रह्ममयं विभाव्य किमपि न चिंतयेत्। अहं ब्रह्मेतिध्यानमपि परित्यजेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ-आकाशके समान पूर्ण जो ब्रह्म उसके विषे अपने आत्माको करके अर्थात् ब्रह्म मैं हूँ, ऐसी भावना करके अपने रूप स्वरूप आत्मामें पूर्ण ब्रह्मको करो-मैं ब्रह्महूँ ऐसी भावना कर, और संपूर्ण प्रपंचको ब्रह्ममय करके अर्थात् ब्रह्मरूप विचारकर किसीकीभी चिंता न करै अर्थात् मैं ब्रह्महूँ इस ध्यानकाभी परित्याग करदे ॥ ५५ ॥

अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुंभ इवांबरे ॥
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णः कुंभ इवार्णवे ॥ ५६ ॥

एवं समाहितस्य स्वरूपे स्थितिमाह-अन्तःशून्य इति ॥ अन्तः अन्तःकरणे शून्यः। ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्द्वितीयशून्यः। बहिरंतःकरणाद्बहिरपि शून्यः। द्वितीयादर्शनात्। अंबरे आकाशे कुम्भो घटो यथांतर्बहिःशून्यस्तद्वदंतःकरणे हृदाकाशे वायुपूर्णः ब्रह्माकारवृत्तेः सद्भावाद्ब्रह्मवासत्वाद्वा। बहिःपूर्णोऽतःकरणाद्बहिर्हृदवकाशाद्बहिर्वा पूर्णः। सत्तया ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्ब्रह्मपूर्णत्वाद्वा। अर्णवे समुद्रे कुम्भो घटो यथा सर्वतो जलपूर्णो भवत्येवं समाधिनिष्ठो योगी ब्रह्मपूर्णो भवतीत्यर्थः॥५६॥

भाषार्थ-इसप्रकार समाधिमें स्थित योगीकी अपने स्वरूपमें स्थितिका वर्णन करते हैं कि, अन्तःकरणमें शून्यहो अर्थात् ब्रह्मसे अतिरिक्त वृत्तिके अभावसे दूसरेकी प्रतीति न होती हो और दूसरेके न देखनेसे अन्तःकरणसे बाहिर भी इसप्रकार शून्य हो जैसे आकाशमें स्थित घट भीतर और बाहिर जलसे शून्य होता है-और तिसी प्रकार हृदयके आकाशरूप अन्तःकरणमें ब्रह्माकार वृत्तिके होनेसे वा ब्रह्मकी वासनासे वायुसे

पूर्ण हो और अंतःकरणसे वा हृदयाकाशसे वाहिरभी पूर्ण हो अर्थात् सत्तारूपसे वा ब्रह्मातिरिक्त वृत्तिके अभावसे वा ब्रह्मरूपसे इसप्रकार पूर्ण हो जैसे समुद्रके विषे डुवाहुआ कुंभ चारोंतरफसे जलपूर्ण होताहै इसीप्रकार समाधिके स्थित पुरुषभी ब्रह्मसे पूर्ण होताहै ॥५६॥

बाह्यचिंता न कर्तव्या तथैवांतरचिंतनम् ॥
सर्वाचिंतां परित्यज्य न किंचिदपि चिंतयेत् ॥५७॥

बाह्यचिंतेति ॥ समाहितेन योगिनेत्यध्याहारः। बाह्यचिंता बाह्यविषया चिन्ता न कर्तव्या तथैव बाह्यचिंताकरणवदांतरचिंतनमांतराणां मनसा परिकल्पितानामाशामोदकसौधवाटिकादीनां चिंतनं न कर्तव्यमिति लिंगविपरिणामेनान्वयः। सर्वाचिंतां बाह्याभ्यंतरचिंतनं परित्यज्य किंचिदपि न चिंतयेत्परवैराग्येणात्माकारवृत्तिमपि परित्यजेत्। तत्त्यागे स्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवतीति भावः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ--समाधिमें स्थित योगी वाहिरके माला चंदन आदि विषयोंकी चिंता न करै और तिसीप्रकार अंतःकरणमें मनसे कल्पना किये जो आशामोदक, श्वेतमंदिर, वाटिका आदि हैं उनका भी चिन्तन न करै इस प्रकार वाहर भीतरकी संपूर्ण चिंताओंका परित्याग करके किंचित् भी चिंता न करे अर्थात् परमवैराग्यसे ब्रह्माकारवृत्तिकाभी परित्याग करदे क्योंकि ब्रह्माकारवृत्तिका त्याग अपने स्वरूपमें स्थितरूप मुक्ति जीवन समयमें ही हो जाती है ॥ ५७ ॥

संकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं
संकल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ॥
संकल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शांतिम् ॥ ५८ ॥

बाह्याभ्यंतरचिंतापरित्यागे शांतिश्च भवतीत्यत्र वसिष्ठवाक्यं प्रमाणयति-संकल्पेति ॥ संकल्पो मानसिको व्यापारः स एव संकल्पमात्रं तस्य कलनैव रचनैवेदं दृश्यमानं समग्रं जगत् बाह्यप्रपंचो मनोमात्रकल्पित इत्यर्थः। मनसो मानसस्य विलासो नानाविषयाकारकल्पना आशामोदकसौधवाटिकादिकल्पनारूपो विलासः संकलपमात्रकलनैव। मानसः प्रपंचोऽपि संकल्पमात्ररचनैवेत्यर्थः। संकल्पमात्रे बाह्याभ्यंतरप्रपंचे या मतिः सत्यत्वबुद्धिस्तामुत्सृज। तर्हि किं कर्तव्यमित्यत

आह-निर्विकल्पमिति । विशिष्टकल्पना विकल्पः । आत्मनि कर्तृत्व-भोक्तृत्वसुखित्वसजातीयविजातीयस्वगतभेददेशकालवस्तुपरिच्छेदकल्पनारूपः तस्मान्निष्क्रांतो निर्विकल्पस्तमात्मानमाश्रित्य धारणादिविषयं कृत्वा हे राम ! निश्चयमसंदिग्धं शांतिं परमोपरतिमवाप्नुहि । ततः सुखमपि प्राप्स्यसीति भावः । तदुक्तं भगवता व्यतिरेकेण-'न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम्' इति ॥ ५८ ॥

भाषार्थ-बाह्य और अभ्यंतर चिंताओंके परित्यागसे शांति भी होती है इसमें वसिष्ठके वाक्यका प्रमाण देते हैं कि, मानसिक व्यापाररूप जो संकल्प है उसकी रचनारूपही यह दृश्यमान संपूर्ण जगत् है अर्थात् बाह्य प्रपंच मनसेही कल्पित है और आशामोदक श्वेतमंदिर वाटिका आदि नाना प्रकारके विषयोंकी कल्पनाका जो विलास है वहभी संकल्पकीही रचना है अर्थात् मानसप्रपंचभी संकल्पकीही रचनारूप है इससे हे राम ! संकल्प मात्रमें जो मति अर्थात् बाह्य और आभ्यंतरके प्रपंचमें सत्यत्व बुद्धिहै उसको त्याग दे कदाचित् कहा ।५८। फिर क्या करूं इससे कहते हैं कि, निर्विकल्पके आश्रय होकर अर्थात् आत्माके विषे जो कर्ता भोक्ता सुखी दुःखी--सजातीय--विजातीय--स्वगत भेद--देश--काल--वस्तु--परिच्छेदरूप विशिष्ट कल्पना है उनसे रहित जो निर्विकल्परूप अर्थात् पूर्वोक्त विशिष्ट कल्पनासे शून्य आत्मा है उसकोही धारणाका विषय करके हे राम ! निश्चयसे तू शांतिको प्राप्त हो उस शांतिसे फिर सुखको भी प्राप्त हो जायगा--सोई भगवान्ने गीतामें कहा है किविचारहीन पुरुषको शांति नहीं होती है और अशांत मनुष्यको सुख कहांसे होता है ॥ ५८ ॥

कर्पूरमनले यद्वत्सैंधवं सलिले यथा ॥
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ ५९ ॥

कर्पूरमिति ॥ यद्वद्यथाऽनलेऽग्नौ संधीयमानं संयोज्यमानं कर्पूरं विलीयते विशेषेण लीयते लीनं भवति । अग्न्याकारं भवति । यथा सलिले जले संधीयमानं सैंधवं लवणं विलीयते लवणाकारं परित्यज्य जलाकारं भवति तथा तद्वत्तत्त्वे आत्मनि संधीयमानं कार्यमानं मनो विलीयते आत्माकारं भवति ॥ ५९ ॥

भाषार्थ-जैसे कपूर अग्निमें संयोग करनेसे विशेषकर लीन होता है अर्थात् अग्निके आकार होजाता है और जैसे जलमें संयुक्त किया सैंधव लवण विलीन होता है अर्थात् लवणके आकारको त्यागकर जलाकर होजाता है--तिसी प्रकार तत्त्वरूप आत्मामें संयुक्त किया मन विलीन होता है । अर्थात् आत्माकार हो जाता है ॥ ५९ ॥

ज्ञेयं सर्वं प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते ॥
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पंथा द्वितीयकः ॥ ६० ॥

मनसो विलये जाते द्वैतमपि लीयत इत्याह त्रिभिः—ज्ञेयमिति ॥ सर्वं सकलं ज्ञेयं ज्ञानार्हं प्रतीतं च ज्ञातं च ज्ञानं च इदं सर्वं मन उच्यते। सर्वस्य मनःकल्पनामात्रत्वान्मनःशब्देनोच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं च समं मनो विलियते मनसा सार्धं नष्टं यदि तर्हि द्वितीयकः द्वितीय एव द्वितीयकः पंथा मनोविषयो नास्ति। द्वैतं नास्तीति फलितार्थः ॥ ६० ॥

भाषार्थ—अब मनके लय होनेपर द्वैतकाभी लय वर्णन करते हैं कि, संपूर्ण जो ज्ञेय (ज्ञानके योग्य) अर्थात् ज्ञात प्रतीयमान है और ज्ञान यह सब मन कहाता है क्योंकि ये सब मनकी कल्पनामात्र हैं यदि ज्ञान और ज्ञेय मन सहित नष्ट हो जायँ तो दूसरा मार्ग नहीं है अर्थात् मनका विषय जो द्वैत है वह नहीं रहता है ॥ ६० ॥

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किंचित्सचराचरम् ॥
मनसो ह्युन्मनीभावाद्द्वैतं नवोपलभ्यते ॥ ६१ ॥

मनोदृश्यमिति ॥ इदमुपलभ्यमानं यत्किंचिद्यत्किमपि चरं जंगममचरं स्थावरं चरं चाचरं च चराचरे ताभ्यां सह वर्तत इति सचराचरं यज्जगत्सर्वं मनोदृश्यं मनसा दृश्यम्। मनःसंकल्पमात्रमित्यर्थः। मनःकल्पनासत्त्वे प्रतीतिस्तदभावे चाप्रतीतिर्भ्रम एव सर्वं जगत्। भ्रमस्य प्रतीतिकशरीरत्वात्। न च बौद्धमतप्रसंगः। भ्रमाधिष्ठानस्य ब्रह्मणः सत्यत्वाभ्युपगमात्। मनस उन्मनीभावाद्विलयाद्द्वैतं भेदः नैवोपलभ्यते नैव प्रतीयते। द्वैतभ्रमहेतोर्मनःसंकल्पस्याभावात् हि तद्द्वैताव्ययम् ॥ ६१ ॥

भाषार्थ—यह दीखता हुआ जो स्थावर जंगम (चराचर) रूप सहित जगत् जो कुछ है वह सब मनसे देखने योग्य है अर्थात् मनसे कल्पित है अर्थात् मनकी कल्पना होनेपर प्रतीत होताहै और कल्पनाके अभावमें प्रतीत नहीं होता है इससे भ्रमरूपही है और भ्रमका शरीर प्रतीतिमात्र होता है कदाचित् कहो कि, ऐसे कहोगे तो बौद्धमतका प्रसंग होजायगा सो ठीक नहीं क्योंकि, भ्रमके अधिष्ठान ब्रह्मको सत्य मानतेहैं और उक्त मनके उन्मनीभाव (विलय) से द्वैत (भेद) प्रतीतही नहीं होताहै क्योंकि, द्वैतभ्रमका हेतु जो मनका संकल्प है उसका अभाव है ॥ ६१ ॥

ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ॥
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ॥ ६२ ॥

ज्ञेयमिति ॥ ज्ञेयं ज्ञानविषयं यद्वस्तु सर्वं चराचरं यद्दृश्यं तस्य परित्यागान्नामरूपात्मकस्य तस्य परिवर्जनाद्विलयं सच्चिदानंदरूपात्माकारं

भवति । मनसो विलये जाते सति कैवल्यं केवलस्यात्मनो भावः कैवल्य-मवशिष्यते अद्वितीयात्मस्वरूपमवशिष्टं भवतीत्यर्थः ॥ ६२ ॥

भाषार्थ-ज्ञानका विषय जो चराचररूप दृश्य है उसके परित्यागसे अर्थात् नामरूपात्मक जगत्के वर्जित करनेसे मन विलयको प्राप्त होजाता है अर्थात् सच्चिदानंदरूप आत्माकार होजाता है और मनका विलय होनेपर कैवल्य शेष रहजाता है अर्थात् अद्वितीय आत्मारूपही शेष रहजाता है ॥ ६२ ।

एवं नानाविधोपायाः सम्यक्स्वानुभवान्विताः ॥
समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः ॥६३॥

एवमिति ॥ एवमंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिरित्याद्युक्तप्रकारेण महान् समाधिपारिशीलनशुद्ध आत्मांतःकरणं येषां ते महात्मानस्तैर्महात्मभिः पूर्वे च ते आचार्याश्च पूर्वाचार्या मत्स्येंद्रादयस्तैः समाधेश्चित्तवृत्तिनिरोधस्य मार्गाः प्राप्त्युपायाः कथिताः । कीदृशाः समाधिमार्गाः । नानाविधोपायाः नानाविधा उपायाः साधनानि येषां ते तथा सम्यक् समीचीनतया संशयविपर्ययराहित्येन यः स्वानुभव आत्मानुभवस्तेनान्विता युक्ताः ॥ ६३ ॥

भाषार्थ-इसप्रकार नानाप्रकारके उपाय (साधन) हैं-जिनके और भलीप्रकार जो स्वानुभव अर्थात् संशय और विपर्यसे रहित आत्मानुभव उससे युक्त चित्तवृत्तिनिरोधरूप समाधिके मार्ग अर्थात् प्राप्तिके उपाय पहिले महात्मा आचार्योंने कहे हैं अर्थात् समाधिके अभ्याससे महान् (शुद्ध) है आत्मा (अन्तःकरण) जिनका ऐसे महात्मा मत्स्येंद्र आदि पूर्वाचार्योंने अपने अनुभवसे पूर्वोक्त समाधिके मार्ग वर्णन किये हैं ॥ ६३ ॥

सुषुम्नायै कुंडलिन्यै सुधायै चन्द्रजन्मने ॥
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥६४॥

सुषुम्नादिभ्यः कृतकृत्यस्ताः प्रणमति-सुषुम्नायै इति ॥ सुषुम्नामध्यनाडी तस्यै कुंडलिन्यै आधारशक्त्यै चन्द्राद्भ्रूमध्यस्थाज्जन्म यस्यास्तस्यै सुधायै पीयूषायै मनोन्मन्यै तुर्यावस्थायै चिच्चैतन्यमात्मा स्वरूपं यस्याः सा तथा तस्यै । महती जडानां कार्येंद्रियमनसां चैतन्यसंपादकत्वात्सर्वोत्तमा या शक्तिश्चिच्छक्तिः पुरुषरूपा तस्यै । तुभ्यमिति प्रत्येकं संबध्यते । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु ॥ ६४ ॥

भाषार्थ-सुषुम्ना आदि नाडियोंसे कृतकृत्य हुये आचार्य उनको प्रणाम करते हैं कि, मध्यनाडीरूप सुषुम्नाको और आधारशक्तिरूप कुण्डलिनीको और चन्द्रमासे है जन्म

जिसका ऐसी सुधाको और तुर्यावस्थारूप उस मनोन्मनीको नमस्कार है जो मनोन्मनी देह इंद्रिय मनरूप जो जड पदार्थ हैं उनकोभी चेतनताकी सम्पादक होनेसे सबसे वडी शक्ति (चित शक्ति पुरुष) रूप है और जो चेतन आत्मा स्वरूप है--इस श्लोकमें तुमको नमस्कार है इस पदका सर्वत्र संवन्ध है ॥ ६४ ॥

अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम् ॥
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥ ६५ ॥

नानाविधान्समाध्युपायानुक्त्वा नादानुसंधानरूपं मुख्योपायं प्रतिजानीते-अशक्येति॥ अव्युत्पन्नत्वादशक्यस्तत्त्वबोधस्तत्त्वज्ञानं येषां ते यथा तेषां मूढानामनधीतानां संमतम्। अपिशब्दात्किमुताधीतानामिति गम्यते। गोरक्षनाथेन प्रोक्तमित्यनेन महदुक्तत्वादुपादेयत्वं गम्यते। नादस्यानाहतध्वनेरुपासनेऽनुसंधानरूपं सेवनमुच्यते कथ्यते ॥ ६५ ॥

भाषार्थ-अनेक प्रकारके समाधिके उपयोंको कहकर नादानुसंधान रूप मुख्य जो उपाय है उसके वर्णनकी प्रतिज्ञा करते हैं कि, अव्युत्पन्न (मूर्ख) होनेसे जिसका तत्त्वज्ञान अशक्य हैं उन मूढोंकोभी जो संमत हैं और अतिशब्दसे पठित मनुष्योंको तो संमत क्यों न होगा ऐसे गोरक्षनाथके कहेहुये नादोपासन अर्थात् अनाहतध्वनिका सेवन वर्णन करते हैं और यह नादका अनुसन्धान गोरक्षनाथ महान् पुरुषने कहा है इससे अवश्य करने योग्य है ॥ ६५ ॥

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयंति ॥
नादानुसंधानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥ ६६ ॥

श्रीआदिनाथेनेति ॥ श्रीआदिनाथेन शिवेन कथिताः प्रोक्ताः पादेन चतुर्थांशेन सह वर्तमानाः कोटिसंख्याकालयप्रकाराश्चित्तलयसाधनभेदा जयंत्युत्कर्षेण वर्तंते। वयं तु नादानुचिंतनमेव एकं केवलं लयानां लयसाधनानां मध्ये मुख्यतममतिशयेन मुख्यं मन्यामहे जानीमहे उत्कृष्टानां लयसाधनानां मध्ये उत्कृष्टतमत्वाद्गोरक्षाभिमतत्वाच्च नादानुसंधानमेव अवश्यं विधेयमिति भावः ॥ ६६ ॥

भाषार्थ-श्रीआदिनाथ (शिवजी) ने सवाकरोड चित्तके लयके प्रकार कहे हैं और वे सर्वोतम रूपसे वर्तते हैं हम तो एक नादानुसंधान (नादकासेवन) कोही केवल अत्यंत मुख्य लयसे साधनोंमें मानते हैं क्योंकि, वह सबसे उत्तम है और गोरक्षनाथको अभिमत है इससे अवश्य करने योग्य है ॥ ६६ ॥

मुक्तासने स्थितो योगो मुद्रां संधाय शांभवीम् ॥
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमंतःस्थमेकधीः ॥ ६७ ॥

शांभवीमुद्राया नादानुसंधानमाह–मुक्तासन इति । मुक्तासने सिद्धासने स्थितो योगी शांभवीं मुद्राम् 'अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिः' इत्यादिनोक्तां संधाय कृत्वा । एकधीरेकाग्रचित्तःसन् दक्षिणे कर्णेऽन्तस्थसुषुम्नानाड्यां संतमेव नादं शृणुयात् । तदुक्तं त्रिपुरसारसमुच्चये-'आदौ मत्तालिमालाजनितरवसमस्तारसंस्कारकारी नादोऽसौ वांशिकस्यानिलभरितलसद्वंशनिःस्वानतुल्यः । घंटानादानुकारी तदनु च जलधिध्वानधीरो गभीरो गर्जन्पर्जन्यघोषः पर इह कुहरे वर्तते ब्रह्मनाड्या' इति ॥ ६७ ॥

भाषार्थ–अब शांभवी मुद्रासे नादानुसंधानका वर्णन करते हैं कि, मुक्तासन सिद्धासनमें स्थित योगी भीतर लक्ष्य और बाहिर दृष्टि इत्यादि ग्रंथसे कही हुई शांभवीमुद्राको करके और एकाग्रचित्त होकर दक्षिणकर्णके विषे सुषुम्नानाडीमें वर्तमान जो देहके भीतरका शब्द है उसको सुनै सोई त्रिपुरसारसमुच्चयमें कहा है कि, तारके संस्कारका कर्ता नाद प्रथमतो उन्मत्त भ्रमरोंके समूहका जो शब्द उसके समान और फिर पवनसे भरेहुये शोभित वंशके शब्दकी तुल्य और फिर घंटाके शब्द समान और समुद्रके शब्दकी तुल्य धीर और फिर गर्जतेहुये मेघका जो शब्द उसके समान गंभीर ऐसा पूर्वोक्त नाद इस देहमें सुषुम्नानाडीके छिद्रमें वर्तता है ॥ ६७ ॥

श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम् ॥
शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥ ६८ ॥

पराङ्मुखीमुद्रया नादानुसंधानमाह–श्रवणेति ॥ श्रवणपुटे नयनयोर्नेत्रयोर्युगलं युग्मं प्राणशब्देन घ्राणपुटे मुखमास्यमेषाम् । द्वंद्वे प्राण्यंगत्वादेकवद्भावे प्राप्तेऽपि सर्वस्यापि द्वंद्वैकवद्भावस्य वैकल्पिकत्वान्न भवति।तेषां निरोधनं करांगुलिभिः कार्यम् । निरोधनं चेत्थम्–अंगुष्ठाभ्यामुभौ कर्णौ तर्जनीभ्यां च चक्षुषी ।नासापुटौ तथान्याभ्यां प्रच्छाद्य करणानि च'इति। चकारात्तदन्याभ्यां मुखं प्रच्छाद्येति समुच्चीयते। शुद्धा प्राणायामैर्मलरहिता या सुषुम्नासरणिः सुषुम्नापद्धतिस्तस्याममलो नादःस्फुटं व्यक्तं श्रूयते६८।

भाषार्थ–अब पराङ्मुखीनाडीसे नादके अनुसंधानका वर्णन करते हैं कि, कर्ण और नेत्र और घ्राण इन तीनोके युगल (दोनों छिद्र) और मुख इनका निरोध करै अर्थात् हाथकी अंगुलियोंसे इनको रोकै और निरोध भी इस वचनके अनुसार करे कि

अंगुष्ठोंसे दोनों कानोंका और तर्जनियोंसे दोनों नेत्रोंका और मध्यमाओंसे नासापुटोंका और चकारके पढनेसे तर्जनियोंसे मुखका आच्छादन करै इसप्रकारका इंद्रियोंका निरोध करनेसे प्राणायामोंसे मलरहित जो सुषुम्नाका मार्ग है उसमें स्फुट (प्रत्यक्ष) अमल (स्पष्ट) नाद सुनताहै ॥ ६८ ॥

आरंभश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ॥
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥६९॥

अथ नादस्य चतस्रोऽवस्थाः प्राह-आरंभश्चेति ॥ आरंभावस्था घटावस्था परिचयावस्था निष्पत्त्यवस्था इति । सर्वयोगेषु सर्वेषु चित्तवृत्तिनिरोधोपायेषु शांभव्यादिषु व्यवस्थाचतुष्टयं स्यात् । तथैवतथापिचाः पादपूरणार्थाः ॥ ६९ ॥

भाषार्थ-अब नादकी चार अवस्थाओंका वर्णन करतेहैं कि, आरंभ अवस्था-घटावस्था-परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था ये चारअवस्था संपूर्ण चित्तवृत्तिके निरोधरूपयोगोंमें होतीहैं अर्थात् शांभवीमुद्रादिकोंमें ये चारही अवस्था होती हैं ॥ ६९ ॥

अथारंभावस्था ।

ब्रह्मग्रंथेर्भवेद्भेदो ह्यानंदः शून्यसंभवः ॥
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥७०॥

तत्रारंभावस्थामाह-ब्रह्मग्रंथेरिति ॥ ब्रह्मग्रंथेरनाहतचक्रे वर्तमानाया भेदः प्राणायामाभ्यासेन भेदनं यदा भवेत्तदेति यत्तदोरध्याहारः । आनंदयतीत्यानंदः आनंदजनकः शून्ये हृदाकाशे संभवतीति शून्यसंभवो हृदाकाशोत्पन्नो विचित्रो नानाविधः क्वणो भूषणनिनदः स एव क्वणकः भूषणनिनदसदृश इत्यर्थः । 'भूषणानां तु शिंजितम् । निक्वाणो निक्वणः क्वाणः क्वणः क्वणनमित्यपि ' इत्यमरः । अनाहतो ध्वनिरनाहतो निर्ह्रादो देहे देहमध्ये श्रूयते श्रवणविषयो भवतीत्यर्थः॥७०

भाषार्थ-उन चारोंमें आरंभावस्था जो सबसे प्रथम है उसका वर्णन करतेहैं कि अनाहतचक्रमें वर्तमान ब्रह्मग्रंथिका जब प्राणायामोंके अभ्याससे भेद होताहै तब आनंदका उत्पादक और हृदयाकाशरूप शून्यमें उत्पन्न-और अनेकविध और भूषणोंके शब्दकी तुल्य अनाहत अर्थात् विना ताडनासे उत्पन्न ध्वनि (शब्द) देहके मध्यमें सुनता है-इस श्लोकमें क्वणशब्दसे भूषणोंका शब्द-इस अमरके श्लोकसे लेना कि, भूषणोंके शब्दको शिंजित-निक्वाण-निक्वण-क्वाण-क्वण क्वणन कहतेहैं ॥ ७० ॥

दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगंधस्त्वरोगवान् ॥
संपूर्णहृदयः शून्य आरंभो योगवान्भवेत् ॥ ७१ ॥

दिव्यदेह इति ॥ शून्ये हृदाकाशे य आरंभो नादारंभस्तस्मिन् सति हृदाकाशविशुद्धाकाशभ्रूमध्याकाशाः शून्यातिशून्यमहाशून्यशब्दैर्व्यवह्रियंते योगिभिः । संपूर्णहृदयः प्राणवायुना सम्यक्पूर्णं हृदयं यस्य स तथा आनंदेन पूर्णे हृदये योगवान् योगी दिव्यो रूपलावण्यबलसंपन्नो देहो यस्य स दिव्यदेहः तेजस्वी प्रतापवान् दिव्यगंधः दिव्य उत्तमो गंधो यस्य स तथा आरोगवान् रोगरहितो भवेदिति संबंधः॥७१

भावार्थ–हृदाकाशरूप शून्यमें आरंभ (नादका प्रारंभ) होनेपर अर्थात् यदि हृदयमें नादकी प्रतीति होय तो-प्राणवायुसे भलीप्रकार पूर्ण है हृदय जिसका और आनंदसे पूर्ण हृदयके होनेपर योगी-रूपलावण्यसे संपन्नरूप दिव्यदेह होताहै और तेजस्वी (प्रतापी) और उत्तम गंधवान् और रोगोंसे रहित होताहै यहां शून्यसे हृदयाकाश इसलिये कहाहै कि हृदाकाश विशुद्धाकाश भ्रुकुटिमध्यका आकाश इन तीनोंका क्रमसे शून्य अतिशून्य महाशून्य शब्दोंसे व्यवहार योगीजन करते हैं ॥ ७१ ॥

अथ घटावस्था ।

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ॥
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ॥ ७२ ॥

घटावस्थामाह–द्वितीयायामिति ॥ द्वितीयायां घटावस्थायां वायुः प्राणः घटीकृत्य आत्मना सहापानं नादबिंदू चैकीकृत्य मध्यगो मध्यचक्रगतः कण्ठस्थाने मध्यचक्रम् । तदुक्तमत्रैव जालंधरबंधे–'मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम्' इति यदा भवेदित्यध्याहारः । तदास्यामवस्थायां योगी योगाभ्यासी दृढमासनं यस्य स दृढासनः स्थिरासनो ज्ञानी पूर्वापेक्षया कुशलबुद्धिर्देवसमो रूपलावण्याधिक्याद्देवतुल्यो भवेत् । तदुक्तमीश्वरोक्ते राजयोगे–'प्राणापानौ नादबिंदू जीवात्मपरमात्मनोः । मिलित्वा घटते यस्मात्तस्मात्स घट उच्यते ॥' इति ॥ ७२ ॥

भावार्थ–अब घटावस्थाको कहते हैं कि, दूसरी घटावस्थामें प्राण वायु अपने संग अपान और नाद बिंदु इनको एक करके कण्ठस्थानके विषे वर्तमान जो मध्यचक्र उसमें गत हो (पहुँच) जाता है सोई जालंधर बन्धमें कह आये हैं कि, सोलह आधार हैं बंधन जिसका ऐसा यह मध्यचक्र जानना अर्थात् जब यह पूर्वोक्त अवस्था होजाय तो

योगी उस अवस्थामें दृढ (स्थिर) आसन और ज्ञानी अर्थात् पूर्वकी अपेक्षासे कुशलबुद्धि और रूप लावण्यकी अधिकतासे देवतुल्य होजाता है सोई ईश्वरोक्त राजयोगमें कहा है कि, जिससे प्राण अपान नाद विंदु जीवात्मा परमात्मा इनको मिलकर यह घटती है तिससे घटावस्था कहाती है ॥ ७२ ॥

विष्णुग्रंथेस्ततो भेदात्परमानंदसूचकः ॥
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥ ७३ ॥

विष्णुग्रंथेरिति ॥ ततो ब्रह्मग्रंथिभेदनानंतरं विष्णुग्रंथेः कण्ठे वर्तमानाया भेदात्कुंभकैर्भेदनात्परमानंदस्य भाविनो ब्रह्मानंदस्य सूचको ज्ञापकः । अतिशून्ये कण्ठावकाशे विमर्दोऽनेकनादसंमर्दो भेर्याः शब्द इव शब्दो भेरीशब्दो भेरीनादश्च तदा तस्मिन्काले भवेत् ॥ ७३ ॥

भाषार्थ-फिर ब्रह्मग्रंथिभेदनके अनन्तर कण्ठके विषे वर्तमान जो विष्णुग्रंथि है उसके भेदसे अर्थात् कुंभकप्राणायामोंसे विष्णुग्रंथिके खुलनेपर होनेवाला जो परमानन्द (ब्रह्मानन्द) है उसका सूचक (ज्ञापक) अतिशून्यरूप कण्ठाकाशमें विमर्द अर्थात् भेरीके शब्द समान अनेकनादोंका संमर्द और भेरीका शब्द उस समय होते हैं ॥ ७३ ॥

अथ परिचयावस्था ।

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः ॥
महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥ ७४ ॥

परिचयावस्थामाह सार्धद्वाभ्याम्-तृतीयायामिति ॥ तृतीयायां परिचयावस्थायां विहायोमर्दलध्वनिर्विहायसि भ्रूमध्याकाशे मर्दलस्य वाद्यविशेषस्य ध्वनिरिव ध्वनिर्विज्ञेयो विशेषेण ज्ञानार्हो भवति । तदा तस्यामवस्थायां सर्वसिद्धिसमाश्रयं सर्वासां सिद्धीनामणिमादीनां समाश्रयं स्थानम् । तत्र संयमादणिमादिप्राप्ते महाशून्यं भ्रूमध्याकाशं याति गच्छति प्राण इति शेषः ॥७४॥

भाषार्थ-अब अढाई श्लोकोंसे परिचयावस्थाका वर्णन करते हैं कि, तीसरी परिचयावस्थामें भ्रुकुटिके मध्यरूप आकाशमें मर्दलनाम वाद्यविशेष (ढोल) की ध्वनि विशेष करके जाननी और उस अवस्थामें प्राणवायु संपूर्ण अणिमा आदि सिद्धियोंका समाश्रय जो (स्थान) महाशून्य है, भ्रुमध्याकाशरूप उसमें पहुंच जाता है क्योंकि महाशून्यमें वायुका संयम करनेसे अणिमा आदि सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है ॥ ७४ ॥

चित्तानंदं तदा जित्वा सहजानंदसंभवः ॥
दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः ॥ ७५ ॥

चित्तानंदमिति ॥ चित्तानंदं नादविषयांतःकरणवृत्तिजन्यं सुखं जित्वाभिभूय सहजानंदसंभवः सहजानंदः स्वाभाविकात्मसुखं तस्य संभव आविर्भावः स दोषा वातपित्तकफा दुःखं तज्जन्या वेदना आध्यात्मिकादि च जरा वृद्धावस्था व्याधिज्वरादिः क्षुधा बुभुक्षा निद्रा स्वाप एतैर्विवर्जितो रहितस्तदा योगी भवतीति ॥ ७५ ॥

भाषार्थ-और उस योगीका नादका विषय जो अंतःकरणकी वृत्ति है उससे उत्पन्न रूप जो चित्तका आनंद है उसका तिरस्कार करनेके अनंतर स्वाभाविक आत्मसुखरूप जो सहजानंद है उसका आविर्भाव (प्रकटता) होता है--फिर वह योगी वातपित्तकफरूप दोषोंका दुःख, वृद्ध अवस्था, और आध्यात्मिक दुःख, और ज्वर आदि व्याधि क्षुध (भोजनकी इच्छा) निद्रा-इनसे विवर्जित उस समय होता है ॥ ७५ ॥

रुद्रग्रंथिं यदा भित्त्वा शर्वपीठगतोऽनिलः ॥
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ॥ ७६ ॥

तदा कदेत्यपेक्षायामाह—रुद्रेति ॥ यदा रुद्रग्रंथिं भित्त्वा आज्ञाचक्रे रुद्रग्रंथिः 'शर्वस्येश्वरस्य पीठं स्थानं भ्रूमध्यं तत्र गतः प्राप्तोऽनिलः प्राणो भवति तदा । निष्पत्त्यवस्थामाह—निष्पत्ताविति ॥ निष्पत्तौ निष्पत्त्यवस्थायाम् । ब्रह्मरंध्रे गते प्राणे निष्पत्त्यवस्था भवति । वैणवः वेणोरयं वैणवो वंशसंबंधी शब्दो निनादः क्वणंती शब्दायमाना या वीणा तस्याः क्वणः शब्दो भवेत् ॥ ७६ ॥

भाषार्थ-जिस समय वायु उस रुद्रग्रंथिका भेदन करके जो रुद्रग्रंथि आज्ञाचक्रमें होती है शर्व (ईश्वर) का पीठ (स्थान) जो भ्रुकुटीका मध्य है उसमें प्राप्त हो जाता है-अब निष्पत्तिअवस्थाका वर्णन करते हैं कि, निष्पत्तिअवस्थामें अर्थात् प्राणके ब्रह्मरंध्रमें पहुंचनेपर ऐसा वेणु (वंश) के शब्दके तुल्य शब्द होता है जैसा शब्द करती हुई वीणाका शब्द होता है ॥ ७६ ॥

एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ॥
सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ॥ ७७ ॥

एकीभूतमिति ॥ तदा तस्यामवस्थायां चित्तमंतःकरणमेकीभूतमेक-

विषयीभूतम् । विषयविषयिणोरभेदोपचारात् । तद्राजयोगाभिधानकं राजयोग इत्यभिधानं यस्य तद्राजयोगाभिधानकं चित्तस्यैकाग्रतैव राजयोग इत्यर्थः ॥ सृष्टिसंहारेति । असौ नादानुसंधानपरो योगी सृष्टिसंहारकर्ता सृष्टिं संहारं च करोतीति तादृशः । अतएवेश्वरसम ईश्वरतुल्यो भवेत् ॥ ७७ ॥

भाषार्थ-उस निष्पत्तिअवस्थामें चित्त एकीभूत होजाता है अर्थात् विषय और विषयी (ज्ञान) इनका अभेद (एकता) होनेसे राज है नाम जिसका ऐसा यह चित्त होजाता है क्योंकि, चित्तकी एकाग्रताकोही राजयोग कहते हैं और वह योगी सृष्टि और संहारका कर्ता ईश्वरके समान होजाता है अर्थात् नादके अनुसंधानसे रचना और संहारका कर्ता ईश्वररूप होजाता है ॥ ७७ ॥

अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखंडितं सुखम् ॥
लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥ ७८ ॥
राजयोगमजानंतः केवलं हठकर्मिणः ॥
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ॥ ७९ ॥

अस्तु वेति ॥ राजयोगमिति ॥ उभौ प्राग्व्याख्यातौ ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

भाषार्थ-यद्यपि इन दोनों श्लोकोंका अर्थ पहिले लिख आये हैं तथापि यहांभी किंचित् लिखते हैं कि, मुक्ति हो वा मत हो इस नादानुसंधान-करनेमेंही अखंड सुख होता है और लयसे उत्पन्न हुआ यह सुख राजयोगसे प्राप्त होता है ॥७८॥ और जो योगी राजयोगको नहीं जानते हैं और हठयोगकी क्रियाको करते हैं उन अभ्यासियोंको मैं परिश्रमके फलसे वर्जित मानताहूँ अर्थात् उनको हठयोगका फल नहीं होता है ॥ ७९ ॥

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम संमतम् ॥
राजयोगपदं प्राप्तुं सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ॥
सद्यः प्रत्ययसंधायी जायते नादजो लयः ॥ ८० ॥

उन्मन्यवाप्तय इति ॥ शीघ्रं त्वरितमुन्मन्या उन्मन्यवस्थाया अवाप्तये प्राप्त्यर्थं भ्रूध्यानं भ्रुवोर्ध्यानं भ्रूमध्ये ध्यानं मम स्वात्मारामस्य संमतम् । राजयोगो योगानां राजा तदेव पदं राजयोगपदं तुर्यावस्थाख्यं प्राप्तुं लब्धुं पूर्वोक्तभ्रूमध्यानरूपः सुखोपायः सुखसाध्यः उपायः सुखोपायः अल्पचेतसामल्पबुद्धीनामपि । किमुतान्येषामित्यभिप्रायः । नादजः नादाज्जातो लयश्चित्तविलयः सद्यः शीघ्रं प्रत्ययं प्रतीतं संदधातीति प्रत्ययसंधायी प्रतीतिकरो जायते प्रादुर्भवति ॥ ८० ॥

भाषार्थ–उन्मनीअवस्थाकी शीघ्र प्राप्तिके लिये मुक्त स्वात्मारामयोगीको भ्रुकुटियोंके मध्यमें जो ध्यान है वह संमत है और सब योगोंका राजारूप जो राजयोग है उस तुर्यअवस्थानामके राजयोगकी प्राप्तिके लिये पूर्वोक्त भ्रुकुटियोंका ध्यानही अल्पबुद्धियोंके लिये सुख (सरल) उपाय है–और नादसे उत्पन्नभया जो चित्तका विलय है वह शीघ्रही प्रतीतिको करनेवाला होता है ॥ ८० ॥

नादानुसंधानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् ॥
आनंदमेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः॥८१॥

नादानुसंधानेति ॥ नादस्यानाहतध्वनेरनुसंधानमनुचिंतनं तेनं समाधिश्चित्तैकाग्र्यं तं भजंतीति नादानुसंधानसमाधिभाजस्तेषां योगिषु योगयुक्तेष्वीश्वराः समर्थास्तेषां हृदि हृदये वर्धते इति वर्धमानस्तं वर्धमानं वचसां वाचामगम्यम् । इदमिति वक्तुमशक्यं तं योगशास्त्रप्रसिद्धमेकं मुख्यमानंदमाह्लादमेकोऽनन्यः श्रीगुरुनाथः श्रीमान् गुरुरेव नाथो जानाति वेत्ति । एतेन नादानुसंधानानंदो गुरुगम्य एवेति सूचितम् ॥ ८१ ॥

भाषार्थ–अनाहतध्वनिरूप जो नाद है उसके अनुसंधान (स्मरण) से जो चित्तकी एकाग्रतारूप समाधि है उसके कर्ता जो योगीश्वर (योगियोंमें जो उत्तम) है उनके हृदयमें बढताहुआ और वाणी जिसको 'यह है' इसप्रकार नहीं कहसकता है–ऐसा जो योगशास्त्रमें प्रसिद्ध एक (मुख्य) आनंद होता है एक श्रीगुरुनाथ अर्थात् श्रीयुत गुरुस्वामीही जानते हैं–इससे यह सूचित किया कि नादके अनुसंधानका आनंद गुरुकी दयासेही प्रतीत हो सकता है अन्य प्रकारसे नहीं हो सकता ॥ ८१ ॥

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः ॥
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत् ॥ ८२ ॥

नादानुसंधानात्प्रत्याहारादिक्रमेण समाधिमाह–कर्णावित्यादिभिः ॥ मुनिर्मननशीलो योगी हस्ताभ्यामित्यनेन हस्तांगुष्ठौ लक्ष्यते । ताभ्यां कर्णौ श्रोत्रे पिधाय । हस्तांगुष्ठौ श्रोत्रविवरयोः कृत्वेत्यर्थः । यं ध्वनिमनाहतनिःस्वनं शृणोत्याकर्णयति तत्र तस्मिन् ध्वनौ चित्तं स्थिरीकुर्यादस्थिरं स्थिरं संपद्यमानं कुर्यात् । यावत्स्थिरं पदं स्थिरपदं तुर्याख्यं गच्छेत् । तदुक्तम्–तुर्यावस्था चिदभिव्यंजकनादस्य वेदनं प्रोक्तमिति नादानुसंधानेन वायुस्थैर्यमणिमादयोऽपि भवतीति । उक्तं च त्रिपुरसारसमुच्चये–'विजितो भवतीह तेन वायुः सहजो यस्य समुत्थितः प्रणादः। अणिमादि-

भवंति तस्यामितपुण्यं च महागुणोदयस्य॥सुरराजतनूजवैरिरंध्रे विनिरुध्य स्वकरांगुलिद्वयेन। जलधेरिव धीरनादमंतः प्रसरंतं सहसा शृणोतिमर्त्यः॥ इति॥सुरराज इंद्रस्तस्य तनूजोऽर्जुनस्तस्य वैरी कर्णस्तद्रंध्रे स्पष्टमन्यत्॥८२

भाषार्थ—नादके अनुसंधानसे प्रत्याहार आदिके क्रमसे समाधिका वर्णन करते हैं कि मननका कर्ता योगी हाथोंके अंगूठोंसे कर्णोंको ढककर अर्थात् अंगूठोंको कर्णोंके छिद्रोंमें लगाकर जिस अनाहतध्वनिको सुनता है उस अनाहतध्वनिमें अस्थिर भी चित्तको तबतक स्थिर करै जबतक तुर्यावस्थारूप स्थिरपदको प्राप्त न हो-सोई कहा है कि, तुर्यावस्था, चेतनका अभिव्यंजक (ज्ञापक) जो नाद उसका ज्ञानरूप है और नादके अनुसंधानसे वायुकी स्थिरता और अणिमा आदि सिद्धिभी होती हैं--और त्रिपुर सारसमुच्चयमें भी कहाहै कि जिस योगीके देहमें स्वाभाविक नाद भलीप्रकार उठता है वह वायुको जीत-लेता है और उसको अणिमा आदिगुण, और उस महोदयको अतुल पुण्य होते हैं, अपने हाथकी दो अंगुलियोंसे कर्णोंके छिद्रोंको रोककर--समुद्रके समान धीर जो नाद देहके भीतर फैलाता है उसको मनुष्य (योगी) शीघ्रही सुनता है ॥ ४२ ॥

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ॥
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥८३॥

अभ्यस्यमान इति॥अभ्यस्यमानोऽनुसंधीयमानोऽयं नादोऽनाहताख्यो बाह्यध्वनिं बहिर्भवं शब्दमावृणुते श्रुत्योर्विषयम्। योगी नादाभ्यासी पक्षान्मासार्धादखिलं सर्वं विक्षेपं चित्तचांचल्यं जित्वाऽभिभूय सुखी स्वानंदो भवेत् ॥ ८३ ॥

भाषार्थ—अभ्यास कियाहुआ अर्थात् अनुसंधान किया यह नाद बाहिरका जो शब्द है उसका आवरण करता है अर्थात् बाह्यके शब्दकोभी योगी सुनलेता है और वह नादका अभ्यासी योगी एक पक्षभरसेही चित्तकी चंचलता रूप संपूर्ण विक्षेपको जीतकर सुखी होता है अर्थात् आत्मानंदरूप सुखको प्राप्त होता है ॥ ८३ ॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ॥
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ॥ ८४ ॥

श्रूयत इति ॥ प्रथमाभ्यासे पूर्वाभ्यासे नानाविधोऽनेकविधो महान् जलधिजीमूतभेर्यादिसदृशो नादोऽनाहतस्वनः श्रूयते आकर्ण्यते। ततोऽनंतरमभ्यासे नादानुसंधानाभ्यासे वर्धमाने सति सूक्ष्मसूक्ष्मकःसूक्ष्मःसूक्ष्म एव श्रूयते श्रवणविषयो भवति ॥ ८४ ॥

भाषार्थ—प्रथम २ अभ्यासमें अनेकप्रकारका अर्थात् समुद्र मेघ भेरीके शब्दकी तुल्य

महान् (भारी) नाद सुना जाता है और उसके अनंतर अभ्यासके होनेपर सूक्ष्म २ शब्द सुना जाता है ॥ ८४ ॥

आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसंभवाः ॥
मध्ये मर्दलशंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा ॥ ८५ ॥

नानाविधं नादमाह द्वाभ्याम्–आदाविति॥आदौ वायोर्ब्रह्मरंध्र गमनसमये जलधिः समुद्रो जीमूतो मेघो भेरी वाद्यविशेषः। 'भेरी स्त्री दुंदुभिः पुमान्' इत्यमरः । झर्झरो वाद्यविशेषः । 'वाद्यप्रभेदा डमरुमड्डुडिंडिमझर्झराः । मर्दलः पणवोऽन्येऽपि' इत्यमरः । जलधिप्रमुखेभ्यः संभव इव संभवो येषां ते तथा मध्ये ब्रह्मरंध्रे वायोः स्थैर्यानंतरं मर्दलो वाद्यविशेषः शंखो जलजस्ताभ्यामुत्था इव मर्दलशंखोत्थाः।घण्टाकाहलौ वाद्यविशेषौ ताभ्यां जाता इव घण्टाकाहलजाः ॥ ८५ ॥

भाषार्थ–अब दो श्लोकोंसे नाना प्रकारके नादका वर्णन करते हैं कि प्रथम २ प्राणवायुके ब्रह्मरंध्रमें गमनसमयमें समुद्र, मेघ, भेरी (धोंस) जो वाजे हैं और झर्झरी (झांझ) जो वाद्यविशेष हैं उनके शब्दके समान शब्द ब्रह्मरंध्रमें सुने जाते हैं और मध्यमें अर्थात् सुषुम्नामें प्राणवायुकी स्थिरताके अनंतर मर्दल शंख, इनके शब्दके तुल्य शब्द सुने जाते हैं तिसप्रकार घंटा और काहलनामके जो वाजे हैं उनके शब्दकी सदृश शब्द भी प्रतीत होते हैं ॥ ८५ ॥

अंते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः ॥
इति नानाविधा नादाः श्रूयंते देहमध्यगाः ॥ ८६ ॥

अंते त्विति॥अंते तु प्राणस्य ब्रह्मरंध्रे बहुस्थैर्यानंतरं तु किंकिणी क्षुद्रघंटिका वंशो वेणुःवीणा तंत्री भ्रमरो मधुपः तेषां निःस्वना इति पूर्वोक्ताः नानाविधा अनेकप्रकारका देहस्य मध्ये गताः प्राप्ताः श्रूयंते ॥ ८६ ॥

भाषार्थ–फिर प्राणकी ब्रह्मरंध्रमें स्थिरताके अंतमें किंकिणी--वंश · वीणा--भ्रमर इनके शब्दके तुल्य शब्द सुनेजाते हैं-इस प्रकार देहके मध्यमें नाना प्रकारके शब्द सुनेजाते हैं ८६॥

महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ॥
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥ ८७ ॥

महतीति॥मेघश्च भेरी च ते आदी यस्य स मेघभेर्यादिकस्तस्मिन् । मेघभेरीशब्दौ तज्जन्यनिर्घोषपरौ । महति बहुले ध्वनौ निनादे श्रूयमाणे आकर्ण्यमाने सत्यपि तत्र तेषु नादेषु सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरमतिसूक्ष्मं नादमेव

परामृशेच्चिन्तयेत् सूक्ष्मस्य नादस्य चिरस्थायित्वात्तत्रासक्तचित्तश्चिरं स्थिरमतिर्भवेदिति भावः ॥ ८७ ॥

भाषार्थ-मेघ, भेरी, आदिका जो महान् शब्द है उसकी तुल्य शब्दके सुननेपश्चात् उन शब्दोंमें सूक्ष्मसेभी सूक्ष्म जो नाद है उसका चिंतन करै क्योंकि सूक्ष्मनाद चिरकालतक रहताहै उसमें आसक्त हुआहै चित्त जिसका ऐसा मनुष्यभी चिरकालतक स्थिरमति होजाता है ॥ ८७ ॥

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ॥
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥ ८८ ॥

घनमिति ॥ घनं महांतं नादं मेघभेर्यादिकमुत्सृज्य घने वा नादे रममाणं घनसूक्ष्मान्यतरनादग्रहणपरित्यागाभ्यां क्रीडंतमपि क्षिप्तं रजसात्यंतचंचलं मनोऽन्यत्र विषयांतरे न चालयेन्न प्रेरयेत् । क्षिप्तं मनो विषयांतरासक्तं न समाधीयते नादेषु रममाणं तु समाधीयत इति भावः ॥ ८८ ॥

भाषार्थ-मेघ, भेरी आदिके महान् नादको त्यागकर सूक्ष्ममें वा सूक्ष्मनादको त्यागकर महान्नादमें रमण करतेहुये रजोगुणसे अत्यंत चंचल चित्तको अर्थात् महान्, सूक्ष्म शब्दके ग्रहण वा परित्यागसे क्रीडा करतेहुये मनको चलायमान न करै-क्योंकि, विषयांतरोंमें आसक्त मन समाधान नहीं होसकताहै और नादमें रमताहुआ जो मन उसका समाधान होसकता है ॥ ८८ ॥

यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ॥
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥ ८९ ॥

यत्रेति ॥ वा अथवा यत्रकुत्रापि नादे यस्मिन्कस्मिंश्चिद्घने सूक्ष्मे वा नादे प्रथमं पूर्वं मनो लगति लग्नं भवति तत्रैव तस्मिन्नेव नादे सुस्थिरीभूय सम्यक् स्थिरं भूत्वा तेन नादेन सार्धं साकं विलीयते लीनं भवतीत्यर्थः । अत्र पूर्ववाक्येन प्रत्याहारो द्वितीयेन धारणा तृतीयेन ध्यानद्वारा समाधिरुक्तः ॥ ८९ ॥

भाषार्थ-अथवा जिस किसी घन वा सूक्ष्म नादमें प्रथम मन लगे उसी नादमें भलीप्रकार स्थिर होकर उसी नादके संग लय होजाताहै-यहां पूर्व वाक्यसे प्रत्याहार दूसरेके धारणा और तीसरेसे ध्यानके द्वारा समाधि कही है ॥ ८९ ॥

मकरंदं पिबन्भृंगो गंधं नापेक्षते यथा ॥
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि कांक्षते ॥ ९० ॥

मकरंदमिति ॥ मकरंदं पुष्परसं पिबन् धयन् भृंगो भ्रमरो गंधं यथा नापेक्षते नेच्छति । तथा नादासक्तं नादे आसक्तं चित्तमंतःकरणं विषयान् विषिण्वंत्यवबध्नंति प्रमातारं स्वसंगेनेति विषयाः स्रक्चंदनवनितादयस्तान् न कांक्षते नेच्छति । हीति निश्चये ॥ ९० ॥

भाषार्थ-जैसे मकरंद (पुष्पका रस) का पान करताहुआ भ्रमर पुष्पके गंधकी अपेक्षा नहीं करताहै तिसीप्रकार नादमें आसक्त हुआ चित्त भी अपने बंधनके कर्ता जो स्रक् चंदन आदि विषय हैं उनकी आकांक्षा नहीं करताहै यह निश्चित है ॥ ९० ॥

मनो मत्तगजेंद्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥
नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशितांकुशः ॥ ९१ ॥

मन इति ॥ विषयः शब्दादिरेवोद्यानं वनं तत्र चरतीति विषयोद्यानचारी तस्य मन एव मत्तगजेंद्रः दुर्निवारत्वात् । तस्य निनाद एवानाहतध्वनिरेव निशितांकुशः तीक्ष्णांकुशः नियंत्रणे परावर्तने समर्थः शक्तः । एतैः श्लोकैः । 'चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् । यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ॥' इंद्रियाणां विषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहार इत्युक्तलक्षणः प्रत्याहारः प्रोक्तः ॥ ९१ ॥

भाषार्थ-शब्द आदि विषयरूप जो उद्यान उसमें विचरता हुआ जो मनरूप उन्मत्त गजेंद्र है उसके परावर्तन (लौटाना) में यह-नादरूप जो तीक्ष्ण अंकुश है वही समर्थ है-इन श्लोकोंसे इंद्रियोंका विषयोंसे वह .प्रत्याहार कहाहै जो इस श्लोकमें कहाहै कि विषयोंमें क्रमसे चरते हुये जो नेत्र आदि इंद्रिय है उनकी जो विषयोंसे निवृत्ति उसको प्रत्याहार कहतेहैं ॥ ९१ ॥

बद्धं तु नादबंधेन मनः संत्यक्तचापलम् ॥
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥ ९२ ॥

बद्धं त्विति ॥ नाद एव बंधः बध्यतेऽनेनेति बंधः बंधनसाधनं तेन स्वशक्त्या स्वाधीनकरणेन बद्धं बंधनमिवं प्राप्तम् । नादधारणाद्वाऽऽसक्तमित्यर्थः । अत एव सम्यक् त्यक्तं चापलं क्षणेक्षणे विषयग्रहणपरित्यागरूप येन तत्तथा मनः सुतरां स्थैर्यं प्रयाति नितरां धारणमेति तत्र दृष्टांतमाह-छिन्नौ पक्षौ यस्य तादृशः खे गच्छतीति खगः पक्षी यथा । एतेन- 'प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेंद्रियम् । वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थैर्यं शुभाश्रये ॥' शुभाश्रये चित्तस्थापनं धारणे युक्तलक्षणा धारणा प्रोक्ता ॥ ९२ ॥

भावार्थ-नादरूप जो बंधनका साधन है उससे अपनी शक्तिके अनुसार बंधनको प्राप्त हुआ मन अर्थात् नादकी धारणा आदिमें आसक्त हुआ चित्त और इसीसे भलीप्रकार त्याग-दीहै तथा २ में विषयोंका ग्रहणरूप चपलता जिसने ऐसा मन निरन्तर स्थिरताको प्राप्त होताहै अर्थात् धारणाको प्राप्त इस प्रकार होताहै जैसे छेदन किये हैं पक्ष जिसके ऐसा पक्षी होजाताहै इस श्लोकसे शुभ आश्रयमें चित्तका स्थापनरूप उस धारणाको कहाहै जो इस वचनमें कहीहै कि प्राणायामसे पवनको और प्रत्याहारसे इंद्रियोंको वशमें करके शुभाश्रय (ब्रह्मरंध्र) में चित्तकी स्थिरताको करै ॥ ९२ ॥

सर्वचिंतां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ॥
नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥९३॥

सर्वचिंतामिति ॥ सर्वेषां बाह्याभ्यंतरविषयाणां या चिंता चिंतनं तां परित्यज्य त्यक्त्वा सावधानेनैकाग्रेण चेतसा योगानां साम्राज्य साम्राजो भावः । योगशब्दोऽर्शाद्यजंतः । राजयोगित्वमिति यावत् । इच्छता वांछता पुंसा नाद एवानाहतध्वनिरेवानुसंधेयोऽनुचिंतनीयः । नादाकारवृत्तिप्रवाहः कर्तव्य इत्यर्थः । एतेन 'तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्य-संततिश्चान्यनिस्पृहा । तद्ध्यानं प्रथमैरंगैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥' तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानमित्युक्तलक्षणं ध्यानमुक्तम् ॥ ९३ ॥

भावार्थ-बाह्य और भीतरके जो संपूर्ण विषय हैं उनकी चिंताको त्यागकर सावधान (एकाग्र) चित्तसे राजयोगका अभिलाषी योगी नादकाही अनुसंधान करै अर्थात् नादाकार वृत्तिका प्रवाह करै इससे वह चित्तकी प्रत्ययैकतानतारूप ध्यान कहा जो इस वचनमें कहाहै कि ब्रह्मरूप प्रत्यककी जो एकाग्र (एकरस) सन्तति और अन्य विषयोंकी निःस्पृहा वह ध्यान है नृप! छः प्रथम अंगोंसे प्राप्त होताहै अर्थात् उसकी प्राप्तिके छः अंग-कारणहैं ॥ ९३ ॥

नादोंतरंगसारंगबंधने वागुरायते ॥
अंतरंगकुरंगस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥९४॥

नादोंऽतरंगेति ॥ नादः अंतरंगं मन एव सारंगो मृगस्तस्य बंधने चांचल्यहरणे वागुरायते वागुरेवाचरति वागुरा जालम् । यथा वागुरा-बंधनेन सारंगस्य चांचल्यं हरति तथा नादोंऽतरंगस्य स्वशक्त्या-चांचल्यं हरतीत्यर्थः । अंतरंगं मन एव सारंगो हरिणस्तस्य बंधने नानावृत्त्युत्पादनापनयनमेव मनसो बंधस्तस्मिन् व्याधायते व्याध इवाचरति । यथा व्याधो वागुराबद्धं मृगं हंति एवं नादोऽपि स्वासक्तं मनो हंतीत्यर्थः ॥ ९४ ॥

भाषार्थ-नाद अंतरंग (मन) जो सारंग मृग उसके बंधन (चंचलताका हरण) में वागुरा (मृगबंधनमें जाल) के समान है अर्थात् जैसे वागुराके बंधनसे मृगकी चंचलता हरी जाती है इसीप्रकार नादभी मनकी चंचलताको अपनी शक्तिसे हरताहै और नादही अंतरंग (मन) हरिणके बंधनमें व्याधके समान है अर्थात् जैसे व्याध वागुरामें बन्धेहुये मृगको हरताहै इसीप्रकार अपनेमें आसक्त हुये मनको नादभी हरताहै अर्थात् नानावृत्ति जो मनमें उत्पन्न होतीहैं उनको दूर करताहै ॥ ९४ ॥

अंतरंगस्य यमिनो वाजिनः परिघायते ॥
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ॥९५॥

अंतरंगस्येति यमिनो योगिनोऽतरंगं मनस्तस्य चपलत्वाद्वाजिनोऽश्वस्य परिघायते वाजिशालाद्वारपरिघ इवाचरति नाद इति शेषः । यथा वाजिशालापरिघो वाजिनोऽन्यत्र गतिं रुणद्धि तथा नादोऽतरंगस्येत्यर्थः । अतः कारणाद्योगिना नादस्योपास्तिरुपासना नित्यं प्रत्यहमवधार्यावधारणीया । हीति निश्चयेऽव्ययम् ॥ ९५ ॥

भाषार्थ-और योगीजनका जो अतरंग (मन) रूप वाजी है उसके परिघ अर्थात् घुडशालाके द्वारमें अवरोधक लोहदंडके समान नाद है निदान जैसे वाजिशालाका परिघ वाजीकी अन्यत्र गतिको रोकताहै इसीप्रकार नादभी मनकी अन्यत्र विषयादिकोंमें जो गति है उसको रोकैहै इस कारणसे योगीजन निश्चल करके नादकी उपासनाका निश्चय करै ॥ ९५ ॥

बद्धं विमुक्तचांचल्यं नादगंधकजारणात् ॥
मनः पादमाप्नोति निरालंबाख्यखेऽटनम् ॥ ९६ ॥

बद्धमिति ॥ नाद एव गंधक उपधातुविशेषस्तेन जारणं जारणीकरणं नादगंधकसंबंधेन चांचल्यहरणं तस्माद्बद्धं नादैकासक्तम् । पक्षे गुटिकाकृतिं प्राप्तम् अत एव विमुक्तं त्यक्तं चांचल्यमनेकविषयाकारपरिणामरूपं येन । पक्षे विमुक्तलौल्यं मनःपारदं मन एव पारदं चंचलं निरालंबं ब्रह्म तदेवाख्या यस्य तन्निरालंबाख्यं तदेव खमपरिच्छिन्नत्वात्तस्मिन्नटनं गमनं तदाकारवृत्तिप्रवाहम् । पक्षे आकाशगमनं प्राप्नोति । यथा बद्धं पारदमाकाशगमनं करोति । एवं बद्धं मना ब्रह्माकारवृत्तिप्रवाहमविच्छिन्नं करोतीत्यर्थः ॥ ९६ ॥

भाषार्थ-नादरूप जो गंधक उससे जारण (भस्म) करनेसे अर्थात् नाद गधंकके संयोगसे चंचलताके हरनेसे बद्ध (एकनादमेंही आसक्त) और पाराके पक्षमें गुटिकारूप हुआ समझना और जारणसेही त्यागदिया है विषयाकार परिणामरूप चांचल्य जिसने

और पाराके पक्षमें त्यागदी है स्वाभाविक चंचलता जिसने वह समझना ऐसा मनरूप पारद (चंचलरूप) निरालंब नामके आकाशरूप अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें गमनको अर्थात् ब्रह्माकार वृत्तिके प्रवाहको प्राप्त होता है और पाराके पक्षमें आकाशगमनको प्राप्त होना समझना तात्पर्य यह है कि, इसप्रकार बंधाहुआ मन निरवच्छिन्न (एकरस) ब्रह्माकार वृत्तिके प्रवाहको करता है ॥ ९६ ॥

नादश्रवणतः क्षिप्रमंतरंगभुजंगमः ॥
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति ॥ ९७ ॥

नादेति ॥ नादस्यानाहतस्वनस्य श्रवणतः श्रवणात् क्षिप्रं द्रुतमंतरंगं मन एव भुजंगमः सर्पश्चपलत्वान्नादप्रियत्वाच्च भुजंगमरूपत्वं मनसः सर्वं विश्वं विस्मृत्य विस्मृतिविषयं कृत्वैकाग्रो नादाकारवृत्तिप्रवाहवान् सन्कुत्रापि विषयांतरे नहि धावति नैव धावनं करोति । ध्यानोत्तरैः श्लोकैः । 'तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्। मनसा ध्याननिष्पाद्यःसमाधिः सोऽभिधीयते॥' इति विष्णुपुराणोक्तलक्षणेन 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' इति पातंजलसूत्रोक्तलक्षणेन च संप्रज्ञातलक्षणः समाधिरुक्तः ॥ ९७ ॥

भाषार्थ-अनाहत शब्दरूप नादके श्रवणसे शीघ्रही मनरूप भुजंगम (सर्प) यहां चपल और नादप्रिय होनेसे मनको भुजंगम समझना संपूर्ण विश्वका विस्मरण करके एकाग्र हुआ अर्थात् नादाकारवृत्तिप्रवाही होकर किसी विषयमें नहीं दौडता है ध्यानसे पीछे कहेहुये श्लोकोंसे इस विष्णुपुराणके वचन और इस पातंजल सूत्रमें क्रमसे कहीहुई समाधि और संप्रज्ञात समाधि कही है कि, उसकाही कल्पनाहीन जो स्वरूपका ग्रहण मनसे है वही ध्यानसे उत्पन्न होता है और उसकोही समाधि कहते हैं उस आत्माकाही जो अर्थमात्र निर्भास स्वरूप शून्यके समान है उसको संप्रज्ञात समाधि कहते हैं ॥ ९७ ॥

काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ॥
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥ ९८ ॥

काष्ठ इति॥काष्ठे दारुणि प्रवर्तितः प्रज्वालितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ज्वालारूपं परित्यज्य तन्मात्ररूपेणावतिष्ठते यथा तथा नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते । राजसतामसवृत्तिनाशात्सत्त्वमात्रावशेषं संस्कारशेषं च भवति । तत्र च मैत्रायणीयमंत्रः । 'यथा निरिंधनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति' इति९८।

भाषार्थ-काष्ठमें प्रवृत्त की अर्थात् जलाईहुई अग्नि ज्वालारूपको त्यागकर जैसे काष्ठके संग शांत होजाती है अर्थात् काष्ठरूप रहजाती है तिसीप्रकार नादमें प्रवृत्त किया चित्त

नादके संग लीन होजाता है अर्थात् रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियोंके नाशसे सत्तामात्र वा संस्कारमात्र शेष रहजाताहै इसमें मैत्रायणीय शाखाका यह मंत्र प्रमाण है कि जैसे इंधनरहित अग्नि अपने योनिरूप काष्ठमें शांत होता है इसीप्रकार वृत्तियोंके क्षयसे चित्तभी अपनी योनि (ब्रह्म) में शांत होजाता है ॥ ९८ ॥

घंटादिनादसक्तस्तब्धांतःकरणहरिणस्य ॥
प्रहरणमपि सुकरं शरसंधानप्रवीणश्चेत् ॥ ९९ ॥

घंटादीति ॥ घंटा आदिर्येषां शंखमर्दलझर्झरदुदुंभिजीमूतादीनां ते घंटादयस्तेषां नादस्तेषु सक्तः । अत एव स्तब्धो निश्चलो योऽतःकरणमेव हरिणो मृगस्तस्य प्रहरणं नानावृत्तिप्रतिबंधनमंतःकरणपक्षे । हरिणपक्षे तु प्रहरणं हननमपि शरवद्द्रुतगामिनो वायोः संधानसुषुम्नामार्गेण ब्रह्मरंध्रे निरोधनपक्षे शरस्य बाणस्य संधानं धनुषि योजनं तस्मिन् प्रवीणः कुशलश्चेत्सुकरं सुखेन कर्तुं शक्यम् ॥ ९९ ॥

भाषार्थ–घंटा आदि जिनके ऐसे जो शंख मर्दल, झर्झर, दुंदुभी आदिके नाद हैं उनमें आसक्त और निश्चल जो अन्तःकरणरूप मृग उसका प्रहार करनाभी सुकर है यदि बाणके संधानमें मनुष्य प्रवीण हो यहां अन्तःकरणका प्रहार नाना वृत्तियोंका प्रतिबन्धरूप लेना और हरिणपक्षमें हनन लेना और बाणका सन्धानभी बाणके समान शीघ्रगामी जो वायु उसका सुषुम्नामार्गसे ब्रह्मरंध्रमें प्रवेश करलेना और हरिणपक्षमें धनुषपर बाणका योजन (लगाना) लेना ॥ ९९ ॥

अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ॥
ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यांतर्गतं मनः ॥
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०० ॥

अनाहतस्येति ॥ अनाहतस्य शब्दस्यानाहतस्वनस्य यो ध्वनिर्निर्ह्राद उपलभ्यते श्रूयते तस्य ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्योतिःस्वप्रकाशचैतन्यं ज्ञेयस्यांतर्गतं ज्ञेयाकारतामापन्नं मनोऽतःकरणं तत्र ज्ञेये मनो विलयं याति परवैराग्येण सकलवृत्तिशून्यं संस्कारशेषं भवति।तद्विष्णोर्विभोरात्मनः परममंतःकरणवृत्त्युपाधिराहित्यान्निरुपाधिकं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं स्वरूपम् ॥ १०० ॥

भाषार्थ--अनाहत अर्थात् विना ताडनाके उत्पन्न जो शब्द उसकी जो ध्वनि प्रतीत होती है. उसध्वनिके अन्तर्गतही ज्ञेयरूप प्रकाशमान चैतन्य है और उस ज्ञेयके अन्तर्गत अन्तःकरणरूप मन है और उस ज्ञेयमेंही मन विलयको प्राप्त होताहै अर्थात् परमवैराग्यसे

संपूर्ण वृत्तियोंसे शून्य होकर संस्कारमात्र शेष रहजाताहै और वही विभु (व्यापक) आत्माका परमपद है अर्थात् योगीजनोंकी प्राप्तिके योग्य अन्तःकरणकी वृत्तिरूप उपाधिसे रहित आत्मारूप है ॥ १०० ॥

तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ॥
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥ १०१ ॥

तावदिति ॥ यावच्छब्दोऽनाहतध्वनिः प्रवर्तते श्रूयते तावदाकाशस्य सम्यक्कल्पनं भवति। शब्दस्याकाशगुणत्वाद्गुणिनोरभेदाद्वा मनसा सह शब्दस्य विलयान्निःशब्दं शब्दरहितं यत्परं ब्रह्म परब्रह्मशब्दवाच्यं परमात्मेति गीयते परमात्मशब्देन स उच्यते। सर्ववृत्तिविलये यः स्वरूपेणावस्थितः स एव परब्रह्मपरमात्मशब्दाभ्यामुच्यत इति भावः ॥ १०१ ॥

भावार्थ-जितने अनाहत ध्वनिरूप शब्द सुनेजातेहैं उतनीही आकाशकी भलीप्रकार कल्पना होती है क्योंकि शब्द आकाशरूप है और गुणगुणीका अभेद है और मन सहित जब शब्दका विलय होजाताहै तब शब्दरहित जो परब्रह्महै वही परमात्म शब्दसे कहाजाताहै अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका लय होनेपर जो स्वरूपसे स्थित है वही परब्रह्म परमात्मास्वरूप है ॥ १०१ ॥

यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ॥
यस्तत्त्वांतो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥ १०२ ॥

यत्किंचिदिति ॥ नादरूपेणानाहतध्वनिरूपेण यत्किंचिच्छ्रूयते आकर्ण्यते सा शक्तिरेव यस्तत्त्वान्तस्तत्त्वानामंतो लयो यस्मिन् सः तथा निराकार आकाररहितः स एव परमेश्वरः सर्ववृत्तिक्षये स्वरूपावस्थितो यः स आत्मेत्यर्थः। काष्ठे प्रवर्तितो वह्निरित्यादिभिः श्लोकैः राजयोगापरपर्यायोऽसंप्रज्ञातः समाधिरुक्तः ॥ १०२ ॥

भावार्थ-जो कुछ नादरूपसे सुनाजाता है वह शक्तिही है और जिसमें तत्त्वोंका लय होताहै वह निराकार परमेश्वरहै अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका क्षय होनेपर जो स्वरूपावस्थित है वही आत्माहै-इन पूर्वोक्त पांचश्लोकोंसे राजयोग नामकी असंप्रज्ञातसमाधि कहीहै ॥१०२॥

सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये ॥
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवंचकः ॥ १०३ ॥

सर्वे इति ॥ हठश्च लयश्च हठलयौ तयोरुपाया हठलयोपाया हठोपाया आसनकुंभकमुद्रारूपा लयोपाया नादानुसंधानशांभवीमुद्रादयः।

राजयोगस्य मनसः सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणस्य सिद्धये निष्पत्तये प्रोक्ता इति शेषः।राजयोगसमारूढः सम्यगारूढः प्राप्तवान् यः पुरुषः स कालवंचकः कालं मृत्यु वंचयति जयतीति तादृशः स्यादिति शेषः ॥ १०३॥

भाषार्थ-हठ और लयके जो संपूर्ण उपाय हैं अर्थात् आसन कुंभक मुद्रा आदि हठके उपाय और नादानुसंधान शांभवीमुद्रा आदि-लयके उपाय हैं वे संपूर्ण मनकी सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोधरूप जो राजयोग उसकी सिद्धिके लियेही कहे हैं और उस राजयोगमें भलीप्रकार आरूढ (प्राप्त) जो पुरुष है वह कालका वंचक अर्थात् मृत्युका जीतनेवाला होजाताहै ॥ १०३ ॥

तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः ॥
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ॥ १०४ ॥

तत्त्वमिति ॥ तत्त्वं चित्तं बीजं बीजवदुन्मन्यवस्थांकुराकारेण परिणममानत्वात् । हठः प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामः क्षेत्रं इव प्राणायामे उन्मनी कल्पलतिकोत्पत्तेरौदासीन्यं परवैराग्यं जलं तस्या उत्पत्तिकारणत्वात् । परवैराग्यहेतुकः संस्कारविशेषश्चित्तस्यसंप्रज्ञात इति तल्लक्षणात् । एतैस्त्रिभिरुन्मन्यसंप्रज्ञातावस्था सैव कल्पलतिका सकलेष्टसाधनत्वात्सद्यएव शीघ्रमेव प्रवर्तते प्रवृत्ता भवति उत्पन्ना भवति ॥ १०४ ॥

भाषार्थ-तत्त्व (चित्त) ही बीज है. क्योंकि चित्तही उन्मनी अवस्थारूप जो अंकुर है उसके आकारसे परिणामको प्राप्त होताहै और प्राण अपानकी एकतारूप जो हठ है- वही क्षेत्रहै क्योंकि क्षेत्रके समान प्राणायाममेंही उन्मनीरूप कल्पलता उत्पन्न होती है और उदासीनता (परम वैराग्य) जलहै क्योंकि उदासीनताही उन्मनी कल्पलताकी उत्पत्तिका कारण है क्यों कि, असंप्रज्ञात समाधिका यह लक्षण कहा है कि, परम वैराग्यका हेतु जो चित्तका संस्कारविशेष है वही असंप्रज्ञात समाधि है-इन बीज, क्षेत्र, जल रूप पूर्वोक्त तीनोंसे असंप्रज्ञात अवस्थारूप उन्मनी कल्पलता शीघ्रही उत्पन्न होजाती है-संपूर्ण इष्टकी साधक होनेसे उन्मनीको कल्पलता कहते हैं ॥ १०४ ॥

सदा नादानुसंधानात्क्षीयंते पापसंचयाः ॥
निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥ १०५ ॥

सदेति ॥ सदा सर्वदा नादानुसंधानान्नादानुचिंतनात्पापसंचयाः पापसमूहाः क्षीयंते नश्यंति निरंजने निर्गुणे चैतन्ये निश्चितं ध्रुवं चित्तमारुतौ मनःप्राणौ विलीयेते विलीनौ भवतः ॥ १०५ ॥

भावार्थ-सदैव नादके अनुसन्धानसे पापोंके समूह क्षीण होते हैं और निर्गुण चैतन्यमें चित्त और पवन ये दोनों अवश्य लीन होजाते हैं अर्थात् मन और प्राण इन दोनोंका ब्रह्ममें लय होजाताहै ॥ १०५ ॥

शंखदुंदुभिनादं च न शृणोति कदाचन ॥
काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ॥ १०६ ॥

उन्मन्यवस्थां प्राप्तस्य योगिनः स्थितिमाहाष्टभिः-शंखदुंदुभीति ॥ शंखो जलजो दुंदुभिर्वाद्यविशेषस्तयोर्नादं घोषं कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये न शृणोति । शंखदुंदुभीत्युपलक्षणं नादमात्रस्य । उन्मन्यवस्थया देहो ध्रुवं काष्ठवज्जायते । निश्चेष्टत्वादित्यर्थः ॥ १०६ ॥

भावार्थ-अब आठश्लोकोंसे उन्मनीअवस्थाको प्राप्त जो योगी है उसकी स्थितिका वर्णन करतेहैं कि, वह योगी शंख-दुंदुभी-इनके शब्दको कदाचित्भी नहीं सुनता है यहां शंख दुंदुभी-शब्दमात्रके उपलक्षक हैं-और उन्मनी अवस्थासे देह काष्ठके समान चेष्टारहित होजाता है ॥ १०६ ॥

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिंताविवर्जितः ॥
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥ १०७ ॥

सर्वेति ॥ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणलक्षणः पंच व्युत्थानावस्थास्ताभिर्विशेषेण मुक्तो रहितः सर्वा याश्चिताः स्मृतयस्ताभिर्विवर्जितो विरहितो यः योगः सकलवृत्तिनिरोधोऽस्यास्तीति योगी तुर्यावस्थावान् स मुक्तो जीवन्नेव मुक्तः । सकलवृत्तिनिरोधे आत्मनः स्वरूपावस्थानात् । तदुक्तं पातंजलसूत्रे-'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' इति । स्पष्टमन्यत् ॥ १०७ ॥

भावार्थ-और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, मरणरूप जो पांच व्युत्थानावस्था हैं उनसे विशेषकरके रहित होताहै और सम्पूर्ण चिंताओंसे विवर्जित जो योगी है अर्थात् सम्पूर्ण वृत्तियोंके निरोधरूप योगमें स्थित है वह जीवन्मुक्त है इसमें संशय नहीं है-क्योंकि सम्पूर्ण वृत्तियोंके निरोधमें आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित होजाताहै सोई पातंजल सूत्रमें कहाहै कि, उस समय द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित होताहै ॥ १०७ ॥

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ॥
साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥ १०८

खाद्यत इति ॥ समाधिना युक्तो योगी कालेन मृत्युना न खाद्यते न भक्ष्यते न हन्यत इत्यर्थः । कर्मणा कृतेन शुभेनाशुभेन वा न बाध्यते

जन्ममरणादिं जनने न क्लिश्यते । तथा च समाधिप्रकरणे पातंजलसूत्रम् । 'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः' इति । केनापि पुरुषांतरेण यंत्रमंत्रादिना वा न साध्यते साधयितुं शक्यते ॥ १०८ ॥

भाषार्थ—समाधिसे युक्त योगीको मृत्युभी भक्षण नहीं करता है और शुभ अशुभ रूप कियेहुये कर्मोंसे जन्म मरण आदि क्लेशभी नहीं होतेहैं और न वह योगी किसी उपायसे साध्य हो कताहै अर्थात् कोई पुरुष यंत्र मंत्र आदिसे साध नहीं सकता—सोई समाधिप्रकरणमें पतंजलिका सूत्र है कि, उस समाधिके समय क्लेशकी निवृत्ति होतीहै ॥ १०८ ॥

न गंधं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ॥
नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ॥ १०९ ॥

न गंधमिति ॥ समाधिना युक्तो योगी गंधं सुरभिमसुरभिं वा न रसं मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदात् षड्विधं न रूपं शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रभेदात्सप्तविधं न स्पर्शं शीतमुष्णमनुष्णाशीतं वा न निःस्वनं शंखदुंदुभिजलधिजीमूतादिनिनादं बाह्यमाभ्यंतरं वा न आत्मानं देहं न परं पुरुषांतरं वेत्तीति सर्वत्रान्वेति । 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे, परमात्मनि' इत्यमरः ॥ १७९ ॥

भाषार्थ—समाधिसे युक्त योगी सुरभि, असुरभिरूप गंध और मधुर, आम्ल, लवण, कटुक, कषाय तिक्तरूप छः प्रकारका रस और शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, चित्ररूप सातप्रकारका रूप और शीत, उष्ण, अनुष्णाशीतरूप, तीनप्रकारका स्पर्श और शंख, दुंदुभी, समुद्र, मेघ इनका बाह्य शब्द; और नादरूप भीतरका शब्द और अपना देह अन्य अन्य पुरुष इन पूर्वोक्त गंध आदिको नहीं जानताहै ॥ १०९ ॥

चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत्स्मृतिविस्मृतिवर्जितम् ॥
न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः ॥ ११० ॥

चित्तमिति ॥ यस्य योगिनश्चित्तमंतःकरणं न सुप्तम् । आवरकस्य तमसोऽभावात्त्रिगुणेऽतःकरणे यदा सत्त्वरजसी अभिभूय समस्तकरणावरकं तम आविर्भवति तदांतःकरणस्य विषयाकारपरिणामाभावात्तत्सुप्तमित्युच्यते।नो जाग्रत् इंद्रियैरर्थग्रहणाभावात्।स्मृतिश्च विस्मृतिश्च स्मृतिविस्मृती ताभ्यां वर्जितम् । वृत्तिसामान्याभावादुद्बोधकाभावाच्च स्मृतिवर्जितम् । स्मृत्यनुकूलसंस्काराभावाद्विस्मृतिवर्जितम् । न चास्तं नाशमेति प्राप्नोति । संस्कारशेषस्य चित्तस्य सत्त्वात् । नोदेत्युद्भवति वृत्त्यनुत्पादनात् । सोऽसौ मुक्त एव जीवन्मुक्त एव ॥ ११० ॥

भावार्थ-जिस योगीका चित्त आच्छादक तमोगुणके अभावसे सोवता न हो क्योंकि त्रिगुण अन्तःकरणमें जिस समय सत्त्वगुण और रजोगुणका तिरस्कार करके सब इंद्रियोंका आच्छादक तमोगुण अधिक होताहै उससमय अन्तःकरणका विषयाकाररूप परिणाम न होनेसे सुप्त अवस्था (शयन) कहाती है और इंद्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होनेसे योगीको जाग्रत्भी न हो, और स्मरण विस्मरणसे वर्जित हो अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंके और उद्बोधकके अभावसे स्मृतिरहित हो और स्मृतिका जनक जो संस्कार उसके अभावसे विस्मृतिसे रहित हो और संस्कारशेष चित्तके होनेसे नाशकोभी प्राप्त न हो और वृत्तियोंकी उत्पत्तिके अभावसे उदय (उत्पन्न) भी न होताहो वहभी योगी मुक्तही है ॥ ११० ॥

न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ॥
न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना ॥ १११ ॥

न विजानातीति ॥ समाधिना युक्तो योगी शीतं च उष्णं च शीतोष्णम् । समाहारद्वंद्वः । शीतमुष्णं वा पदार्थं न दुःखं दुःखजनकं परकृतं ताडनादिकं न सुखं सुखसाधनं सुरभिचंदनाद्यनुलेपनादिकम् । तथा चार्थे । मानं परकृतं सत्कारं न अपमानमनादरं च न विजानातीति क्रियापदं प्रतिवाक्यमन्वेति ॥ १११ ॥

भावार्थ-समाधिसे युक्त योगी शीत, उष्ण पदार्थको और ताडना आदि दुःखको और सुरभि चंदनआदिके लेपनरूप सुखको और मान अपमानको अर्थात् दूसरेके किये सत्कार और अनादरको नहीं जानताहै ॥ १११ ॥

स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते ॥
निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ॥ ११२ ॥

स्वस्थ इति ॥ स्वस्थः प्रसन्नेंद्रियांतःकरणः । एतेन तंद्रामूर्च्छादिव्यावृत्तिः । जाग्रदवस्थायामित्यनेन स्वप्नसुषुप्त्योर्निवृत्तिः । सुप्तवत् सुप्तेन तुल्यं कार्येंद्रियव्यापारशून्यो यो योगी अवतिष्ठते स्थितो भवति । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । निश्वासोच्छ्वासहीनः बाह्यवायोः कोष्ठे ग्रहणं निश्वासः कोष्ठस्थितस्य वायोर्बहिर्निःसारणमुच्छ्वासस्ताभ्यां हीनश्चावतिष्ठत इत्यत्रापि संबध्यते स निश्चितं निःसंदिग्धं मुक्त एव । जीवन्मुक्तस्वरूपमुक्तं दत्तात्रेयेण-'निर्गुणध्यानसंपन्नः समाधिं च ततोऽभ्यसेत् । दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् ॥ वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवेद्ध्रुवम् ॥' इति ॥ ११२ ॥

भावार्थ-जो योगी स्वस्थअवस्थामें अर्थात् इंद्रिय और अन्तःकरणकी प्रसन्नता स्थित होकर जाग्रत् अवस्थामेंभी देह और इंद्रियोंके व्यापारसे शून्य सुप्तके समान और बाहिरकी

वायुका देहमें ग्रहणरूप निःश्वास और देहमें स्थित वायुका बाहिर निकासनेरूप उच्छ्वास इन दोनोंसे रहित होकर निश्चल टिकताहै वह योगी निश्चयसे मुक्तही है और दत्तात्रेयने जीवन्मुक्तका रूप यह कहा है कि, निर्गुणके ध्यानमें संपन्न मनुष्य समाधिका अभ्यास करें फिर बारह दिनसेही समाधिको प्राप्त होताहै और बुद्धिमान् मनुष्य वायुको रोककर निश्चयसे जीवन्मुक्त होताहै ॥ ११२ ॥

अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ॥
अग्राह्यो मंत्रयंत्राणां योगी युक्तः समाधिना॥११३॥

अवध्य इति । समाधिना युक्तो योगी । सर्वशस्त्राणामिति संबंधसामान्ये षष्ठी । सर्वशस्त्रैरित्यर्थः । अवध्यो हंतुमशक्य इत्यर्थः । सर्वदेहिनामित्यत्रापि संबंधमात्रविवक्षायां षष्ठी । अशक्यः सर्वदेहिभिः बलेन शक्यो न भवतीत्यर्थः । मंत्रयंत्राणां वशीकरणमारणोच्चाटनादिफलैर्मंत्रयंत्रैरग्राह्यः वशीकर्तुमशक्यः । एवं प्राप्तयोगस्य योगिनो विघ्ना बहवः समायांति । तन्निवारणार्थं तज्ज्ञानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यंते । दत्तात्रेयः—'आलस्यं प्रथमो विघ्नो द्वितीयस्तु प्रकथ्यते । पूर्वोक्तधूर्तगोष्ठी च तृतीयो मंत्रसाधनम् ॥ चतुर्थो धातुवादः स्यादिति योगविदो विदुः' इति । मार्कंडेयपुराणे 'उपसर्गाः प्रवर्तंते दृष्टा ह्यात्मनि योगिनः । ये तांस्ते संप्रवक्ष्यामि समासेन निबोध मे ॥ काम्याः क्रियास्तथा कामान्मनुष्यो योऽभिवांछति । स्त्रियो दानफलं विद्यां मायां कुप्यं धनं वसु ॥ देवत्वममरेशत्वं रसायनवयः क्रियाम् । मेरुं प्रयतनं यज्ञं जलाग्न्यावेशनं तथा ॥ श्राद्धानां शक्तिदानानां फलानि नियमास्तथा । तथोपवासात्पूर्वाच्च देवपित्रर्चनादपि ॥ आतीथिभ्यश्च कर्मभ्य उपसृष्टोऽभिवांछति ॥ विघ्नमित्थं प्रवर्तंत यत्नाद्योगी निवर्तयेत्॥ ब्रह्मासंगि मनः कुर्वन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते ॥' इति । पद्मपुराणे—'यदैभिरंतरायैर्न क्षिप्यतेऽस्य हि मानसम् । तदाग्रे तमवाप्नोति परं ब्रह्मातिदुर्लभम् ।' योगभास्करे—'सात्त्विकीं धृतिमालंब्य योगी सत्त्वेन सुस्थिरः । निर्गुणं मनसा ध्यायन्नुपर्गैः प्रमुच्यते ॥ एवं योगमुपासीनः शक्रादिपदनिस्पृहः । सिद्ध्यादिवासना त्यागी जीवन्मुक्तो भवेन्मुनिः ॥ विस्तरस्य भिया नोक्ताः संति विघ्ना ह्यनेकशः । ध्यानेन विष्णुहरयोर्वारणीया हि योगिना' इति ॥ ११३ ॥

भाषार्थ—और समाधिसे युक्त योगी संपूर्णशस्त्रोंसे वध करनेके अयोग्य होता है और सब देहधारियोंको वश आदि करनेमें अशक्य है और वशीकरण, मारण, उच्चाटन हैं लक्ष जिनके ऐसे मंत्र यंत्रोंसेभी वशमें करने अयोग्य है इसप्रकारके योगीको अनेकप्रका-

रके जो विघ्न होते हैं उनको दिखाते हैं–दत्तात्रेयने कहाहै कि, पहिला विघ्न आलस्य और दूसरा धूर्तोंकी सभा और तीसरा मंत्रसाधन और चौथा धातुवाद ये योगके ज्ञाताओंने विघ्न कहे हैं और मार्कंडेयपुराणमें ये विघ्न कहे हैं कि, योगीकी आत्मामें देखनेसे जो विघ्न होते हैं उनको मैं तेरे प्रति संक्षेपसे कहताहूँ तू उनको सुन–कामनाकेलिये कर्म और कामनाओंकी जो मनुष्य वांछा करता है स्त्री, दानका फल, विद्या, माया, गुप्त और प्रकट धन, देव और इन्द्र होना और रसायनरूप देहकी क्रिया, मेरु, यत्न, यज्ञ, जल और अग्निमें प्रवेश, श्राद्ध और शक्तिसे दान, फल और नियम और उपवास वापीकूपतडागादि पूर्त, देव और पितरोंका पूजन, अतिथि और कर्म इनसे युक्त हुआ योगी जो कुछ वांछा करता है उसके योगमें विघ्न प्रवृत्त हो जाता है इससे योगी यत्नोंसे विघ्नको निवृत्त करै, ब्रह्ममें आसक्त मनको करताहुआ योगी विघ्नोंसे छूटता है और पद्मपुराणमें लिखा है कि, जब इन विघ्नोंसे जिस योगीके मनमें विक्षेप न हो वह अति दुर्लभ उस परब्रह्मको प्राप्त होताहै योगभास्करमें लिखा है कि, सात्त्विकी धीरताको करके सद्गुणसे भलीप्रकार स्थिर और मनसे निर्गुणका ध्यान करता हुआ योगी विघ्नोंसे अवश्य छूटताहै इसप्रकार योगका उपासक और इन्द्र आदिके पदकी इच्छासे रहित और सिद्धि आदिकोंकी वासनाका त्यागी मुनि जीवन्मुक्त होता है. विघ्न अनेक प्रकारके हैं परन्तु विस्तारके भयसे यहां नहीं कहे हैं और वे सब विघ्न विष्णु और शिवजीके ध्यानसे योगियोंको निवारण करने योग्य हैं ११३॥

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे
यावद्बिंदुर्न भवति दृढप्राणवातप्रबंधात् ॥
यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं ॥
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दंभमिथ्याप्रलापः ॥ ११४॥

इति श्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठयोगप्रदीपिकायां समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥

इति हठयोगप्रदीपिका समाप्ता ॥

अयोगिनां ज्ञानं निराकुर्वन्योगिनामेव ज्ञानं भवतीत्याह–यावदिति ॥ मध्यमार्गे सुषुम्नायां चरन् गच्छन् मारुतः प्राणवायुः यावत् यावत्कालपर्यंतं न प्रविशति प्रकर्षेण ब्रह्मरंध्रपर्यंतं न विशति ब्रह्मरंध्रं गतस्य स्थैर्याद्ब्रह्मरंध्रं गत्वा न स्थिरो भवतीत्यर्थः। सुषुम्नायामसंचरन् वायुरसिद्ध इत्युच्यते। तदुक्तममृतसिद्धौ–'यावद्धि मारुतो वायुर्निश्चलो नैव मध्यगः। असिद्धं

तं विजानीयाद्वायुं कर्मवशानुगम् ॥' इति। प्राणयति जीवयतीति प्राणः स चासौ वातश्च प्राणवातस्तस्य प्रबंधात्कुंभकेन स्थिरीकरणाद्विंदुर्वीर्यं दृढः स्थिरो न भवति प्राणवातस्थैर्ये विंदुस्थैर्यमुक्तमत्रैव प्राक् । मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो विंदुः स्थिरो भवेत् ।' इति । तदभावे त्वसिद्धत्वं योगिनः। उक्तममृतसिद्धौ—'तावद्बद्धोऽप्यसिद्धोऽसौ नरः सांसारिको मतः। यावद्भवति देहस्थो रसेंद्रो ब्रह्मरूपकः॥ असिद्धं तं विजानीयान्नरमब्रह्मचारिणम्। जरामरणसंकीर्णं सर्वक्लेशसमाश्रयम् ॥' इति। यावत्तत्त्वं चित्तं ध्याने ध्येयं चित्तं न सहजसदृशं स्वाभाविकध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो नैव जायते नैव भवति प्राणवातप्रबंधादिति देहलीदीपकन्यायेनात्रापि संबध्यते। वायुस्थैर्ये चित्तस्थैर्यमुक्तममृतसिद्धौ—'यदासौ म्रियते वायुर्मध्यमां मध्ययोगतः । तदा विंदुश्च चित्तं च म्रियते वायुना सह॥' तदभावेऽप्यसिद्धत्वमुक्तममृतसिद्धौ—'यावत्प्रस्यंदते चित्तं बाह्याभ्यंतरवस्तुषु। असिद्धं तद्विजानीयाच्चित्तं कर्मगुणान्वितम् ॥'इति। तावद्यज्ज्ञानं शाब्दं वदति कश्चित् तादृदं ज्ञानं कथं दंभमिथ्याप्रलापः दंभेन ज्ञानकथनेनाहं लोके पूज्यो भविष्यामीति धिया मिथ्याप्रलापो मिथ्याभाषणं दंभपूर्वकं मिथ्याभाषणमित्यर्थः। प्राणबिंदुचित्तानां जयाभावे ज्ञानस्याभावात्संसृतिर्दुर्वारा । तदुक्तममृतसिद्धौ-'चलत्येष यदा वायुस्तदा बिंदुश्चलःस्मृतः। बिंदुश्चलति यस्यांगे चित्तं तस्यैव चंचलम्॥चले बिंदौ चले चित्ते चले वायौ च सर्वदा ॥ जायते म्रियते लोकः सत्यं सत्यमिदं वचः॥' इति। योगबीजेऽप्युक्तम्—'चित्तं प्रनष्टं यदि भासते वै तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः। न वा यदि स्यान्न तु तस्य शास्त्रं नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः॥'इति।एतेन प्राणबिंदुमनसां जये तु ज्ञानद्वारा योगिनो मुक्तिःस्यादेवेति सूचितम्। तदुक्तममृतसिद्धौ—'यामवस्थां व्रजेद्वायुर्बिंदुस्तामधिगच्छति । यथाहि साध्यते वायुस्तथा बिंदुप्रसाधनम् ॥ मूर्च्छितो हरति व्याधिं बद्धः खेचरतां नयेत् । सर्वसिद्धिकरो लीनो। निश्चलो मुक्तिदायकः॥ यथावस्था भवेद्विंदोश्चित्तावस्था तथा तथा॥' ननु—'योगास्त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयोविधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित ॥' इति भगवदुक्तास्त्रयो

मोक्षोपायान्तरेषु सत्सु कथं योग एव मोक्षोपायत्वेनोक्त इति चेन्न । तेषां योगाङ्गेष्वंतर्भावात् । तथाहि—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुत्या परमपुरुषार्थसाधनात्मसाक्षात्कारहेतुतया श्रवणमनननिदिध्यासनान्युक्तानि तत्र श्रवणमनने नियमांतर्गते स्वाध्यायेऽन्तर्भवतः । स्वाध्यायश्च मोक्षशास्त्राणामध्ययनम् । स च तात्पर्यार्थनिश्चयपर्यवसायी ग्राह्यः । तात्पर्यार्थनिर्णयश्च श्रवणमननाभ्यां भवतीति श्रवणमननयोः स्वाध्यायेऽन्तर्भावः । नियमविवरणे याज्ञवल्क्येन—'सिद्धांतश्रवणं प्रोक्तं वेदांतश्रवणं बुधैः' इति स्पष्टमेव श्रवणस्य नियमांतर्गतिरुक्ता—'अधीतवेदं सूत्रं वा पुराणं सेतिहासकम् । पदेष्वध्ययनं यश्च सदाभ्यासो जपः स्मृतः ॥' इति युक्तिभिरनवरतमनुचिंतनलक्षणस्य सदाभ्यासरूपस्य मननस्यापि नियमांतर्गतिरुक्ता । विजातीयप्रत्ययनिरोधपूर्वकसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपस्य निदिध्यासनस्य उक्तलक्षणे ध्यानेऽन्तर्भावः । तस्यापि तत्तत्परिपाकरूपसमाधिनात्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वमीश्वरार्पणबुद्ध्या निष्कामकर्मानुष्ठानलक्षणस्य कर्मयोगस्य 'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' इति पंतजलिप्रोक्ते नियमांतर्गते क्रियायोगेऽन्तर्भावः तत्र तप उक्तमीश्वरगीतायाम्—'उपवासपराकादिकृच्छ्रचांद्रायणादिभिः । शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम् ॥' इति । स्वाध्यायोऽपि तत्रोक्तः—'वेदांतशतरुद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः । सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते ।' इति ॥ ईश्वरप्रणिधानं च तत्रोक्तम्—'स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः । सुनिश्चला भवे द्भक्तिरेतदीश्वरपूजनम् ॥' इति । क्रियायोगश्च परंपरया समाधिनात्मसाक्षात्कारद्वारैव मोक्षहेतुरिति समाधिभावनार्थः । क्लेशतनूकरणार्थश्चेत्युत्तरसूत्रेण स्पष्टीकृतं पतंजलिना । भजते सेव्यते भगवदाकारमंतःकरणं क्रियतेऽनयेति भक्तिरिति करणव्युत्पत्त्या 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् अर्चनं । वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ इति ॥ नवप्रोक्ता साधनभक्तिरभिधीयते । तस्या ईश्वरप्रणिधानरूपे नियमेऽन्तर्भावः । तस्याश्च समाधिहेतुत्वं चोक्तं पतंजलिना—'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इति । ईश्वरविषयकात्प्रणिधानाद्भक्तिविशेषात्समाधिलाभः समाधिफलं भवतीति सूत्रार्थः । भजनमंतःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या फलभूता भक्तिरभिधीयते । सैव प्रेमभक्तिरित्युच्यते

तल्लक्षणमुक्तं नारायणतीर्थैः-'प्रेमभक्तियोगस्तु ईश्वरचरणारविंदविषयकैकांतिकात्यंतिकप्रेमप्रवाहोऽविच्छिन्नः' इति । मधुसूदनसरस्वतीभिस्तु-'द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पकवृत्तिर्भक्तिः' इति । 'तस्यास्तु श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि' इति श्रुतेः । 'भक्त्या मामभिजानाति' इति स्मृतेश्च । आत्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वम् । भक्तास्तु सुखस्यैव पुरुषार्थत्वाद्दुःखासंभिन्नानिरतिशयसुखद्वारारूपा प्रेमभक्तिरेव पुरुषार्थ इत्याहुः । तस्यास्तु संप्रज्ञातसमाधावंतर्भावः । एवं च अष्टांगयोगातिरिक्तं किमपि परमपुरुषार्थसाधनं नास्तीति सिद्धम् ॥ ११४ ॥

ग्राह्यमेव विदुषां हितं यतो भाषणं समयदर्श्यसंस्कृतम् ।
रक्ष गच्छति पयो न लेहितं ह्यंब इत्यभिहितं शिशोर्यथा ॥ १ ॥
सदर्थद्योतनकरी तमःस्तोमविनाशिनी ॥
ब्रह्मानंदेन ज्योत्स्नेयं शिवांघ्रियुगुलेऽर्पिता ॥ २ ॥

इति श्रीहठयोगप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां समाधिनिरूपणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥

टीकाग्रंथसंख्या॥ २४५० ॥

भाषार्थ-अब अयोगियोंको ज्ञानका निराकरण करतेहुए योगियोंकोही ज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं कि, जबतक सुषुम्नाके मार्गमें वहताहुआ प्राणवायु ब्रह्मरंध्रमें प्रविष्ट होकर स्थिर नहीं होता, क्योंकि सुषुम्नामें नहीं वहते हुए प्राणवायुको असिद्ध कहतेहैं. सोई अमृतसिद्धिमें कहा कि, जबतक अपने मार्गसे वायु सुषुम्नामें प्राप्त होकर निश्चल न हो-कर्मवशके अनुयायी उस वायुको असिद्ध जानै और जीवनका आधाररूप जो प्राण उसके दृढबंधन अर्थात् कुम्भकसे दृढ करनेसे जबतक विंदु (वीर्य) स्थिर नहीं होताहै और प्राणवायुकी स्थिरतासे विंदुकी स्थिरता इसी ग्रंथमें कह आये हैं कि, मनकी स्थिरतासे वायु और वायुकी स्थिरतासे विंदुकी स्थिरता होतीहै वह न होय तो योगी असिद्ध होताहै सोई अमृतसिद्धिमें कहा है कि, तबतक बद्ध और असिद्ध यह सांसारिक जन मानाहै इतने रसेंद्र जो ब्रह्मरूप है वह देहमें स्थित हो अर्थात् अपने स्थानसे पतित होकर देहमें आजाय और ब्रह्मचर्यसे हीन उस मनुष्यको असिद्ध जानै और जरामरणसे युक्त और संपूर्ण क्लेशोंका आश्रय होताहै और जबतक चित्तरूप तत्त्वध्यानमें ध्येय चित्त नहीं होताहै अर्थात् स्वाभाविक ध्येयाकार जो वृत्तियोंका प्रवाह उससे सहज सदृश प्राणके बंधनसे नहीं होताहै और वायुकी स्थिरतासे चित्तकी स्थिरता अमृतसिद्धिमें कही है कि, जब यह वायु सुषुम्नाके योगसे प्रविष्ट होजाताहै तब विंदु और चित्त ये दोनों वायुके संग होकर मरजाते हैं और इसके अभावमें असिद्धताभी

अमृतसिद्धिमें कही है कि, इतने बाह्य और भीतरकी वस्तुमें चित्तका स्पंदन (चेष्टा) होताहै, कर्मके गुणोंसे युक्त उस चितको असिद्ध जानै तबतक सो यह ज्ञान दंभमिथ्या-प्रलाप होताहै अर्थात् मैं जगत्में पूज्य हूंगा इसप्रकार दंभपूर्वक ज्ञानके कथनसे बुद्धिसे मिथ्याभाषणही होताहै क्योंकि प्राण, बिन्दु, चित्त इनके जयके अभावसे ज्ञानका अभाव होताहै और उससे जन्ममरणरूप संसारकी निवृत्ति नहीं होसकती है सोई अमृतसिद्धिमें कहा है कि, जब यह प्राणवायु चलता है तब विंदुभी चल कहा है और जिसके अन्नमें विंदु चंचल है उसका चित्तभी चंचल होता है और विंदु, चित्त, वायु इन तीनोंके चंचल होनेपर संपूर्ण जगत् उत्पन्न होता है और मरता है, यह वचन सत्य है योगबीजमेंभी कहा है कि, यदि चित्त नष्ट हुआ भासै तो वहां वायुकाभी नाश प्रतीत होता है यदि चित्त वायुका नाश न होय तो उसको शास्त्रका ज्ञान और आत्माकी प्रतीति और गुरु और मोक्ष ये नहीं होते हैं-इससे यह सूचित किया कि-प्राण, विंदु, मन इन तीनोंके जयमें ज्ञानके द्वारा योगीकी मुक्ति होही जाती है-सोई अमृतसिद्धिमें कहा है कि, जिस अवस्थाको वायु प्राप्त होता है उसी अवस्थाको विंदुभी प्राप्त होजाता है और जिसप्रकार वायु साध्य किया जाता है उसी प्रकारसे विंदु साध्य किया जाता है और मूर्च्छित हुआ वायु व्याधि-योंको हरता है और बंधन किया वायु आकाशगतिको देता है और लयको प्राप्त हुआ निश्चल वायु संपूर्ण सिद्धियोंको करता है और मुक्तिको देता है और जैसी जैसी अवस्था विंदुकी होती है तैसी२ही अवस्था चित्तकी होती है-कदाचित् कोई शंका करै कि, मनुष्योंके कल्याण करनेकी इच्छासे ज्ञान कर्म भक्ति ये तीन योग मैने कहे हैं अन्य कोई उपाय किसी शास्त्रमें भी नहीं है इस भगवान्के वाक्यसे तीन 'मोक्षके उपाय हैं तो' योगही मोक्षका उपाय कैसे कहा ? सो ठीक नहीं,क्योंकि उनका योगके अंगोंमें अंतर्भाव है-सोई दिखाते हैं कि,आत्मा देखने, सुनने, मानने, निदिध्यासन करने योग्य है। इस श्रुतिसे परम पुरुषार्थका साधन जो आत्माका साक्षात्कार है उसके हेतु श्रवण, मनन, निदिध्यासन कहे हैं, उन तीनोंमें श्रवण मनन ये दोनों नियमके अंतर्गत होनेसे स्वाध्याय (पठन) में अंतर्गत होते हैं और मोक्षशास्त्रके अध्यनको स्वाध्याय कहते हैं और वह अध्ययनभी तात्पर्यार्थके निश्चयपर्यंत लेना वह तात्पर्यार्थके निर्णयका श्रवण मननसे होता है इससे श्रवण मननका स्वाध्यायमें अंतर्भाव है-और नियमोंके विवरणमें याज्ञवल्क्यने कहा है कि, बुद्धिमान् मनुष्योंने वेदां-तका श्रवण सिद्धांतश्रवण कहा है इससे स्पष्टही श्रवणका नियममें अंतर्भाव कहा है-और जिसने वेद पढा हो, सूत्र वा पुराण वा इतिहास पढे हों इनके अध्ययन और उत्तम अभ्यासको जप कहते हैं इस युक्तिसे निरंतर अनुचिंतन है लक्षण जिसका ऐसा जो उत्तम अभ्यास रूप मनन है उसकाभी नियममें अन्तर्भाव कहाहै--और विजातीय प्रती-तिके निरोधपूर्वक सजातीय प्रत्ययका प्रवाहरूप जो निदिध्यासन है उसकाभी पूर्वोक्त ध्यानमें अन्तर्भाव है. क्योंकि वहभी तिसके परिपाकरूप समाधिसे आत्मसाक्षात्कारके द्वारा मोक्षका हेतु है-और ईश्वरार्पण बुद्धिसे निष्काम कर्मका अनुष्ठानरूप जो कर्मयोग है उसका नियमके अंतर्गत इस पतंजलिके कहेहुए क्रियायोगमें अंतर्भाव है कि, तप, स्वाध्याय, ईश्वरका प्रणिधान (स्मरण) इनको क्रियायोग कहते हैं और वे तीनों ईश्वर-

गीतामें इन वचनोंसे कहे हैं कि, उपवास पराक और कृच्छ्चांद्रायण आदि व्रत इनसे जो शरीरका शोषण वही तपस्वियोंने उत्तम तप कहा है और मनुष्योंके अंतःकरणकी शुद्धिका कर्ता जो वेदान्त, शतरुद्रीय प्रणव आदिका जप है वही बुद्धिमान् मनुष्योंने स्वाध्याय कहा है और स्तुति, स्मरण, पूजा इनसे और वाणी मन काया कर्म इनसे जो भलीप्रकार निश्चल भक्ति वही ईश्वरपूजन कहाता है और क्रियायोग परंपरासे समाधिसे आत्म- साक्षात्कारके द्वाराही मोक्षका हेतु होनेसे समाधिकी भावनाकेलिये और क्लेशोंको दूर करनेकेलिये है. यह बात उत्तरसूत्रसे पतंजलिने स्पष्ट की है जिससे अंतःकरण भगवान्के आकार होजाय उसे भक्ति कहते हैं, इसकारण व्युत्पत्तिसे वह नौ ९ प्रकारकी साधनभक्ति कही वह इस श्लोकमें वर्णन की है कि विष्णुका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दासता, मित्रता और आत्माका निवेदन, यह नौ प्रकारकी भक्ति होती है और उस भक्तिका ईश्वरके प्रणिधानरूप नीयममें अंतर्भाव है और उस भक्तिकी हेतुता समाधिमें पतंजलिने इस सूत्रसे कही है कि, ईश्वरविषयक जो भक्तिविशेषरूपप्रणिधान उससे समाधिका लाभ (फल) होता है और अंतःकरणा भगवदाकारतारूप जो भजन उसे भक्ति कहते हैं. इस भावव्युत्पत्तिसे तो फलभूत भक्ति कही है उसकोही प्रेमभक्ति कहते हैं उसका लक्षण नारायणतीर्थोंने यह कहाहै कि, ईश्वरके चरणारविंदमें जो एकाग्र- तासे निरवच्छिन्न अत्यंत प्रमका प्रवाह उसको प्रेमभक्ति कहते हैं और मधुसूदनसरस्वति- योंने तो भक्तिका यह लक्षण कहा है कि, द्रव होकर मनकी जो भगवदाकाररूप सविक- ल्पवृत्ति उसको भक्ति कहते हैं वह भी आत्मासाक्षात्कारके द्वारा मोक्षका हेतु है क्योंकि इन श्रुति और स्मृतियोंमें यह लिखा है कि--श्रद्धा, भक्ति, ध्यान, योगसे आत्माको जानो और भक्तिसे मुझे जानता है और भक्त तो यह कहते हैं, कि, सुखही पुरुषार्थ है इससे दुःखसे असंभिन्न जो सर्वोत्तम सुखरूप प्रेमभक्ति है वही पुरुषार्थ है उस भक्तिका संप्रज्ञात समाधिमें अन्तर्भाव है--इससे यह सिद्ध भया कि, अष्टांगयोगसे भिन्न परम पुरुषार्थका कोईभी साधन नहीं है भावार्थ यह है कि, इतने गमन करते हुए प्राणवायु सुषुम्नाके मार्गमें प्रविष्ट न हों, और प्राणवायुके दृढबन्धनसे इतने विंदु स्थिर न हों और इतने चित्त ध्यानके विषय ध्येयकी तुल्य न हों तबतक ज्ञान दंभसे मिथ्याप्रलापरूप होता है ११४

इति श्रीस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां श्रीयुतपण्डित-- रामरत्नाञ्जलाँखग्रामनिवासिपण्डित-मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृत्तिसहितायां समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः समाप्तिमगात् ॥ श्रीरस्तु ॥

पुस्तक मिलनेका पता-खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-प्रेस बंबई.